हिन्दी गद्य के सोपान

[हिन्दी-गद्य साहित्य का ऐतिहासिक-सैद्धान्तिक मौलिक विवेचन]

लेखक
जीवन प्रकाश जोशी

प्रकाशक
सन्मार्ग प्रकाशन
दिल्ली ६

हिन्दी गद्य के सोपान

[हिन्दी-गद्य साहित्य का ऐतिहासिक-सैद्धान्तिक मौलिक विवेचन]

लेखक
जीवन प्रकाश जोशी

प्रकाशक
सन्मार्ग प्रकाशन
दिल्ली ६

प्रकाशक—
सन्मार्ग प्रकाशन
दिल्ली ६ ।

190161
809-H
577

प्रथम संस्करण अप्रैल १९६०
मूल्य : सात रुपये

मुद्रक:—
हरिहर प्रेस,
चावड़ी बाजार, दिल्ली ।

शिक्षा क्षेत्र के कुशल और समर्थ निर्देशक

आदरणीय

श्री विशम्भर दत्त जी भट्ट को

सादर

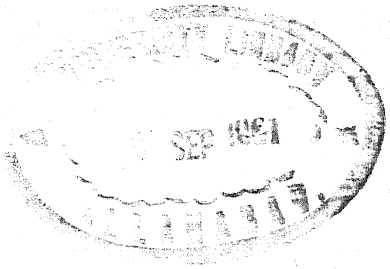

विषय-सूची

पृष्ठ

पहला अध्याय—(ऐतिहासिक विवेचन)

१. प्रवेश: हिन्दी गद्य की आदि परम्परा ११
२. हिन्दी गद्य का विकास क्रम व काल विभाजन १३
३. खड़ी बोली का परिचय २५
४. ईसाई प्रचार-प्रभाव व निराकरण ४०
५. भारतेन्दु युग ५६
६. संधि युग ७४
७. द्विवेदी युग ७४
८. वर्तमान या प्रगतिशील युग ९१
९. अन्य विकासशील विधाएँ १०२

दूसरा अध्याय—(सैद्धान्तिक विवेचन)

१. नाट्य-विवेचन १११
२. उपन्यास-विवेचन १३५
३. कहानी-विवेचन १५३
४. निबन्ध-विवेचन १६८
५. समालोचना-विवेचन १८३

तीसरा अध्याय (स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी: व्यक्तित्व और कृतित्व)

१. द्विवेदी जी का युग और व्यक्तित्व २०७
२. द्विवेदी जी का जीवन-वृत और चरित्र २११
३. द्विवेदी जी के संस्मरण: उनकी रचनाएँ २१९
४. द्विवेदी जी की भाषा विषयक गतिविधियाँ २२१
५. द्विवेदी जी का साहित्य २२६
६. सरस्वती सम्पादन और सेवा कार्य २३९

परिशिष्ठ २४१

पाठकों से

यह मेरी एक समालोचना की पुस्तक आपके हाथों में है। आप हिंदी समालोचना साहित्य के प्रिय पाठक हैं, इसलिये आपसे मैं यहाँ कुछ निवेदन करने की इच्छा अनुभव करता हूँ। वैसे तो हिंदी समालोचना-साहित्य मात्रा में बहुत है। और बराबर लिखा भी जा रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। किन्तु खेद यह है कि वह कुछ घूम-फिरकर ऐसा ही लगता है जैसे उसने पूरब पथ से होकर गंगा नहाई तो उसने पश्चिम पथ से होकर। समालोचना के नाम पर कल 'क' ने जो लिखा था वही शब्दों के हेर-फेर से आज 'ख' ने लिख दिया है। कोई मौलिक तथ्य नहीं, दृष्टि नहीं, दिशा नहीं, सूझ और मत नहीं। फलतः साहित्य के पल-पल परिवर्त्तित होते हुए मूल्यों और मानो से हमारी नई पीढ़ी की मनीषा परिचित नहीं हो पाती। इतना ही नहीं, वरन् वह वही दुहराती है जो कल की बात थी। इससे नई साहित्य सृष्टि और नई प्रतिभाओं का हमारे विचार से अहित ही अधिक होता होगा। दूसरी ओर प्राचीन काल से हमारे यहाँ की साहित्य परम्परा का असर जो आज की साहित्य सर्जना में संस्कारतः विद्यमान है, उसका कोई व्यवस्थित व्योरा भी किसी एक विषय की एक पुस्तक में मिले तो मिले। जैसे हिन्दी गद्य के इतिहास की परम्परा का सूत्रपात चूंकि कभी किसी ने लिख दिया होगा कि भारतेन्दु युग से हुआ है अतः हर गद्य विवेचन के नए से नए पी० एच० डी० तक के ग्रंथों में यही लिखा मिलेगा; जबकि सच्चाई यह है कि सम्पूर्ण गद्य-साहित्य की परम्परा की बात तो एक बड़ी बात है, हिंदी गद्य की परम्परा भी भारतेन्दु युग से बहुत पहले स्थापित हो चुकी थी। हमने यथाप्रयास "हिंदी गद्य के सोपान" अध्याय में कालानुक्रम से यह परम्परा देनी चाही है। असल में, आज समालोचना ऐसी है कि एक कुछ कहता है, दूसरा उसका ज़ोर-शोर से ऐलान करने लगता है। यह परिपाटी समालोचना के लिये घातक है। समालोचना में विषय की व्यवस्था का क्रम पूर्ण होना चाहिये और समालोचक को यह न भूलना चाहिये कि उसे कुछ भी लिखने से पहले अपने आलोच्य साहित्य के भीतर इतनी गहरी पैठ करनी है कि जिससे न तो उसके प्रति प्रतिपादित किन्हीं ठोस मतों का खण्डन हो और न यही कि वही मत हर नए-पुराने साहित्य विशेचन में रूढ़-रूप में फिर-फिर स्थापित होते जाँय। सही मार्ग यह कहा जायगा कि समालोचना करते हुए समालोचक को आलोच्य साहित्य के प्रति पूर्व स्थापित सही सिद्धान्तों को घटाते हुए भी जहाँ कुछ नया कहने को है, उसे

कहे। ठीक है, उसमें कहीं शैथिल्य भी आ सकता है, पर उसको पुष्ट करने के लिये उसे आगे क्षमता-उपार्जन की साधना करनी होगी। संस्कृत समालोचना साहित्य का आदर्श हमारे सामने है। भरतमुनि के रस सिद्धान्त सूत्र पर शंकुक और भट्टलोल्लट आदि आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से सोचा, उसकी व्याख्या की और अपने मत दिये। आगे रस सिद्धान्त की महत्ता के समक्ष अलंकार, ध्वनि, रीति एवं वक्रोक्ति आदि सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने मत और निर्णय सामने रक्खे। यद्यपि कालान्तर में उनका शैथिल्य भी सामने आया किंतु बड़ी बात यह हुई कि इस सब कुछ से समालोचना के नाम पर साहित्य के रूप-रस पर कुछ नया सोचने-विचारने और समझने का अवसर मिला। यह समालोचना की प्रगति की एक दिशा कही जायगी। कुछ पहले हिंदी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा मिश्रबन्धु आदि समालोचकों ने इस मार्ग पर चलकर अपनी समालोचनाएँ लिखीं भी। उदाहरण के लिये शुक्लजी की सूर, तुलसी, जायसी और साधारणकिरण विषयक समालोचनाएँ पढ़ी जा सकती हैं। वह कैसी भी हैं, किंतु उनमें कुछ मौलिक सूझ, पैठ-परख और नवीन मान स्थापित हैं। खेद है कि आगे चलकर यह क्रम मन्द पड़ गया जबकि हिंदी का नया साहित्य पूर्वकाल की अपेक्षा आज अपने रूप, शिल्प-विधान और विषयों में बड़ा वैविध्य लिये। उसे नए ढंग से परखना होगा तभी समालोचना स्वस्थ होगी।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से हमने इस पुस्तक के तीन अध्याय लिखे हैं। पहला अध्याय है '**हिन्दी गद्य के सोपान**', जिसके ऊपर पुस्तक का नामकरण किया गया है। इसमें पहले कालानुक्रम से हिंदी से पूर्व के संस्कृत अपभ्रंश, आदि के गद्य-साहित्य का यथासम्भव विवेचन किया गया है और उसी क्रम में हिंदी गद्य विकास के सोपान स्थापित किये गये हैं। इससे आगे हिंदी खड़ी-बोली गद्य की विवेचना से पूर्व हमने खड़ी-बोली हिंदी-उर्दू मुठभेड़, उसके महारथी, ईसाइयों के अप्रत्याशित संम्पर्क का उस पर प्रभाव आदि विषयों का संक्षिप्त ब्योरा दिया है। इसके पश्चात् कालानुक्रम से हिंदी गद्य एवं उसके अंगों—नाटक, कहानी, निबन्ध, उपन्यास, समालोचना और नई विधाओं, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोतार्ज आदि का एतिहासिक-इतिवृत्तात्मक विवरण-विवेचन दिया है। यह अध्याय मैंने एक योजना को ध्यान में रख कर आज से तीन वर्ष पहले लिखा था किन्तु अब सहसा उसके प्रकाशन का अवसर आगया अतः ज्यों-त्यों करके उसे प्रकाशनार्थ दे दिया है। इस अध्याय के अंतर्गत, और दूसरे अध्याय में भी, मैंने कुछ ऐसे साहित्य-साधकों का नामोल्लेख भी किया है जो प्रौढ़ नहीं हैं। उनका स्वर भी तथाकथित बलशालियों की भीड़ में दबा-घुटा है, किंतु जिनकी लेखनी में तेज धार है और जिनके मन-मस्तिष्क में साहित्य सृजन की ज्वाला भरी है। अपने इस ग्रन्थ में उनका इतस्ततः उल्लेख कर मैंने उन पर कोई अहसान नहीं किया वरन अपने कर्त्तव्य का पालन किया है।

इसका मुझे सुख है। इस संग में मुझे लिखना पड़ रहा है कि न जाने क्यों, समर्थ समालोचक इस नव अंकुरित पीढ़ी की चर्चा अपने मोटे-मोटे ग्रन्थों में नहीं करते, जब कि इन्हीं से भविष्य का साहित्य-क्षेत्र उर्वर होगा—इन्हीं में से शायद कोई तुलसी या प्रेमचंद बन जाय, कौन जाने ! मेरी भावना है कि सभी नए किंतु प्रतिभाशाली लेखकों को उचित प्रोत्साहन एवं विकास की दिशा मिलनी चाहिये। इसी में साहित्य का हित है। यदि समर्थ समालोचकगण इसे करना अपनी हीनता समझें तो समझें नई प्रतिभाओं को दोस्ती और दुश्मनी से परे, संगठित होकर यह कार्य उत्तम और उत्तरदाई ढंग से करना चाहिये। मैंने जहां कहीं, जो कुछ इस दृष्टि से इस ग्रन्थ में लिखा है उसमें मेरी आस्था का आग्रह विशेष रहा है। मैं मानता हूँ कि आस्था के बदले अगर ऊपर से अंगारे झरें तो वह भी पुष्प होंगे।

जैसा मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि ज्यों-त्यों करके यह अध्याय प्रकाशनार्थ दिया गया है, अतः यदि इसमें आपको कोई वांछित संशोधन-सम्बर्धन सूझे तो कृपा करके मुझे सुझाएँ। ताकि अगले संस्करण में कुछ और जोड़ा-घटाया जा सके।

दूसरे अध्याय में गद्य के अंगों का सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है। इस विषय पर लिखे श्री गुलाबराय जी का 'काव्य के रूप' स्व० श्याम सुन्दरदास जी का 'साहित्यालोचन' डा० सोमनाथ जी गुप्त का 'आलोचना, उसके सिद्धान्त' और सुमन जी मल्लिक का 'साहित्य विवेचन' आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनकी तुलना में मैं अपने ग्रन्थ के प्रति मुंह खोलूं, ये शोभनीय नहीं लगता। निवेदन करूँगा कि आप इन सभी ग्रंथों को पढ़ें। सभी में उपयोगी एवं सुन्दर सामग्री है। और यदि आप मेरे इस ग्रन्थ को पढ़ कर उस सामग्री में कुछ वृद्धि करने के लिये पा सकें तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

तीसरा अध्याय स्व० पूज्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व के प्रति एक स्वच्छन्द किंतु विषय-व्यवस्थित अध्ययन है। द्विवेदी जी अपने युग के ही नहीं वरन आधुनिक हिन्दी खड़ीबोली भाषा-साहित्य के अमर अग्रदूत हैं। उनको उनके युग को, उनके कृतित्व-व्यक्तित्व को भली भाँति समझने का अर्थ है खड़ीबोली भाषा-साहित्य की धमनियों को समझ लेना। द्विवेदी जी के विषय में डा० उदयभानुसिंह जी ने अपने शोध ग्रन्थ—"महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग" —में बड़े उत्तम ढंग से तथ्य प्रस्तुत किए हैं। किंतु चूंकि वह पी० एच० डी के लिए लिखा गया ग्रन्थ है अतः उसकी कुछ सीमाएँ भी हैं। इधर स्वतन्त्र रूप से श्री प्रेम नारायण जी टण्डन ने शायद 'द्विवेदी मीमांसा' नामक पुस्तक लिखी है जिसमें उपयोग की बहुत सी बातें पाई जा सकती हैं। शेष, द्विवेदी जी पर लिखी किसी अन्य पुस्तक का नाम रूप मेरी स्मृति में नहीं बैठ रहा है।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सीधे प्रकाश डालने की आवश्यकता मुझे अनुभव हो रही थी। उपर्युक्त, द्विवेदी जी से सम्बन्धित ग्रन्थों में सम्भवतः ऐसा हो किन्तु फिर भी मैं समझता हूँ कि भाषा-शैली के स्वातन्त्र्य के साथ उसे समेटकर रख देने वाली बात करना शेष थी। वही कुछ तीसरे अध्याय में साध्य है।

पंजाब विश्वविद्यालय ने हिंदी एम० ए० के द्वितीय वर्ष के कोर्स में एक पर्चे के अन्तर्गत द्विवेदी जी के जीवन-साहित्य के प्रति विशेष अध्ययन लागू कर रक्खा है। अपनी प्रथम वर्ष की छात्राओं—कुमारी सावित्री जी एम० ए० तथा श्रीमती कौशल्या जी गुप्ता एम० ए०—को पढ़ाने के साथ ही साथ द्विवेदी जी विषयक सामग्री तैयार हो गई। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि सन् १९५९ में पंजाब विश्वविद्यालय के द्विवेदी विषयक प्रश्न पत्र में मेरे इस अध्याय सम्मत प्रायः सभी प्रश्न आए। इस पर मेरी दोनों शिष्याओं का बड़ा आग्रह हुआ कि मैं इस सामग्री को भी अपनी पुस्तक के एक अध्याय के रूप में छपवा दूं; फलतः वह आपके आगे है। उक्त शिष्याओं ने ही विषयों का बड़े श्रम से उत्तम सम्पादन किया तथा प्रेस कापी तैयार की। तदर्थ उन्हें मैं अपना आभार प्रकट करूँ कि उनका गुरु आग्रह है कि मैं उन्हें आशीर्वाद दूं ताकि भविष्य में वह साहित्य की सेवा में इसी प्रकार का योगदान देती रहें। एतदर्थ उनके लिये मेरा आभार और आशीर्वाद दोनों साथ-साथ हैं। उन सभी विद्वानों का भी मैं हृदय से बड़ा आभारी हूँ जिनके मतों और विवेचनों से मैंने दृष्टि···दिशा पाई है।

लिखना एक कठिन कष्टसाध्य काम है। मेरे विचार से पढ़ते समय हमारा हम दृष्टिकोण पहला यही नहीं होना चाहिये कि दूरबीन से भूलें ही खोजते चले जायँ। यह कार्य यदि हमें करना ही है तो पुस्तक के सारग्रहण के उपरान्त करना चाहिये ताकि हम लेखक के प्रति कोई भी निर्णय देने में न्याय संगत बने रह सकें। भूलें मनुष्य-समाज करता आया है और करेगा—उन्हें सुधारता भी आया है और सुधारता रहेगा। और मैं मनुष्य-समाज का अपवाद नहीं हूँ, यह कहने में मुझे कोई लज्जा नहीं। अतः, अंत में मैं आपसे एक बार फिर विनम्र निवेदन करूँगा कि अपनी सहृदयता के साथ मुझे मेरी भूलें सुझाएँ। सद् सुझाव भी दें ताकि साहित्य की सेवा में कुछ श्रेष्ठतर अर्पित हो सके। जहाँ कहीं प्रूफ की भूलें रही हों उन्हें पाठक गण सुधार कर पढ़ने की कृपा करें। अगले संस्करण में उन्हें यह कष्ट नहीं करना पड़ेगा।

अंततः मैं अपने मित्र श्री विश्वनाथजी मिश्र तथा मास्टर मलावाराम जी एम० ए० को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने पुस्तक के प्रति समय समय पर अपने सद्-सुझाव दिये।

जीवन प्रकाश जोशी

पहला अध्याय

हिन्दी गद्य के सोपान

प्रवेश

सद्-भावनाओं एवं सद्-विचारों का लिपिमय स्वरूप साहित्य कहलाता है। भावनाओं एवं विचारों का निरंतर नवीन कलेवर प्रकट होता रहता है और यों साहित्य का स्वरूप भी निरंतर अपनी गतिशील अवस्थाओं को पार करता हुआ जहां कल था वहां आज नहीं दिखाई देता। यदि कल वह भक्ति एवं शृंगार की धारा में प्रवाहित था तो आज वह जन-समाज की दिनोंदिन की आवश्यकता के रास्ते पर यथार्थ जीवन के शरीर के लिए स्फूर्ति का यंत्र बनता जा रहा है। भविष्य में उसका क्या स्वरूप होगा, यह भविष्य की मुठ्ठी में बन्द है। भविष्य ही मानव का प्रत्याशित-अप्रत्याशित सर्वस्व है; अतः भविष्य का साहित्य और उसमें ही उसकी विचार-सारणियों एवं भाव-गतियों का वास्तविक उद्घाटन होगा। और वर्त्तमान में वह कैसा होगा, यह सोचने-समझने के लिये हमें मानव जीवन की स्थितियों के भीतर-बाहर ही देखना होगा। यह बात तो हुई साहित्य के उस स्वरूप परिवर्त्तन की बात जो मानव-जीवन की मान्यताओं एवं स्थितियों के अनुसार सदैव परिवर्त्तित होता रहता है...किन्तु इस भीतरी स्वरूप परिवर्त्तन की क्रिया में जो उसका बाहरी आकार-प्रकार है, उसके अंग-उपांगों में दीर्घकाल से परिवर्त्तन का प्रश्न ही खड़ा हुआ प्रतीत नहीं हुआ, भले ही किन्ही नई विधाओं द्वारा उसको शृंगार-सज्जित किया जाता रहा हो। साहित्य-सृजन का बाहरी आकार-प्रकार या कहा जाय कि उसका स्थूल कलेवर दो स्थितियों या दशाओं में हमारे सामने आता रहा है—पद्य तथा गद्य! विश्व का सम्पूर्ण साहित्य इन दो शरीरों में ही प्रकट हुआ है। अतः गद्य एवं पद्य का सूक्ष्म अंतर एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझ लेना ठीक रहेगा।

सर्व प्रथम काव्य शब्द ही साहित्य की सम्पूर्ण सृष्टि का नाम रहा है। शायद भर्तहरि के समय से ..."**साहित्य संगीत कला विहीन :...**"

साहित्यः गद्यः पद्य

उक्ति के अनुसार साहित्य शब्द की सत्ता काव्य के अतिरिक्त भी मानी गई है। यों वैसे भी काव्य अपने प्राचीन अर्थ में नाटक या रूपक के लिये प्रयोग किया जाता रहा है। अतः भारतीय साहित्य का आदि-स्रोत यदि हम कोई माने तो वह एक मात्र नाटक ही ठहरता है। कुछ भी हो, यह तो निर्विवाद तथ्य है कि काव्य शब्द ही हमारे यहां साहित्य के सम्पूर्ण अर्थ में पहली बार प्रयोग हुआ है। जब नाटकों के अतिरिक्त साहित्य में अन्य कृतित्व—शिल्प-कविता, आख्यान आदि प्रकट हुआ उस समय साहित्य के अंगों-उपांगों का स्वतन्त्र नाम-करण भी हुआ—जैसे, महाकाव्य, खंडकाव्य, पौराणिक कथाएँ, वार्त्ताएँ आदि। कहने का तात्पर्य यह है कि भले ही काव्य की संज्ञा में साहित्य के गद्य और पद्य का अन्तर स्पष्ट होने या करने की कोई आवश्यकता प्रतीत न हुई हो किन्तु साहित्य के कहने पर तो गद्य एवं पद्य के अन्तर को समझ लेना नितांत अनिवार्य-सा हो जाता है। क्योंकि साहित्य के सृजन में पद्य एवं गद्य इन दोनों शरीरों की, जन-रुचि के अनुकूल-प्रतिकूल, भिन्न भिन्न अवस्था एवं प्रतिष्ठा रही है। यह भी एक विवाद का प्रश्न है कि गद्य और पद्य में किसकी प्राचीनता एवं उपादेयता अधिक है? संक्षेप में इतना ही समझ लेना ठीक होगा कि पद्य का अस्तित्व गद्य से प्राचीन है, यद्यपि उपयोगिता की दृष्टि से गद्य का सहयोग काव्य की अपेक्षा यथार्थ जीवन में प्रबल है। वैसे उत्तर वेदकाल में गद्य व्यवहार की भाषा में था और अथर्ववेद तथा यजुर्वेद में उसका प्रयोग भी मिलता है।

अथर्ववेद की तो लगभग १६ प्रतिशत विषय-सामग्री गद्य में ही मिलती है जिससे हमारे भारतीय गद्यसाहित्य की पुरातनता पुष्ट होती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है जिससे यह सिद्ध होता है कि यहां भी गद्य का प्रयोग प्रायः व्यवहारिक-सामाजिक पक्ष की दृष्टि से ही व्यापक रूप से हुआ है—

"अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनां, जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम ॥ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।"

पद्य उस लिपिमय स्वरूप का नाम है जो मनोभावों के हर्ष-विषाद जनित स्वरूप का उद्घाटन करता है। मानव की आन्तरिक अवस्था से फूटकर जो कुछ स्वाभाविक ताल, लय तथा छंद की क्रिया से बाहर हो दूसरों को अपनी लय में कुछ देर के लिये लीन कर लेता है, उस साहित्य रचना का नाम पद्य है। पद्य में भावना की अभिव्यक्ति एवं काल्पनिक-सृष्टि का सुन्दर

अन्तर

तथा आकर्षक सजीव चित्र हमारे नेत्रों को नहीं, हृदय को बिना किसी ऊहापोह के बरबस अपनी ओर खींचता चलता है, और जहां हम उसके रहस्य से छुए कि आत्म-विस्मृतकारी आनन्द या रस में निमज्जित हुए। काव्यानंद का अन्तिम लक्ष रसानंद है। काव्य की उपयोगिता वास्तव में आनन्दसापेक्ष ही है। दूसरी ओर गद्य उस लिपिमय आकार का नाम है जो व्यवहारिक जीवन के पृष्ठ पर ही प्रायः लिखा-पढ़ा जाता रहा है। गद्य में पद्य की भांति लालित्य, छंद, ताल, लय, भाव, अनुभाव एवं रसादि की सापेक्षता अनिवार्य नहीं। साहित्यिक गद्य यथार्थ विषयों का कुछ-कुछ कलात्मक चित्रण है—वैसे तो विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र आदि सभी विषयों का विवेचन गद्य में ही होता है। पद्य की भावपूर्ण अभिव्यक्ति गद्य की विशेषता नहीं बनती वरन उसकी विशेषता है लोक उपयोग की आर्थिक, सामाजिक, व्यावहारिक एवं भौतिक गुत्थियों को स्पष्ट रूप से सुलझाने की। पद्य एक भाव बिन्दु से हमें आल्हादित, आनन्दित एवं स्फुरित करता है, गद्य हमें वास्तविक मूल्यों का विश्लेषण करने एवं उसको जीवन में घटाने-बढ़ाने की सूझ एवं विवेचनात्मक तर्कों तथा तथ्यों से अनुप्राणित करता है। संक्षेप में, पद्य जीवन के भीतरी आनन्द को प्रकट कर हमें अन्तर जीवन में पैठ सकने का और सांस्कृतिक बना सकने का एक व्यापक तत्व प्रदान करता है और गद्य वाह्य जीवन के विविध पहलुओं को समझ सकने और उन पर पुनः पुनः विचार विनिमय कर सकने का एक सुनिश्चित उपयोगी यंत्र है। फिर भी सदा से और सभी देशों में पद्य की बहुत सी प्रगतियों का श्रेय गद्य को है एवं गद्य की नीरस अभिव्यक्तियों को सरस एवं ग्रहणीय बना सकने का श्रेय पद्य को है। यों दोनों ही ने एक दूसरे को बल प्रदान किया है और साहित्य की दृष्टि से तो साहित्य के लिये यह दोनों ही उसके अपने दो बलिष्ठ स्कंध के रूप में है। दोनों ही साहित्य के बराबर के अंग होते हुए भी दोनों का अपना-अपना अलग अस्तित्व है, उपयोग है, विवेचन है। नीचे हम गद्य के सम्बन्ध में उसके क्रमिक विकास एवं तत्सम्बन्धी मूल परम्परा पर प्रकाश डालेंगे :—

हिन्दी गद्य की आदि परम्परा

संस्कृत भाषा से प्राकृत एवं प्राकृतों से विभिन्न प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं का जन्म हुआ। आगे चलकर अपभ्रंश भाषाओं का ही रूप-परिवर्तन हिन्दी भाषाओं के रूप में हुआ। इस दृष्टि से हिंदी भाषा का जिस प्रकार भी और जैसा भी विकास हुआ उसका मूल सम्बन्ध अपभ्रंश-भाषा-साहित्य से होकर फिर सीधा संस्कृत भाषा-

साहित्य से है। आज भारत में जितनी भी प्रांतीय भाषाओं का साहित्य-सृजन हो रहा है उसमें अधिकांशतः संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों का ही योग समाया हुआ है—और उर्दू-फारसी के शब्दों का जो समावेश हिंदी भाषा में मिलता है, उसकी सत्ता यदि कुछ है तो यही कि मुसलमानों ने भारत पर अपना पूर्ण आतंक जमा कर अपने उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग यहां की प्रचलित हिंदी-बोलियों में ढाला और फिर हिंदी के स्थान पर एक और भाषा भारत में कहलाई जाने लगी—उर्दू भाषा ! कहने का तात्पर्य यह है कि जिसे हम हिंदी भाषा या खड़ी बोली का गद्य कहते हैं, उसकी मूल-परम्परा संस्कृत-भाषा-साहित्य से जुड़ी है। राजनीतिक परिस्थितियों एवं आतंकों के कारण यदि किसी भाषा-साहित्य पर कोई अन्य प्रभाव मात्र पड़ जाय तो हम उसे पूर्णतः परम्परित अथवा अपना नहीं कह सकते। निश्चय ही हमारी हिंदी-भाषा-साहित्य का परम्परागत् संबन्ध संस्कृत भाषा से ही है। इस कथन के अनुकूल हम देखते हैं कि गद्य का आदि सृजन संस्कृत साहित्य में पूर्ण प्रवेग एवं व्यापकता के साथ साहित्यिक कोटि में भली प्रकार गिने जाने योग्य हुआ है। अथर्ववेद-यजुर्वेद मे हमें गद्य का खुला हुआ एवं स्पष्ट प्रयोग देखने को मिलता है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यह कहा जा सकता है कि यह गद्य पूर्णतः सरस, साहित्यिक ढंग का नहीं है, किन्तु ईसा की पहली शताब्दी में महाकवि भास ने अपनी रचनाओं में गद्य का साहित्यिक स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत कर दिखाया था। इससे आगे तो संस्कृत के महान कवि कालीदास एवं वाणभट्ट ने अपनी रचनाओं में (नाटकों में) संस्कृत गद्य का पूर्णतः सरस, साहित्यक परिमार्जित स्वरूप प्रस्तुत किया। कादम्बरी का गद्य इसका ज्वलंत प्रमाण है। और तो और उपनिषद् में संस्कृत गद्य का जैसा साहित्यिक एवं परिमार्जित प्रयोग दृष्टव्य होता है, उसे देखकर गद्य की पूर्ण विकसित दशा का ज्ञान सहज ही होता है। उदाहरण के लिये—

"अंगुष्ठमात्रा पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानांहृदये सन्निविष्टः। तं सवाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषी का धैर्य्येण" ॥ कठोपनिसन्सार ।५। ७। पृष्ट २२० (उपनिषद प्रकाश)

अर्थात्, ज्ञानगम्य अन्तरात्मा सदा मनुष्य के हृदय में छिपा है। जैसे मुंज से यत्न-पूर्वक सींक को निकालते हैं ऐसे यत्न पूर्वक अपने शरीर से आत्मा को निकालो।

उपरोक्त गद्यांश से यह बात भली प्रकार विदित हो जाती है कि संस्कृत के गद्य में किस प्रकार उपयोगी,दार्शनिक,व्यवहारिक एवं साहित्यिक विशेषताओं का रोचक, सालांकारिक एवं हृदयग्राही चित्रण हुआ है। इसी संस्कृत-भाषा-साहित्य की अनुप्रेरणा से आज के हिन्दी गद्य का परम्परित सम्बन्ध माना जाना चाहिये। भले ही ऐसा मानने में हमारे हिन्दी खड़ी बोली भाषा के गद्य-साहित्य का कोई विशेष उद्देश्य सिद्ध न होता

हो किन्तु यह तो प्रतीत होता ही है कि हमारे भारत के गद्य का साहित्यिक स्वरूप-कितना प्राचीन है । दूसरे जब हम हिन्दी भाषा साहित्य के इतिहास में संस्कृत-भाषा-सहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों एवं उसके अध्ययन की अपेक्षा का पग-पग पर अनुभव करते हैं, तब यह जान लेना कि हमारे संस्कृत साहित्य में केवल काव्य की ही नहीं, गद्य की भी अपनी एक अच्छी खासी सत्ता रही है—क्या अनुचित है? निश्चय ही महाभारत एवं रामायण काल में संस्कृत-गद्य का पूरी तरह विकास देखने को मिलता है । अतः हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि हमारे हिन्दी गद्य की शिराओं में अपनी संस्कृत भाषा के गद्य की परम्परित विशिष्टताएँ एवं सृजनात्मक वृत्तियाँ संस्कारतः पली है । और मैं समझता हूँ कि इसी कारण हिन्दी-गद्य में जहाँ एक ओर तब से अब तक बराबर राजनीतिक एवं भाषागत् आलोड़न-विलोड़न जारी रहा तथापि उसकी तह में— साहित्यिक अन्तःधारा के अनुकूल—बराबर सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भारतीय आस्थावान मान्यताओं की धड़कन बनी ही रही और आज भी बनी है, जब कि हमारे हिंदी-गद्य में विदेशी सभ्यता संस्कृति एवं सामाजिक मान्यताओं की रुचि अपने यहाँ की महानताओं से कहीं अधिक महत्वपूर्ण समझी हुई सी परिलक्षित होती है । इसका एक मात्र कारण यही कहा जा सकता है कि जहाँ हमारी हिंदी भाषा का परम्परित दृढ़ और मूल सम्बन्ध संस्कृत भाषा से है वहाँ हमारे आधुनिक गद्य का भी किसी न किसी प्रकार ओर-छोर संस्कृत गद्य के छोर से बँधा होगा ही ।

हिन्दी गद्य का विकास-क्रम व काल विभाजन

हिन्दी गद्य का सही विकास-क्रम हम १९००वीं शताब्दी से ही मान सकते हैं । यह युग भारतीय राष्ट्र-जागरण का युग था । मुग़ल कालीन सामन्ती एशोइशरत समाप्त हो चली थी, और भारत में एक नई विदेशी जाति-अँग्रेज़ों की- राजनीतिक मंच पर अवस्थित हो गई । मुग़ल कालीन सामन्ती जुल्म से रिहा होकर भारत की जनता अँगरेजी शोषण एवं ईसाई धर्म की सभ्यता संस्कृति की क़ैद में आने लगी । सहसा इस नई एवं धर्म-साम्राज्यवादी ख़तरनाक स्थिति में भारत की निरीह जनता की चेतना काँटे में फँसी मछली की तरह तड़पने लगी । फलस्वरूप राष्ट्रीय-जागरण की लपट भारत की आत्मा में दबे-दबे भड़कने लगी । साहित्य, समाज की परिवर्त्तनशील अवस्था का संयोजक है । अतः तत्कालीन समय में जन-चेतना की रफ्तार के साथ ही एक नई कला, जीवन की नई दृष्टि, नये चिंतन, नये दर्शन एवं नई अभिव्यक्ति ने ज़ोर पकड़ा । रीति-कालीन शराबी एवं शृंगारी दशा ने चारित्रिक पतन की यहां तक नौबत ला दी है—

इस प्रकार की सद्-धारणा साहित्य-सृष्टाओं के भाव एवं विचार-जगत से प्रबल प्रवहनी की भाँति फूटने के लिए ज़ोर बाँधने लगी। निदान, जहाँ एक ओर पीछे-पीछे युगों से चली आई रीति शृंगारी काव्य परम्परा के विषयों से कवियों के हृदय ने घृणा दिखाई वहाँ दूसरी ओर पद्य के स्थान में गद्य का आग्रह भी क़ायम होने लगा। और इस तरह पद्य की अपेक्षा गद्य का अविच्छिन्न साहित्य प्रवाह १९००वीं सदी से जनक्षेत्र को साहित्य के विभिन्न विषय सृजन द्वारा सिंचित करता चला आ रहा है। इसके प्रति कौन कौन सी स्थितियें, कौन से कारण एवं सहयोग वांछित हुए और मिले, इन सबका विवरण हम वर्त्तमान हिंदी खड़ी बोली गद्य के अन्तर्गत यथास्थान स्पष्ट रूप से देंगे। यहाँ हमारे यह सब कुछ लिखने का उद्देश्य यही है कि यद्यपि हिंदी खड़ी बोली गद्य का सही मायनों में विकास भारतेन्दु युग से ही हुआ, तथापि हिंदी भाषा के गद्य का विकास आज से ७०० वर्षों से भी पहले से होना प्रकट होता है। निःसंदेह हिन्दी भाषा में लिखा गया गद्य-साहित्य का इतिहास सही मायनों में हम १९०० से मानने को इस लिये भी विवश होते हैं, क्योंकि इससे पूर्व का लिखा गया गद्य-साहित्य भाषा एवँ सृजन की दृष्टि से न तो व्यवस्थित है और न ही रोचक। हिंदी साहित्य के काल-विभाजन को ध्यान में रखते हुए हम देखते हैं कि १९००से बहुत पूर्व भी हिंदी भाषा को जन्म देने वाली भाषा में—अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी एवं ब्रज में—जैन कवियों, चारणों राजों एवं गोरखपंथियों ने एक बड़ा साहित्य दान पत्रों, उपदेशों एवं पट्ट परिवानों के रूप में प्रस्तुत किया है। ध्यान रखने योग्य बात यह है कि यह गद्य-साहित्य साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यह गद्य-साहित्य प्रायः सम्प्रदायिक धारणाओं का पिष्टपेषण मात्र है। शैली में केवल उपदेशात्मकता ही प्रधान बन सकी है। कम शब्दों में, राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश कालीन गद्य अत्यधिक टूटा-फूटा नीरस अव्यवस्थित एवं असाहित्यिक कहा जायगा। इस प्रकार का प्राचीनतम गद्य लिखने वालों में गोरखनाथ का नाम उल्लेखनीय है। खोजों के अनुसार इनका समय १४०० ई० कहा जाता है। हठ योग एवं भक्ति ज्ञान जैसे नीरस विषयों पर ही इस काल में पद्य के जैसा ही साथ में गद्य भी लिखा जाता रहा। यह बात जैन नाथ एवं अन्य तत्कालीन ग्रंथों से इतस्ततः पुष्ट होती है। हिन्दी-गद्य के क्रमिक विकास की इतिहासिक परम्परा जानने के लिये ही इस काल के गद्य का विवेचन संगत ठहरता है। भाषा, विषय, शैली एवं कला की दृष्टि से इस समय का गद्य नगण्य एवं अनुपयोगी है। साहित्य की दृष्टि से संस्कृत-कालीन गद्य की अपेक्षा इस काल का गद्य इतना लचर क्यों रहा, वस्तुतः यह प्रश्न बड़ा विचारणीय एवं शोध योग्य है; किन्तु हम समझते हैं कि

अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी गद्य समय १००० से १३०० तक

सम्भवतः यह गद्य-साहित्य सृजन की धारणा से लेखकों ने लिखा ही नहीं। केवल मात्र अपने धर्म-सिद्धान्तों के व्यापक प्रचार का जनोपयोगी सरल माध्यम ही उन्होंने इस को समझा और लिखा। उदाहरण के लिए संवत १२३५ में पृथ्वीराज के समय के एक पत्र में लिखा गद्य का यह नमूना प्रस्तुतः है ; इस उदाहरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्कालीन गद्य कितना अव्यवस्थित एवं व्याकरण की त्रुटियों से भरपूर है—

" श्री श्री चित्रकोट बाई साहब श्री पृथुकुवर बाई का बारण गाम मोई आचारज बाई रुसीकेस जीबांच जो अपन श्री दली सुं श्री हजूर को बी खास रूका आयो है जो भारों भी पदारबा की सोखबी है नेदली काका जी षेद है "

यह गद्यांश राजस्थानी गद्य का है, जो अपने स्वरूप में कितना ऊट-पटाँग है। जबकि राजस्थानी पद्य में हमें काफी सुन्दर रूप में देखने को मिलता है। जो कुछ भी हो, इतना तो कहा ही जायगा कि हिन्दी जनपदीय भाषाओं में गद्य का प्रचार आज से बहुत पहले ही पनप रहा था और आज उसका व्यापक क्षेत्र उसकी जन-उपयोगिता का एक बड़ा प्रमाण है।

ब्रज भाषा का गद्य समय १४०० से १८०० तक भक्तिकाल तथा रीतिकाल

राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश कालीन गद्य का लड़खड़ाता हुआ प्रचलन हम १३०० वीं शताब्दी के अंत तक पाते हैं। इस समय तक आकर हिन्दी भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व अपभ्रंश के पाशों से मुक्त होकर बन चुका था। खड़ी बोली, ब्रजभाषा एवं अवधी भाषा का काव्योचित सुन्दर प्रयोग भी कबीरदास, सुन्दरदास, सूरदास, तुलसीदास जैसे महान् कवियों ने इस मध्यकाल में करना आरम्भ कर दिया था। फलस्वरूप हिन्दी भाषाओं का स्वतन्त्र एवं सुव्यवस्थित रूप-प्रचार जन-मन पर छाने लगा। साहित्य की सृष्टि में भाषागत् नैसर्गिता आने लगी। काव्य-सौन्दर्य अपनी उड़ान धरती की चेतना से आकाश की कल्पना तक स्वाभाविक ढंग से भरने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-भाषा-साहित्य का स्वस्थ, उन्नत एवं सुनहरा कलेवर हमें १४०० वीं सदी से ही दर्शित होता है। अतः इस काल को साहित्य का स्वर्णकाल कहने में किसी भी भारतीय साहित्य प्रेमी को कोई आपत्ति नहीं है।

गद्य पद्य की पारस्परिक स्थिति

यह बात निर्विवाद कही जा सकती है कि भक्तिकाल में भले ही गद्य की अनेकानेक पुस्तकें (टीकाएँ, कथाएं तथा सम्वादादि) लिखी गईं, किन्तु फिर भी उस काल में पद्य की ही प्रधानता रही। सच कहा जाय तो कहना होगा कि न केवल हिन्दी साहित्य ही और न केवल भारतीय साहित्य ही, वरन् संसार की महानतम् साहित्यिकता में भारतीय साहित्य के इस स्वर्णकाल में जैसा काव्य सृजन हुआ है, अन्यत्र कम ही हुआ

होगा। रामचरितमानस जैसा प्रबन्ध काव्य, सूरसागर जैसा गीति काव्य, मीरा के स्वाभाविक प्रेमवादी मीठे पद जैसे इस काल में रचे गए वैसे किसी भी देश के साहित्य में खोज लेना दुष्कर कार्य है। इतना होने पर भी इस काल के गद्य-लेखक कोई श्रेष्ठ गद्य लेखन कला का नमूना प्रस्तुत नहीं कर सके। कहा जायगा कि गद्य के क्षेत्र में कार्य करते हुए भी वह गद्य की तकनीक, भाषा, व्यवस्था एवं शैली कलात्मकता को इन्च भर भी आगे बढ़ कर नहीं छू सके। दूसरे कारण जो कुछ भी रहे हों, किन्तु इसका मुख्य कारण यही रहा कि इस काल के गद्य-लेखकों के पास आधुनिक कालीन मुद्रण एवं जीवन की व्यापक विश्लेषणात्मक समस्याओं एवं पहलूओं का स्तर मौजूद न था। ऐसी अवस्था में गद्य की व्यवसायात्मक बुद्धि की पकड़ एवं व्यापकता बनी न रह सकी। वह गद्य केवल काव्यकी टीकाओं एवं साधु-सन्तों की दिनचर्याओं का विवरण मात्र प्रस्तुत करने तक ही सीमित रह गया। नई समस्याएँ, मूल्य, मान्यताएँ एवं उत्थान-पतन की सम्भावनाएँ, कुसम्भावनाएँ-मानव के विचारों और उनके व्यक्त करने के साधनों में नवीनता का संचार करती है। भाषा का प्रसार एवं शैली का निखार साहित्य-सृष्टि में तभी आया करता है जब कि साहित्य-सृष्टा के सामने एक ओर युग-स्रोत का कलकल निनाद हो तो दूसरी ओर युग-संघर्ष का हरहर गर्जन ! भाषा में माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुण का पारस्परिक आदान प्रदान, ये सब कुछ युग की द्रुतगामी परिस्थितियां एवं मानवीय समस्याएँ ही पैदा करती हैं। मनुष्य का ढंग (style) इन्हीं कारणों के फलस्वरूप जो कल था वह आज नहीं रह पाता और आज नहीं रह पाने में वह कल की आत्माभिव्यक्ति में या तो कोई अनुकूल परिवर्तन पैदा करेगा—उसे करना होगा-नहीं तो वह उन्हें केंचुली की तरह उतार कर फेंक देगा—विस्मृत कर देगा। साहित्य की शैली एवं उसकी भाषा का सूक्ष्म तथा व्यापक परिवर्तन इसी प्रकार युग-जीवन की वर्तमान परिस्थितियों में रद्दोबदल होने का कारण हुआ करता है। भक्तिकाल के साहित्य में गद्य तो गद्य, काव्य-शैली में भी कोई अधिक परिवर्तन देखने को नहीं मिलता। बहुत सी उपमाएं जो सूर ने प्रकट की हैं, उन्हीं को तुलसी ने प्रकट किया है। इसी तरह कहीं २ तुलसी की प्रतिभा से सूर भी प्रभावित हुए थे। यहां यह लिखने का हमारा आशय किसी प्रकार का आक्षेप-जनक नहीं है, बल्कि यह है कि इस काल में, जब काव्य के पल-पल परिवर्तित भावों का प्रायः नवीन एवं व्यापक अवकाश एवं स्थल नहीं बन पाया, यद्यपि काव्य अंतर्जगत की अनंत भावनाओं का नवीन नवीन प्रकट दृश्य है, तो फिर भला इस काल के गद्य के व्यापक एवं अभिनव आकार-प्रकार और प्रसार को देखना कहां सम्भव है, जब कि गद्य वस्तु बुद्धि का साहित्य के अंतर्जगत् एक विज्ञानिक विश्लेषण है—चाहे अपवाद रूप में मद्य गीत एवं अन्य ऐसे ही काव्य-कल्पना बहुल गद्य पर ऐसी बात नितांत न घटे। अस्तु।

गोरख से पूर्व का गद्यसाहित्य-काल ११००से १४०० तक।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं कि हम हिन्दी भाषा का सृजनात्मक विकास आज से लगभग ७०० वर्षों से भी पहले से होता हुआ पाते हैं। गोरखनाथ एवं ज्योतिरीश्वर ठाकुर के प्राचीन हिन्दी गद्य के उदाहरणों से भी पूर्व सं० ११३९ से हम दो चार गद्य के नमूने पाते हैं गोकि गोरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि विद्वानों का इसमें मतभेद है। सन् १०८३ में लिखा हुआ यह गद्यांश प्रस्तुत है—

"जो अणी परवाना से कोई उलंगण करेगा जी में श्री एक लींग जी को आण है। दुबे पंचोली जानकीदास काल ११३९ काती बदी ३"

प्रस्तुत उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि इसमें राजस्थानी शब्दों में मिली-जुली अस्पष्ट झलक खड़ी बोली हिन्दुस्तानी शब्दों की भी है; और वास्तव में खड़ी बोली में राजस्थानी डायलेक्ट (बोलियों) का बहुत कुछ सहयोग सा झलकता है। यह क्रम ११-१२ वीं शताब्दी में शुरू हो गया था, जैसे—**"परवाना से कोई उलंगण करेगा।"**

इसी प्रकार एक उदाहरण और देखिये जो १२७४ के लगभग लिखा गया है—

"पंच परमेष्ठि नमस्कार। जिन शासनि-सार, चतुदर्शपूर्व समुहार, सम्पादित सकल कल्याण संभार, विहित दुरिनाय हार, क्षुद्रोपद्रव पर्वत बज्रप्रहार, लीला दलित संसार, सुतुम्हि अनुसरण।"

इस गद्यांश से यह साफ़ झलकता है कि इसकी भाषा का झुकाव एवं शब्दावली का अनुसरण संस्कृत भाषा शब्दावली की ओर है और शैली भी आज के भावात्मक गद्य के निकट है। **"जिन शासनिसार, चतुदर्शपूर्व समुहार, सम्पादित सकल कल्याण संभार"**—की शैली-शब्दावली में साफ़ संस्कृत सूत्रता एवं भावात्मक शैली का प्रवाह तथा अलंकारिकाता प्रकट होती है।

तीसरा एक और उदाहरण है जिसमें अपभ्रंश भाषा और उसका शैलीगत आग्रह स्पष्ट है—

"भलउ पुल्लिगु, भलि स्त्रीलिंगु, भलु नपुंसकलिंगु"

उपरोक्त तीनों उदाहरणों से यह साफ़ विदित होता है कि न केवल गोरख नाथ से ही वरन उससे भी पूर्व, ११ वीं शताब्दी से ही हिन्दी गद्य अपना—खड़ी बोली सम्मत भी—रूप विकसित करने की तैयारी कर रहा था। फिर गोरखनाथ से पूर्व बौद्धों की महानुभाव शाखा के आचार्य ज्ञानेश्वर ने ई० सन १२०० के उत्तरार्ध में ऐसा गद्य रचा था—

"पवण पुरोहो भणस्थिर करो हो चन्द्रा मेली वा भान आवागमन ई जे वारो बुद्धि राखो अपनेय।"

ज्योतिरीश्वर ठाकुर का हम उल्लेख ऊपर गोरखनाथ जी के साथ कर चुके हैं। इन्होंने ई० १३०० वीं शताब्दी के आरम्भ में एक अच्छा गद्य ग्रन्थ लिखा था, उसका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"काजर क भीति तेलें सींचल अइसन रात्रि, पछेवां कां वेगें काजर कमोट फूजल अइसन मेघ निविड़ मांसल अंधकार दोषू।"

यहाँ हमें संस्कृत-हिन्दी ज्ञानगम्य सम्मत शब्दावली प्रकट होती लगती है। **"मेघ निविड़ माँसल अंधकार"** इसका प्रमाण है। अन्य गद्यकारों में कवि शेखराचार्य का नाम भी लिया जा सकता है। इस प्रकार गोरखनाथ से पूर्व

गोरख का गद्य हिन्दी गद्य की कुछ सामग्री हमें उपलब्ध होती है, किन्तु उसका स्वरूप पद्यमय सा भी है और उसकी भाषा अस्त-व्यस्त राजस्थानी, ब्रज, अपभ्रंश-प्राकृत एवं कुछ खड़ी बोली के शब्दों से भी मिलकर खोटी खिचड़ी बनी हुई है। उसमें कोई व्यवस्था नहीं, कोई स्पष्टता नहीं, जो गद्य के लिये आवश्यक होती है। वास्तव में हिन्दी के गद्य की भाषा एवं उसके निहित विचारों की व्यवस्था की दृष्टि से गोरखनाथ जी के ९ ग्रन्थों में से उनकी एक गद्य-ग्रन्थ की अपनी देन है और महत्ता भी; यद्यपि यह ग्रन्थ भी गद्य का कोई आदि आदर्श-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो गोरख ने जो गद्य लिखा उसका झुकाव ब्रजभाषा-गद्य की परम्परा में ठहर सकता है, और शायद उसी का विकसित रूप हमें भक्तिकाल के ब्रजभाषा गद्य में, जो 'बावन वैष्णवों की वार्त्ता', 'दो सौ वैष्णवों की वार्त्ता', 'शृंगार रस मंडल' आदि पुस्तकों में मौजूद मिलता है। एक प्रकार से अपभ्रंश-प्राकृत एवं राजस्थानी अस्त-व्यस्त गद्य के स्थान पर कुछ व्यवस्थित ढंग का ब्रजभाषामय गद्य रचने वालों में गोरखनाथ का स्थान पहला कहा जायगा। उनके गद्य का एक उदाहरण देखिये—

"सो वह सम्पूर्ण तीर्थस्थान कर चुकौ अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कौ दे चुकौ ऊरु सहस्त्र जज्ञ करि चुकौ ऊरु देवता सर्व पूजि चुकौ ऊरु पितरनि कौ सन्तुष्ट करि चुकौ स्वर्ग लोक प्राप्ति करि चुकौ जा मनुष्य को मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।"

उपरोक्त उदाहरण से यह साफ़ प्रकट होता है कि उसके क्रियापद और उसकी शैली ब्रजभाषामय है किन्तु उसमें कुछ स्वतंत्र शब्द संस्कृत के, जो हिन्दी से तत्सम रूप में प्रयोग होते हैं, भी विद्यमान हैं—जैसे, सम्पूर्ण, सन्तुष्ट मनुष्य और मन आदि। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह सहज निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस समय ही

गद्य के विकसित होने वाली भाषा की रूप-शैली और शब्द-योजना में कुछ समाहार शक्ति आने लगी थी। वह समाहार शक्ति समय एवं वातावरण की अपेक्षा एवं गद्य की और अविच्छिन्न साधना-वृत्ति रखने की माँग अवश्य करती थी। यद्यपि यह माँग ब्रजभाषा के गद्यकार न पूरी कर सके किन्तु ब्रजभाषा के गद्य का सूत्रपात गोरख कर चुके थे, जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं। अतः ब्रजभाषा के गद्य का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

गोरख पंथी गद्य

ब्रज-भाषा गद्य का प्रारम्भिक नमूना हमें गोरखपंथी साहित्य के अर्न्तगत प्राप्त होता है, यह हम ऊपर लिख आए हैं। गोरखपंथ के दृढ़-योग एवं ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में लिखा गया एक ग्रन्थ १४०७ का प्राप्त होता है। किसी बंगाली या राजस्थानी लेखक ने—(यह मान्यता भी विवास्पद है कि यह लेखक बंगाली था या राजस्थानी—गोरख-पंथ के सिद्धान्तिक-सम्प्रदायिक विषयों पर ये ग्रन्थ ब्रज-भाषा में लिखे—

१. **गोरख गणेश-गोष्ठी**
२. **गोरखनाथ जी की सत्रह कला**
३. **महादेव गोरख संवाद**

इन रचनाओं का कालक्रम निश्चित करना सरल नहीं है। इस प्रकार का गद्य साहित्य १४ वीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी तक लिखा जाता रहा। इस गोरख सम्प्रदाई गद्य को देखने से यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या यह गद्य वस्तुतः १४ वीं शताब्दी में ही रचा गया होगा? कारण यह है कि १४ वीं शताब्दी तक आकर हिन्दी भाषा—ब्रज, अवधी एवं खड़ी बोली—का अपना एक व्यवस्थित एवं साहित्यिक स्तर स्थापित हो चुका था। कबीर एवं अन्य भक्त-कवियों की रचनाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं। इस समय के गद्य में वैसी शैलीगत् एवं भाषागत् प्रोढ़ता भी नहीं है जो होनी चाहिये और जो कुछ ही आगे के ब्रज-गद्य साहित्य में देखने को मिलती है। किसी गोरखपंथी साधू का लिखा यहाँ एक उदाहरण इस १४ वीं शताब्दी का प्रस्तुत है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमान्द आनन्द स्वरूप हैं सरीर जिन्ह-को जिन्ह के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु हैं। मैं जुहौं गोरिष सो मछन्दर नाथ को दण्डवत करत हों। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ? आत्म जोति निश्चल है अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तें छहचक्र जिनि नीकी तरह जानै।"

उपरोक्त उदाहरण से यह तो स्पष्ठ होता है कि इसमें ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग पूरा है तथापि उसकी व्यवस्था में, आगामी ब्रजभाषा के गद्य की तुलना की दृष्टि से बड़ा अंतर है; इतना ही जितना कि घर की चक्की एवं बिजली की चक्की में।

फिर भी यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि गोरखपंथ में ब्रजभाषा सम्बन्धी गद्य का प्रचलन १४ वीं शताब्दी के इर्द-गिर्द अवश्य ही चालू हो गया था—चाहे कैसी भी चाल में क्यों न हो।

शुद्ध ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य प्रायः संस्कृत ग्रन्थों के अनुवादों; प्राचीन कवियों की टीकाओं एवं संत गुरुओं की वर्ताओं की सीमा तक ही लिखा गया। इस प्रकार के गद्य में भाषा की चलत-फिरत धार्मिक वर्ताओं के अनुरूप ही रही है। कुछ नाटक भी रचे गये किन्तु यह नाटक भाव, भाषा एवं नाट्य-कौशल की दृष्टि से सर्वथा असफल कृतियाँ हैं। उदाहरण के लिये राजा लक्ष्मण सिंह ने यद्यपि ब्रजभाषा गद्य के अन्तिम मोड़ पर आकर अपनी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' पुस्तक में ब्रजभाषा के प्रयोग से कन्नी काटी है तथापि उसमें ब्रजभाषा गद्य का बहुत मसाला आ गया है जिसके कारण उस की नाट्य-शिल्प-सत्ता खटाई में पड़ गई। खैर, ब्रजभाषा में गद्य के तौर पर जो कुछ भी लिखा गया वह साहित्य की दृष्टि से भले ही अधिक अच्छा न हो किन्तु हिंदी गद्य के विकास-क्रम की दृष्टि से उसका अपना एक बड़ा इतिहासिक अध्याय है।

भक्तों का गद्य

गोरख पंथी गद्य के बाद संवत् १६ वीं शताब्दी में श्री बल्लभचार्य जी जी के सुपुत्र श्री बिट्ठलनाथ जी ने ब्रजभाषा-गद्य में राधा-कृष्ण विषयक प्रेम-रास-क्रीड़ा सम्बन्धी "शृंगार रस मण्डल" नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक भी यद्यपि ब्रजभाषा की दृष्टि से महत्व-पूर्ण है किंतु इसमें भी साहित्यिक गद्य की बानगी देखने को नहीं मिलती। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"प्रथम सखी कहतु है जो गोपी जन के चरण विषें सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि के इनके मंद हास्य में जीते हैं।"

स्पष्ट है कि प्रस्तुत उदारहण में विरामादि चिन्ह एवं गद्य शैली का साहित्यिक कसाव एवं कला का अभाव है।

इससे आगे, सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक आकर ब्रजभाषा गद्य का कुछ-कुछ साहित्यिक परिष्कार परिलक्षित होता है। 'शृंगार रस मण्डन', की अपेक्षा अधिक सुगठित एवं साहित्यिक पुस्तकें "चौरसी वैष्णवों की वर्ता", "दो सौ वैष्णवन की वार्त्ता" तथा "बन यात्रा" भक्त सम्प्रदाय के समर्थक विट्ठलनाथ जी के सुपुत्र गोकुल नाथ जी द्वारा रची गई। इन पुस्तकों की रचना का निश्चित समय बतलाना कठिन है। इन दोनों पुस्तकों में भक्तों एवं विद्वानों की महिमा वर्णित है। कहते हैं कि यह कृतियाँ गोकलनाथ जी द्वारा लिखी गई हैं किंतु वस्तुतः यह पुस्तकें उनके शिष्यों द्वारा भी रचित प्रतीत होती हैं। पहली बात तो यह है कि इनके अंर्तगत लिखी रचनाओं में

भाषा एवं शैलीगत एकरूपता नहीं मिलती, जो एक ही पुस्तक के रचयिता में मिलना सबसे अहम बात है। "दो सौ बावन वैष्णावन की वार्त्ता" पुस्तक औरंगजेब के काल में लिखी प्रतीत होती है। ऐसा शुक्लजी का भी मत है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"सोश्री. नन्दगाम में रहतो हतो सो खण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ़यो हतो। सों जितने पृ वी पर मत हैं सबको खण्डन करतो। ऐसो वाको नेम हतो, याही ते सब लोगन में वाको नाम खण्डन पारयो हतो।"

निश्चित ही ब्रज-भाषा के इन उपरोक्त गद्य के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके लेखकों का दृष्टिकोण एवं उद्देश्य गद्य की किसी साहित्यिक सरस कृति का निर्माण करना नहीं रहा होगा वरन् यह कि इन धार्मिक कृतियों के माध्यम से केवल जनता में सरल ढंग से उपदेश एवं कथारूप में भक्तों की महानताओं का संदेश दिया जाय। इस उदाहरण से यह बात भी उल्लेख्य लगती है कि ब्रज-भाषा के गद्य में इस बीच कुछ प्रगति आ चली थी। कम से कम उससे यह तो कहा ही जा सकता है कि तत्कालीन लेखक को इस समय तक गद्य में उतना कुछ प्रकट करने की शक्ति प्राप्त हो गई थी जिसे वह गद्य की भाषा में कहना चाहता था। उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उदाहरण में वाक्य काफी छोटे हैं एवं वर्ण भी द्वित्व नहीं हैं। साथ ही भाषा बोल चाल की है। खेद है कि इस प्रकार की प्रगति ब्रजभाषा-गद्य में आगे रफ्तारपूर्वक बनी न रह सकी, वह कम ही होती चली गई।

१६२३ के लगभग ओरछा के नरेश जसवन्तसिंह के एक विद्वान बैकुण्ठमणि ने "अगहन महात्म्य" तथा "वैशाख महात्म्य" नामक पुस्तकें लिखी थीं। ये रचनाएँ आकार में छोटी-छोटी हैं।

इसके पश्चात् संवत् १६६० में नामादास जी ने "**अष्टयाम**" नामक ब्रजभाषा गद्य की पुस्तक लिखीं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य धार्मिक ग्रंथ भी गद्य में लिखे गये।

इस समय के गद्य का एक उदाहरण, जो अष्टयाम का है, देखिये—

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वशिष्ट महाराज के चरन छुई प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज को जुहार करि कै श्री महेन्द्रनाथ दशरथजू के निकट बैठते भए।"

प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट है कि भाषा सर्वथा पंडिताऊ टाइप की है एवं विषय धर्म चर्चा का है—नीरस ढंग पर। भाषा में 'जुहार' आदि फारसी-उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग आरम्भ हो चुका था, यह भी स्पष्ट है।

संवत १६६० के पश्चात् किसी के द्वारा **"ना-सिके-तो-पाख्यान"** पुस्तक गद्य में लिखी गई।

ऊपर लिखित ब्रज-भाषा-गद्य की पुस्तकें प्रायः भक्ति काल में भक्ति विषयक ही

रची गईं। जिनका विषयगत् महत्व यदि कुछ है तो यही कि इनमें भक्ति सम्प्रदाय एवं उसके भक्तों की जानकारी हेतु काफी सामान्य परिचय मिल जाता है; और भाषागत् महत्व यदि कुछ है तो यही कि हिंदी का गद्य इस काल में लिखा मिलता है। साहित्यिक महत्व की बात इन पुस्तकों के गद्य के सम्बन्ध में सोचना हम उचित न कहेंगे। प्रधानता इस युग में काव्य सृजन की ही रही—पूरी प्रधानता!

रीति कालीन गद्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन के अनुसार संवत् १७००से रीतिकाल आरम्भ होता है। रचना सृजन के अनुसार भले ही यह काल भक्तिकाल से अलग हो गया हो किन्तु भाषा-शैली की दृष्टि से यह काल भक्तिकाल से यदि अधिक उन्नत नहीं तो कम किसी भी दशा में नहीं कहा जा सकता। ब्रज-भाषा का कलात्मक स्वरूप जैसा इस काल में स्थापित हुआ, वैसा भक्तिकाल में पूरी तरह देखने में नहीं आता। कविता के शिल्प-विधान की दृष्टि से रीतिकाल हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है। 'बिहारी' जी का अकेला नाम एवं उनकी अकेली दोहाकृति, 'बिहारी सतसई' इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि इस काल में ब्रजभाषा एवं उसकी कविता-कला का कितना अभूतपूर्व महत्व स्थापित हो सका है। इस काल के गद्य विवेचन के लिए हमें सर्वप्रथम यही ध्यान में रख लेना है कि रीतिकाल में ब्रजभाषा अपनी प्रौढ़ता में जन-रुचि के सर्वथा अनुकूल थी, और उसमें इस काल का गद्य-साहित्य भी भक्ति-काल की अपेक्षा कहीं अधिक लिखा गया है।

इस काल में जितना कुछ भी गद्य लिखा गया उसका विषय अधिकांशतः रीति-कालीन कवियों की टीकाओं तक ही सीमित रहा। इसके अतिरिक्त कुछ कवियों ने नाटकों का भी सृजन किया। ब्रजभाषा गद्य की नाटकीय परम्परा तो बा० हरिश्चन्द्र जी के समय तक चलती रही। भारतेन्दु के पिता श्रीगोपालचन्द्र कृत '**नहुष**' नाटक ब्रजभाषा गद्य का ही नमूना प्रस्तुत करता है। कुछ संस्कृत नाटकों का अनुवाद भी किया गया। नीचे हम कुछ टीकाओं एवं नाटकों का उल्लेख कर रहे हैं :—

१. हरिचरन दास कृत '**विहारी सतसई**' की टीका।
२. प्रियादास कृत '**हरिवंश**' के पदों की टीका।
३. अयोध्या महन्त रामचरन कृत "**राम चरित मानस**" की टीका।
४. जानकीप्रसाद कृत केशव की "**रामचन्द्रिका**" की टीका।
५. सरदार कवि कृत "**रसिक प्रिया**" की टीका।
६. प्रताप सिंह कृत मतिराम की '**रसराज**' कृति की टीका।
७. सूरदास कवि कृत "**दृष्टि कूट**" पदों की टीका आदि.....।

इस प्रकार रीतिकालीन कवियों की कृतियों की टीकायें १७ वीं शताब्दी के मध्य से आरम्भ होकर १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक होती रहीं। यह तो मान्य है कि इस अवधि में टीकाओं के रूप में ब्रजभाषा गद्य में काफ़ी छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे गये किन्तु इन ग्रन्थों में एक भी ऐसा नहीं जो गद्य साहित्य की विशेषता की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सके। यह टीकायें संस्कृत की "**कथंभूत**" वाली चाल पर रचित हैं। कोई नवीनता एवं रोचकता इनमें नहीं है। इन्हें पढ़ने में, कम से कम जहाँ तक मेरी अपनी बात है, जी भी लगना कठिन है। भाषा की दृष्टि से इन टीकाओं में स्थान-स्थान पर टूट-फूट है; एवँ शैली की दृष्टि से इन में एकदम कथावाचकता एवं ऊँटपटाँग ढंग से अर्थ-पुनरुक्ति है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि यहाँ से गद्य के सृजन में साहित्यकला एवं उसके सिद्धान्त की बात सोचने-समझने का कुछ निरूपण अवश्य आने लगा था। गोरखपंथी एवं भक्ति-पंथी गद्य-साहित्य की अपेक्षा इस काल के गद्य में सूझ कुछ गहरी हो गई एवं कोरी साम्प्रदायिकता से हटकर लेखकों का स्वतन्त्र रूप से गद्य में अपनी रुचि एवं बुद्धि का परिचय देने वाला विचार एवं रुझान अवश्य लिपिबद्ध होने लगा—बस !

हम ऊपर कह आए हैं कि रीतिकाल में टीकाओं के गद्य के अतिरिक्त कुछ अन्य धाराओं में भी गद्य का सृजन जारी हुआ। संम्वत् १७९५ में हीरालाल लिखित

नाटक तथा अन्य गद्य

"**आईन अकबरी की भाषा बचनिका**" पुस्तक प्राप्त है। इसमें ब्रज-भाषा के साथ अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

'अब शेख अबल फ़जल ग्रन्थ के कारण प्रभु को नमस्कार करि कै अकबर बादशाह को तारीख लिखमे को कसत करे है अरु कहै है···"

उपरोक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट परिलक्षित हो रही है कि इस काल में आकर गद्य-क्षेत्र में आत्म-कथा या जीवनी लिखने की सूझ भी लिपिवद्ध होना आरम्भ हो गई थी।

इधर किसी अज्ञात लेखक ने संम्वत् १७६० के लगभग "नासिके-तो-पाख्यान" नामक कथात्मक शैली में पुस्तक लिखी। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :—

हे ऋषीस्वरो ! और सुनो, मैं देख्यौ है सो कहूं। कालै वर्ण महादुख के रूप जमकिंकर देखे।"

इस पुस्तक का रचना काल बहुत से ग्रंथों में १७०३ भी उल्लिखित है किंतु शब्द-शैली और उदाहरण के आधार पर यह गद्य रचना १७०३से आगे१७६०की ही प्रतीत होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रज-भाषा-गद्य में जीवनी तथा कथा शैली भी लिखना इस काल में आरम्भ हो गया था—भले लड़खड़ाती हुई हालत में ही क्यों न हो।

इधर सूरत मिश्र ने "**बैताल पच्चीसी**" नामक पुस्तक की रचना की। इसका समय १७१० प्रतीत होता है।

उपरोक्त गद्य साहित्य के अतिरिक्त इस काल में नाटक भी लिखे गये, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१. कविवर देव रचित "**देव भाषा प्रपंच।**"

२. राम कवि रचित '**हनुमंत नाटक**।

३. नेवाज रचित "**शकुन्तला नाटक**"।

४. रींवा नरेश महाराज सिंह रचित "**आनन्द रघुनन्दन**"।

५. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपाल चन्द्र जी रचित "**नहुष**" नाटक।

यह कहा जाता है कि महाराज विश्वनाथ रचित 'आनन्द रघुनन्दन' हिंदी का प्रथम, सफल एवं नाटकीय-शिल्प-विशेषताओं से पूर्ण नाटक है। किन्तु बहुत से लोग गोपाल चन्द्रकृत '**नहुष**' को ही हिन्दी का प्रथम नाटक मानते हैं, पर यह विवाद का विषय है।

ध्यान रखने योग्य बात है कि रीतिकाल में जितना भी ब्रज-भाषा का गद्य-साहित्य लिखा गया, उसका प्रायः भाग संस्कृत साहित्य से अनुप्राणित एवं अनुमोदित है। इधर भाषा भी बड़ी जटिल एवं नीरस है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"**अंगना जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश करि। जु कार्य करन चाहति है ता विषै। ब्रह्मा ऊँ। प्रत्यूहं आधातुं। अंतराड कीवे कहं। कातर। काइरु है। काइरु कहावे असमर्थ**···।"

ब्रजभाषा गद्य के प्रति साहित्यिक दृष्टिकोण

कुल मिलाकर ब्रजभाषा गद्य के प्रति जो साहित्यिक दृष्टिकोण बन सकना सम्भव है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो गद्य राजस्थानी मिश्रित अपभ्रंश भाषा में लिखा हुआ हमें उपलब्ध होता है और जो भाषागत् शैलीगत् त्रुटियें उसमें विद्यमान हैं···उससे अधिक कोई नवीन उल्लेखनीय प्रगति ब्रजभाषा के ग्रन्थ में नहीं आ सकी। हाँ, यहाँ तक आकर इतना अवश्य हुआ कि हिन्दी गद्य का क्षेत्र-फल काफी बढ़ गया, एवं उसका विषय पूर्वकालीन गद्य की भाँति केवल उपदेश, उल्लेख एवं सम्प्रदायिकता का ही बंदी बनकर न रहा—इस काल तक आकर गद्य काफी स्वच्छंदता अपना चुका था एवं जनरुचि के अनुकूल भी बनना आरम्भ हो गया था। फिर भी भाषा की अस्तव्यस्तता एवं शैली की नीरसता

बनी रही। फलस्वरूप, अल्प समय में ही ब्रजभाषा गद्य को गद्य के लिए अनुपयोगी ठहरा कर खड़ीबोली गद्य का जन्म एवं विकास आरम्भ हुआ। इस प्रकार हिन्दी गद्य का आरम्भ जो लगभग १० वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक चलता रहा जो बस, केवल चलता ही रहा, उसका अपना कोई साहित्यक रूप-संगठन स्थापित न हो सका—न भाषा की दृष्टि से, न शैली की दृष्टि से और न विषय ही की दृष्टि से। साहित्यिक गद्य का सन्तोषजनक विकास-क्रम १९ वीं सदी अर्थात् भारतेन्दु युग से ही आरम्भ हुआ—वह भी खड़ी बोली हिंदी भाषा में। अतः १९ वीं सदी के खड़ी बोली गद्य के विकास-क्रम का विवेचन करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम इस खड़ीबोली की पूर्व परम्परा एवं उसके पूर्व अस्तित्व का तुला हुआ परिचय प्राप्त कर लें।

खड़ी बोली का परिचय

जिसे हम आज हिन्दी राष्ट्रभाषा कहते हैं वास्तविक अर्थों में उससे तात्पर्य खड़ी-बोली से है। इस खड़ी बोली का एक मात्र सम्बन्ध प्राचीन **"शौरसैनी अपभ्रंश"** भाषा से है। अन्य भारतीय आर्य भाषाओं—राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, पहाड़ी, मराठी, सिंधी एवं लहंदा—की भाँति हमारी हिन्दी खड़ी बोली भाषा का जन-बोली सम्बधित इतिहास बहुत पुराना है। अपभ्रंश भाषा से इन आर्य-भाषाओं का स्वतंत्र अस्तित्व लगभग ११-१३ वीं शताब्दी में आकर बना। हिन्दी खड़ी बोली का अस्तित्व हम ई० सन् ७०० के उत्तरार्ध से पाते हैं। दक्षिण्याचार्य चिन्होद्योतन की **"कुवलयमाला कथा"** में खड़ी बोली हिन्दी गद्य का कुछ-कुछ संकेत पाया जाता है—

"तेरे मेरे आउ, त्ति जम्पिरे मज्झ देसेय"

इस वाक्य में खड़ी बोली हिन्दी के सर्वनाम **"तेरे मेरे"** प्रयुक्त हुए हैं। इस उदाहरण से यह बात भी सूक्ष्म रूप में प्रगट होती है कि इससे पहले भी खड़ी बोली का बोलचाल की भाषा में प्रयोग रहा ही होगा, चाहे कितनी भी थोड़ी मात्रा में क्यों न रहा हो। क्योंकि जो भाषा कभी लिखने में प्रयुक्त होगी निश्चय ही उसका अंकुर बोलचाल की बोली में प्रस्फुटित हुआ होगा। ९वीं शताब्दी में इधर पश्चिमी जैन एवं पूर्वी बज्र-यानी सिद्धों की भाषा में भी इस खड़ी बोली का रूप काफी पनपता प्रतीत होता है। **'सरहपा'** का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

"जहँ मन पवन न सँचरई, रवि शशि नाह प्रवेश।

जैन पंडित देवसेन सूरि का संवत् ९९० के लगभग लिखा यह उदाहरण भी देखिए—

"जो जिन सासण भासयउ, सो मइ कहियउ सारु ।
जा पाले सइ भाउ करि, सोतरि पावउ पारु ॥"

इन दोनों उदाहरणों में खड़ी बोली हिन्दी के शब्दों का आदि रूप देखने को मिलता है, और वह भी आधुनिक ढंग का सा ही—पवन, रवि, शशि, जो, जिन, आदि···। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय भारत की विभिन्न अपभ्रंशों से विभिन्न आर्य भाषाओं का जन्म एवं लालन-पालन हो रहा था उसी समय हिन्दी खड़ी बोली का भी अपना किंचित तो अस्तित्व था ही, चाहे घुटुरन चलने वाला ही क्यों न कहा जाय। इसके पश्चात् साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी का परिचय हम हिंदी साहित्य के आदिकाल—१०५०—से भली प्रकार कविता जगत के अन्दर पाते हैं। कबीर, खुसरो एवं गोरखनाथ आदि की रचनाएँ इस बात का अकाट्य प्रमाण हैं। यही भाषा दक्षिण में पहुँचकर एक बार दक्षिणी हिन्दी, हिन्दवी के नाम से पुकारी गई जिसका विवरण यहाँ प्रस्तुत करना विषय संगत नहीं, क्योंकि यह विषय भाषाविज्ञान सम्मत है। कुछ भी हो लगातार सातवीं-आठवीं शताब्दी से लेकर लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक हिन्दी खड़ी बोली का प्रयोग हिन्दू-मुसलमान साहित्यकारों द्वारा होता ही रहा—कम मात्रा में सही, पर हुआ—इस बात के लिए साहित्य का इतिहास साक्षी है। १३-१४ वीं शताब्दी के बाद भारत के कवियों—तुलसी, सूर, जायसी आदि ने अवधी और ब्रजभाषा को साहित्य में प्रयोग किया और खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग उत्तरी भारत में नगण्य-सा हो चला। किंतु दक्षिण भारत में ख्वाजा बंदा निवाज (१३११-१४५३) आदि मुसलमान साहित्यिकों ने इस हिंदी खड़ी बोली में अपनी रचनायें लिखीं। इस क्रम में यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि हिंदी भाषा का प्राचीन नाम हिंदी न होकर 'भाषा' था। 'हिन्दी' नाम तो आरम्भ में मुसलमानों ने हिंद में रहने वालों की भाषा को 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' कहकर दिया है। हिंदी साहित्य में सर्व प्रथम इस खड़ी बोली नाम का उल्लेख लल्लूलाल एवं सदल मिश्र ने किया है। खड़ी बोली आज प्रायः संघर्ष रूप में अपनी तीन प्रकार की भाषा निर्धारित करती है—हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी। साफ़ बात यह है कि हिंदी-भाषा नाम भले ही मुसलमानों ने भारत की उस भाषा को दिया हो जो बराबर सातवीं सदी के उत्तरार्ध से प्रयोग में चली आ रही थी किंतु खड़ी बोली हिंदी का अस्तित्व मुसलमानों का बनाया हुआ नहीं है। हिंदी खड़ी बोली की उत्पत्ति शौर-सैनी अपभ्रंश से है—उर्दू या साहित्यक उर्दू, जिसका नाम रेखता भी रहा है, वह हिंदी खड़ी बोली के अन्तर्गत या ऊपर नहीं आ सकती। जिस भाषा का उद्गम हमारे प्राचीन वाङमय में आभासित हो वह भाषा हिंदी खड़ी बोली है और जो भाषा फ़ारसी-अरबी मिश्रित, भारत के मुसलमानों द्वारा साम्प्रदायिक या राजनैतिक-व्यापारिक कारणों से विनिर्मित लश्करी भाषा है, वह उर्दू है, जिसकी

हिमायत और महत्ता आज स्वतन्त्र भारत में समाप्त हो जानी चाहिए—यही उचित एवं न्याय-संगत है।

इस प्रकार खड़ी बोली हिंदी भाषा से अर्थ उस भाषा से है जिसका इतिहास हिंदी साहित्य के अन्तर्गत १००० वर्ष से भी अधिक पुराना है, और कि जो न केवल दिल्ली मेरठ के आस-पास वरन् जो रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फर नगर, देहरादून, अम्बाला, सहारनपुर एवं पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में व्यापकता से प्रचलित है। न केवल इतना ही, अपनी जन-सरलता एवं प्रचलितता के कारण आज तो वह सारे भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित है। इस बोली के बोलने वाले आज लगभग ५५ लाख से भी अधिक व्यक्ति हैं।

उर्दू : रेखता और हिन्दी का अन्तर

हिन्दी खड़ी बोली उर्दू का बहुत कुछ पूर्व-सम्बन्ध उर्दू या रेखता से भी मिलकर विकसित हुआ; अतः यहाँ उर्दू एवं रेखता का परिचय पा लेना उचित रहेगा। उर्दू एवं रेखता भाषा का प्रचार कोई विदेश में नहीं हुआ। वह भी भारत की जनता के मध्य ही फूला-फला। अतः उर्दू या रेखता भाषा की जो बगिया मुसलमानों द्वारा यहां सींची गई उसकी मूल हिन्दी भाषा ही है, जिसकी प्राचीनता के विषय में हम पीछे लिख आए हैं। यहां हमे यह ध्यान रखना है कि प्रारम्भ में तो हमारे यहाँ के महान कवि-कबीर, नानक, मीरा सूर एवं तुलसी आदि ने उर्दू के शब्दों को अवधी एवं ब्रज-भाषा आदि की कविताओं में स्वाभाविक ढंग से अपनाया है,किन्तु मुग़लकाल के कट्टर सुन्नी मुसलमान बादशाह, शाहजहां-औरंगज़ेब के समय में उर्दू या रेखता भाषा का रूप बराबर सम्प्रदायिक बनता गया और यों फारसी-अरबी तथा तुर्की शब्दों के अधिक से अधिक क्या. पूर्णतः चलती बोली में प्रयोग हुए रूप का नाम उर्दू या रेखता कहा—समझा जाने लगा। यद्यपि हिन्दी-हिन्दू कवियों ने इस समय भी साम्प्रदायिक भावनायुक्त उर्दू एवं रेखता भाषा से कोई विरोध-विद्रोह न रक्खा और बराबर उन्होंने—विशेषत ब्रजभाषा शैली में—उसे प्रयुक्त किया है। प्रमाण स्वरूप ई० सन १६७१ में रचित कुलपति के इस छंद को देखिये जिसमें लगभग ९० प्रतिशत उर्दू या रेखता के शब्द प्रयुक्त हैं—

"हूं मैं मुश्ताक तेरी सूरत का नूर देख,
दिल भरपूर रहे कहने जबाव से ॥
मेहर का तालिब फकीर है मेहरबान,
चातक जो जीवता है स्वाती वारे आब से।
तू तो है अमानी यह खूबी का खजाना तिसे,
खोलि क्यों न दीजे सेर कीजिए सबाब से,

दो की ताब जान होत है कवाब बोल,
हयाती का आब बोलो मुख महताब से।

और १८ वीं शताब्दी के प्रमुख ब्रजभाषा के कवि पद्माकर का यह पद भी देखिये, जिसमें उर्दू या रेखता का सद्-अपनाव प्रकट है—

"गुलगुली गिल में गलीचा हैं, गुणीजन हैं,
चाँदनी हैं, चिक है, चिरागन की माला है।
कहें पद्माकर त्यों गजक, गिज़ा हैं सजी,
सेज है, सुराही है, सुरा है और प्याला है।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एत उदित मसाला है।
तानतुक ताला है, विनोद के रसाला है,
सुबाला है, दुशाला है, विसाल। चित्रशाला है।"

ऐसे छंद १६ वीं १७ वीं १८ वीं शताब्दी के हैं जिनसे यह साफ़ प्रकट होता है कि मुसलमानों की ओर से बराबर यह प्रयत्न-प्रभाव किया—डाला जा रहा होगा कि जिससे हिन्दी के स्थान पर फारसी-तुर्की भाषा-शब्दावली स्थापित हो। यह काल भी शाहजहाँ-औरंगजेब और उनके उत्तराधिकारियों के शासन का काल था जिसमें हिन्दुओं की बड़ी विषम दशा थी, यह इतिहास सम्मत बात है। वास्तव में बात ऐसी है कि उर्दू भाषा से मुसलमानों का उद्देश्य-तात्पर्य यह था कि वह भाषा जिससे वह अपने यहां की भाषा,अरबी-तुर्की-फारसी के साथ यहां की प्रचलित भाषा को बोल-समझ सकें। यों उर्दू यहां के मुग़ल दरबारी सिपहसलारों और शहज़ादों की भाषा थी, किन्तु प्रारम्भ में लोग यहां की प्रचलित बोलियों से द्वेष नहीं, लगाव की भावना भी रखते थे जो आगे १७ वीं १८ वीं शताब्दी में गालिब, मोमिन मीर एवं ज़ोक आदि कवियों तक आकर पूरी तरह सम्प्रदायिक बन चुकी थी और कि जिसके साथ हिन्दी-हिन्दुओं का कोई भाषागत् सरोकार अनुभव नहीं किया जाता था। मुग़ल सैनिकों, दीवानों और दरबारों नें इस उर्दू भाषा के प्रचार-प्रसार में पूरा सहयोग दिया और दरबारी हिन्दी कवियों की नियुक्ति ने तो उर्दू भाषा को और भी व्यापक मैदान मारने का मौक़ा दिया। बिहारी, रहीम, रसखान, ग्वाल, नागरीदास आदि कवियों ने उर्दू भाषा शब्दावली को अपनी कविताओं में काफी प्रयोग किया है जिसके दो उदाहरण हम ऊपर दे आए हैं।

उर्दू और रेखता का मूल अंतर कुछ भी नहीं केवल नाम एवं प्रचारक्षेत्र का अंतर है। रेखता का स्पष्ट अर्थ है वह भाषा जो फारसीमय हो या शाहेवक्त की दरबारी भाषा! एक प्रकार से आम लश्करी भाषा का साहित्य संस्करण है रेखता

भाषा। मिर्ज़ा गालिब ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ दीवाने-गालिब की भाषा को भी रेखता ही कहा है। पहले रेखता भाषा का प्रचार दक्षिण में हुआ क्योंकि मुगलों या मुसलमानों का मुख्य राजनीतिक संघर्ष दक्षिण में, प्रारम्भ से ही रहा। उत्तरी भारत में यद्यपि उनका निजाम पूर्णतः स्थापित था किन्तु दक्षिणी भारत से उनका दूर का लगाव था। यों रेखता भाषा का प्रथम नारा दक्षिण से ही आरंभ हुआ। १५८० के लगभग गोल-कुण्डा का शाह वली मोहम्मद, रेखता का पहला कवि है। रेखता के अन्य बहुत से कवियों ने बड़ा अच्छा प्रेम कथा-काव्य लिखा, जिसमें मुहम्मद शाह या जिल्ले शाह इब्न निशारी (फूलवानी के रचियता) तहमिनूद्दीन (किस्साए कामरूप के लेखक) मौलाना वजीह (सबरस प्रेम कथा के लेखक) आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मौलाना वजीह ने 'सबरस' ग्रंथ गद्य में लिखा है, और जिसका गद्य फारसीनुमा गद्य ही है। अनेक दरबारी कवियों ने भी इस रेखता भाषा के नाम पर साहित्य रचना की जिसमें सादी (ई० सन १५५५) अफजल (ई० सन १६४०) वली (ई० सन १७७४) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सूफी कवियों ने भी अपनी रचनाएँ केवल फारसी-हिंदी में लिखीं परन्तु उनकी शैली, लिपि-भाषा भी फारसीमय है, जिसे व्यापक रूप में रेखता ही कहा जा सकता है। इन सूफी कवियों में केवल जायसी—प्रसिद्ध काव्य पद्मावत के रचियता—ही ऐसे हैं जिन्होंने शैली भले ही कैसी भी रक्खी हो किन्तु अवधी भाषा को ही महत्वपूर्ण मानकर रचना की है। पर इतना अवश्य है कि भारत के कट्टर से कट्टर उर्दू या रेखता के कवियों में भी यहां की ब्रज-भाषा का लोच-लचकाव जाने-अजाने बना ही रहा और किन्ही कारणों से दिल्ली, लखनऊ और काशी के पारस्परिक आदान-प्रदान के अनुकूल 'रेखता' के नाम पर एक अन्य भाषा भी पनप रही थी जिसमें आज की हिन्दुस्तानी का स्वरूप पनपता प्रतीत होता है। शायद यही भाषा कालान्तर में विशुद्ध हिन्दुस्तानी कही गई। भारतेन्दु जी के पिता कविवर गोपालचंद्र जी का यह पद्य इस बात का प्रमाण है—

"जाग गया तब सोना क्या रे।
जो नर तन देवन को दुर्लभ, सो पाया अब रोना क्या रे।
ठाकुर से कर नेह आपना, इन्दिन के सुख होना क्या रे।
दारा सुवन सदन में पड़के, भार सबों का ढोना क्या रे।
हीरा हाथ अमोलक पाया, काँच भाव में खोना क्या रे।
दाता जो मुख मागा देवे, तब कोड़ी भर देना क्या रे।
'गिरिधरदास' उदर पूरे पर, मीठा और सलोना क्या रे।"

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि उर्दू या रेखता भाषा का अस्तित्व भारत में ही पनपा, बढ़ा, प्रभावशाली भी बना—किन्तु उसकी सत्ता भारत की हिन्दी भाषा से

न तो अलग रही, न रह सकती थी। जो कुछ अलगाव हुआ उसका कारण बढ़ती हुई मुगल साम्राज्यवादिता एवं विदेशी भाव-युक्त-साँस्कृतिकता से संयुक्त है। समय पाकर हिन्दी भाषा का रूप पनपता ही गया और उसमें रेखता एवं उर्दू समाती गई। अंतिम मुगल वंशजों ने ब्रज-भाषा की कविता को सराहा, उसमें उन्होंने लिखा भी और हिन्दी उर्दू मुठभेड़ से पूर्व—जिसका प्रकरण हम आगे चलाएँगे—हिन्दी-उर्दू या रेखता का साहित्यिक प्रयोग काफी मिलजुल कर चला। स्वयं पुराने खेवे के मुसलमान महान् कवियों—गालिब, मीर आदि—ने भी ब्रजभाषा की अदा अपनी विशुद्ध रेखता की रचनाओं में जाने-अनजाने ग्रहण की है। सच्चाई तो यह है कि उर्दू या रेखता भाषा के तथा-कथित प्रचार ने आगे हिन्दी खड़ी बोली हिन्दुस्तानी भाषा का पथप्रदर्शन किया, चाहे कैसे भी हुआ हो। तभी तो कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालिज के अध्यक्ष डा० गिल क्राइस्ट ने लल्लूलाल जी से आग्रह किया कि वे आमफ़हम हिन्दुस्तानी (उर्दू या फ़ारसी नहीं) रेखता भाषा में अंग्रेजों को पढ़ाने के लिये कोई हिन्दी गद्य ग्रन्थ लिखें और तब लल्लूलाल जी ने उनका आग्रह माना। डा० गिल क्राइस्ट ने तो यहाँ तक विचार प्रकट किये कि "**हमें किताबी, मजलिसी या दरबारी उर्दू की जरूरत नहीं है, 'ठेठ हिन्दुस्तानी,' 'खड़ी बोली', 'सलीस रिवाजी रेखता' अपनी जबान मुआफिक यहां तक हिन्दी रेखता में लिखना शुरू करो।**"

उनके इस विचार से यह साफ जाहिर है कि वे हिन्दी को रेखता या रेखता को हिन्दी ही समझ कर उसे श्रेष्ठ सद्-सरल भाषा मानते थे। उर्दू, जो मूलतः मुसलमानी लश्करी भाषा थी, उसे उन्होंने उपयुक्त न समझा। यहाँ उर्दू और रेखता के मूल अन्तर को यदि हम स्पष्ट करें तो कहेंगे कि उर्दू कालान्तर में कट्टर मुसलमानी साम्प्रदायिक भाषा बनी—बनी रही—और रेखता चूँकि दक्षिण के मुसलमानों ने प्रयोग की, अतः वह संस्कृत की परम्परा या भारत की दक्षिणी भाषा-शैली के अनुरूप रही। और जो मुसलमान कवि कालान्तर में दिल्ली आये उन्हें उर्दू में ही रचना करने के लिये विवश किया गया; यद्यपि उन्होंने उर्दू को अधिक अपनाना अच्छा न समझा। निस्संदेह उर्दू एवं रेखता दोनों ही मुसलमानों की भाषाएँ रहीं जिनकी लिपि-शैली फारसी-भाषामय रही और ये तो हिन्दी उस काल से सम्बन्धित सभी मुसलमान कवियों की भाषा रही किन्तु रेखता में भारतीयत्व प्रधान रहा किन्तु उर्दू में विदेशीपन ही विदेशी-पन गरजता रहा। संक्षेप में, उर्दू मुसलमानों के शासन की कठोरताजनित फारसी-तुर्की-अर्बीमय भाषा हैं किन्तु रेखता भारतीय और इस्लामी भाव-शैली मिश्रित भाषा है, किन्तु लिपि दोनों की ही प्रायः एक रही, फारसी! परन्तु हिन्दी भाषा का मूलतः सम्बन्ध संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंशों से है। परन्तु समय एवं आवश्यकता के अनुरूप उसने उर्दू-फारसी-अरबी एवं तुर्की क्या आधुनिकतम विदेशी भाषा अंग्रेजी का भी अपने में

यथासम्भव समाहार किया है। हिन्दी गद्य के विकास में इसी हिन्दी-उर्दू भाषा का मिश्रित प्रयोग हुआ है जिसे 'हिन्दुस्तानी' भाषा कहा जा सकता है। किन्तु विशेष ध्यान देने वाली बात यही है कि इस प्रयोग में उर्दू भाषा की ओर अधिक झुकाव का अर्थ है हिन्दी भाषा से अलगाव। इसी के लिये खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू का अग्र-विवेचित प्रकरण प्रस्तुत होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि खड़ी बोली भाषा के साहित्यिक रूप के पनपने से पूर्व ही उर्दू का सहयोग बना रहा है गो कि स्वतंत्र रूप में हिन्दी खड़ी बोली का अस्तित्व उर्दू की उत्पत्ति से भी पूर्व का हैं।

खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भिक परिचय

हम ऊपर लिख आए हैं कि हिन्दी खड़ी बोली का प्रयोग एवं प्रचार सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही बराबर किसी न किसी प्रकार हिंदी साहित्य के अन्तर्गत होता चला आया है। कुछ लोगों का ऐसा विचार बनता है कि खड़ी बोली के गद्य का जन्म एकमात्र अंग्रेजों के प्रयास एवं प्रेरणा से ही हुआ है। ऐसी बात विचारना कुछ भ्रममूलक है। खड़ी बोली गद्य को अंग्रेजों के द्वारा प्रोत्साहन पाने एवं प्रसार करने के साधन अवश्य मिले किन्तु उसकी अपनी सत्ता पूरी तरह प्राचीन है। खड़ी बोली में निरंतर, चाहे बोली के रूप में ही क्यों न हो, साहित्य रचना होती चली आई है। अनेक साधु-सन्तों के अतिरिक्त मुग़ल-काल में खड़ी बोली की काफ़ी प्रतिष्ठा रही है। मुग़ल साम्राज्य की स्थापना ने खड़ी बोली को जो गति प्रदान की है वह किसी से छिपी नहीं है। यह कहना तो न्यायसंगत न होगा कि खड़ी बोली का अस्तित्व ही मुसलमानों ने स्थापित किया है किंतु उनके द्वारा इसका साहित्य में प्रतिष्ठापन पूरे ज़ोर-शोर के साथ हुआ, यह सत्य है। हाँ, भाषा की दृष्टि से उसमें उर्दू-फ़ारसी (रेखता) की साम्प्रदायिकता बराबर बढ़ती ही रही। जिसका परिणाम यह हुआ कि एकबारगी हिंदी खड़ी बोली का अस्तित्व पूरी तरह ख़तरे में पड़ गया। किन्तु अपने भीतरी बल से वह आज मुक्त होकर भारत की राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हो चुकी है। संक्षेप में, हिन्दी खड़ी बोली को पूर्व-काल में मिले राजाश्रय के आधार पर काफ़ी परिपक्वता प्राप्त हुई।

इस प्रकार यद्यपि खड़ी बोली का अपना साहित्यिक महत्व पद्य के अन्तर्गत बहुत प्राचीन है तथापि उसका गद्य में महत्व सर्वप्रथम अकबर के दरबारी कवि गंग के **"चंद छंद वर्णन की महिमा"** पुस्तक में आरम्भ हुआ माना जाता है। यह ग्रन्थ अकबर के शासन-काल संवत् १६२७ में सम्भवतः लिखा गया। इसका एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत है—

"इतना सुनके पातसाहिजी श्री अकबर साह जी आद सेर सौना नरहर दास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया।" प्रस्तुत उदाहरण से यह स्पष्ट है कि

प्राचीन गद्य की अपेक्षा यह गद्यांश अपने में खड़ी बोली भाषा के वाक्यों का विन्यास गठीले ढंग से समाहित किये है। निश्चय ही खड़ी बोली गद्य का यहाँ से निरंतर विकास एवं परिष्कार होता गया है। वास्तव में गंग का गद्य खड़ी बोली गद्य का सूत्राधार है। वैसे इससे पूर्व जैन विद्वान हेमचन्द सूरी के व्याकरण ग्रन्थ **'सिद्ध हेमचन्द शब्दानुशासन'** (१०९३-११४२) में खड़ी बोली गद्य रचना के सूक्ष्म वाक्य एवं शब्दों का भान होता है। भक्ति-कालीन गद्य रचयिताओं के बहुत से ब्रजभाषा के गद्यांशों में भी इस खड़ी बोली गद्य के वाक्यांशों का संकेत हमें प्राप्त हो जाता है। यह ठीक है कि खड़ी बोली गद्य का वाँछित विकास एवं प्रसार भारतेन्दु काल से आरम्भ होता है किन्तु उनसे पूर्व **"चंद छंद वरनन की महिमा"** पुस्तक से लेकर भारतेन्दु काल के आरम्भ तक हिन्दी खड़ी बोली गद्य के उतार-चढ़ाव का इतिहास भी काफ़ी महत्वपूर्ण कहा जायगा। यही वह समय था जब ब्रजभाषा गद्य की सीमा के भीतर, उस सीमा को विध्वंस करने एवं अपना अस्तित्व जमाने का हौसला खड़ी बोली का गद्य दिखला रहा था। इस बीच उसे उर्दू कही जाने वाली भाषा से भी जी खोलकर संघर्ष करना पड़ा। राजनीतिक वातावरण अनुकूल न होने पर भी हिन्दी खड़ी बोली का बल किसी न किसी प्रकार बना ही रहा। दूसरी ओर नए शासक, अंग्रेजों द्वारा भी खड़ी बोली का गद्य, साहित्य एवं जनता के मैदान में पाँव पसार सकने की योग्यता प्राप्त करने में जुटा। कहने का तात्पर्य यह है कि जो लोग भारतेन्दु काल से ही हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का विकास मानते हैं वह उसकी संघर्षशील पृष्ठ-भूमि की अवहेलना करते हैं। प्रगति का अनुमान संघर्ष की पृष्ट-भूमि ही तो है! यही बात विचार में रखकर हम भारतेन्दु काल से पूर्व जो संघर्ष हिन्दी खड़ी बोली के गद्य को करने-झेलने पड़े, उन्हें संक्षेप में नीचे प्रकट करते हैं।

चार महारथी दो राजे

खड़ी बोली गद्य के प्रथम संस्थापक चार महारथी—मुंशी सदासुख लाल, इंशा-अल्लाखाँ, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करने से पहले हम उचित समझते हैं कि इनसे भी पहले के दो लेखकों—रामप्रसाद निरंजनी एवं पण्डित दौलतराम—के खड़ी बोली के गद्य साहित्य लिखने का उल्लेख कर दें।

रामप्रसाद निरंजनी

गंग कवि के **'चंद छंद बरनन की महिमा'** ग्रन्थ के पश्चात् इन्होंने सबसे पहले प्रौढ़ता लेकर खड़ी बोली गद्य में अपना **"योग वासिष्ठ"** नामक ग्रन्थ लिखा। हिन्दी खड़ी बोली गद्य का यह ऐसा ग्रन्थ है कि जिसको पढ़कर यह स्पष्ट होता है कि संवत् १८०० से पूर्व ही खड़ी बोली गद्य का—समय एवं परिस्थितियों के अनुकूल या प्रतिकूल—काफी प्रौढ़ स्वरूप स्थापित होने लगा था। इस ग्रन्थ को पढ़कर हम यह सहज विचार कर

सकते हैं कि इसके ग्रन्थ में आज के से परिमार्जित गद्य का गठन एवं बौद्धिक-स्तर मौजूद है। उदाहरण प्रस्तुत है—

"इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्राह्मणय ! केवल कर्म से ही मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से ही मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि जो लोग हिंदी खड़ी बोली गद्य-साहित्य का इतिहास केवल ८० या १०० वर्ष पूर्व का ही मानते हैं वह यह भूल जाते हैं कि खड़ी बोली गद्य का उपरोक्त उदाहरण भी प्रस्तुत हो सकता है। "हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष" समीक्षा पुस्तक में हिंदी के प्रतिष्ठित समालोचक श्री शिवदान सिंह जी चौहान ने इस विषय पर बड़ी नुक्ते की तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"पटियाला की महारानी को कथा बाँचकर सुनाने वाले पण्डित रामप्रसाद निरंजनी ने सन् १७३८ ई० में संस्कृत से योग वाशिष्ठ का साफ सुथरी परिमार्जित खड़ी बोली हिंदी में "भाषा योग वासिष्ठ" नाम से अनुवाद किया। लेकिन इससे यह परिणाम निकालना गलत होगा कि उनके समय में हिंदी में परिष्कृत गद्य लिखा जाने लगा था क्योंकि इनके पश्चात सन् १७६१ ई० में पंडित दौलतराम ने हरिषेणाचार्य कृत "जैन पद्मपुराण" का हिन्दी में जो अनुवाद किया उसकी भाषा त्रुटिपूर्ण और अपरिमार्जित है। इसी प्रकार राजपूताने के किसी अज्ञात लेखक की पुस्तक "माण्डोवर का वर्णन" (रचना काल लगभग सन् १८३० ई०) की भाषा शुद्ध खड़ी बोली नहीं है। इन कतिपय उदाहरणों से हिन्दी गद्य की परम्परा को उन्नीसवीं शताब्दी से पहले खींच जाना उचित नहीं जान पड़ता।"

वस्तुतः चौहान जी का तर्क काफी भरकम है, क्योंकि साहित्यक गद्य की परम्परा में तो प्रेमचद एवं प्रसाद युग तक आकर खड़ीबोली का गद्य किसी बड़े महत्व का नहीं बन पाया, और यह भी कि **'योग वासिष्ठ'** के पश्चात लिखे अन्य उल्लिखित गद्य-ग्रन्थ भी लचर सिद्ध हुए हैं। किन्तु हमारी समझ में चौहान जी ने अपनी तर्क में उस इतिहासिक परम्परा की चिन्ता नहीं की जो आधुनिक प्रगतिशील इतिहासिक काल के क्रम में भी हरप्पा एवं मोहनजोदड़ो की सभ्यता संस्कृति का अटूट सम्बन्ध प्रकट करती है। इतिहासिक परम्परा का अर्थ है तो यही कि किसी गतिशील वर्त्तमान अवस्था का किसी पूर्वकालीन तत्सम्बन्धी विकसित हुई परम्परा से एक पथ होना—पीछे और पीछे ही सही। फिर **"योग वासिष्ठ'** पुस्तक का गद्य कोई मरी हुई परम्परा का तो नहीं कहा जा सकता। उसका एक उदाहरण हम ऊपर दे ही आए हैं जिससे यह साफ़ प्रकट होता है कि आज भी इस ढंग का गद्य चौहान जी जैसे विशिष्ठ समालोचकों को छोड़कर बहुत से प्रतिष्ठित समालोचकों तक का भी पढ़ने के लिए नहीं मिलता। निश्चय ही यह तर्क कि **'योग वासिष्ठ'** के बाद का गद्य परिमार्जित नहीं बन सका

और इसलिये वह हिंदी खड़ी बोली गद्य के सूत्रपात के क्रम में नगण्य है ; अधिक विचारणीय एवं समीचीन सा प्रतीत नहीं होता। निश्चय ही यह माना जा सकता है कि 'योग वासिष्ठ' के गद्य के पश्चात् भारतेन्दु के कुछ आगे तक गद्य का वांछित सुगठित-स्वरूप स्थापित नहीं हो सका। किन्तु यह दृष्टिकोण हिंदी खड़ी बोली गद्य के क्रमिक विकास-इतिहास को झुलावा नहीं दे सकता।

इस प्रकार हम खुले रूप में यह कहने को तैयार हैं कि हिंदी खड़ी बोली गद्य का सर्व प्रथम प्रौढ़ गद्य-ग्रन्थ 'योग वासिष्ठ' है और इसके लेखक श्री रामप्रसाद निरंजनी ही खड़ी बोली गद्य के अग्रदूत लेखक हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं—

"जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य लेखक मान सकते हैं।"

राजस्थान बसवा (मध्य प्रदेश) के निवासी पण्डित दौलतराम जी ने सन् १९१८ में हरिषेणाचार्य रचित "जैन पद्म पुराण" का अनुवाद हिंदी खड़ी बोली के गद्य में किया—यह ग्रन्थ लगभग ७०० पृष्ठों का है।

पण्डित दौलतराम

तुलनात्मक दृष्टि से यह ग्रंथ पूर्व विवेचित 'योग वासिष्ठ' जैसा सम्पन्न भाषा एवं शैली की दृष्टि से नहीं बन सका है। अनुवाद की भाषा में टूट-फूट एवं अव्यवस्था स्थल-स्थल पर अखरती है। इतना होते हुए भी भाषा में संस्कृत का सम्बन्ध है—उर्दू का पुट नहीं। भाषा में कहीं-कहीं पर ब्रज-भाषा का लचकाव आ गया है। साथ ही भाषा समास एवं सन्धियों से अत्यधिक बोझिल तथा शैली अस्पष्ट हो गई है। प्रस्तुत उदाहरण से यह बात स्पष्ट प्रतीत हो जाती है—

"इस्बू द्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगधनामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमि विषै साँ ठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं.....।"

उपरोक्त गद्यांश से प्रकट है कि खड़ी बोली के इस उदाहरण में न तो साहित्यिक स्निग्धता है और न भाषागत् एकरूपता। हर प्रकार से यह मानने पर भी कि निश्चय ही यह खड़ी बोली गद्यांश का उदाहरण है हम यह नहीं मान सकते कि इसमें गद्य लेखन शैली का सुन्दर प्रतिपादन हो सका है।

रामप्रसाद निरंजनी एवं पण्डित दौलतराम के खड़ी बोली गद्य के उदाहरण एवं तत्सम्बन्धी उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच पाते हैं कि इस सीमा तक आकर खड़ीबोली-गद्य अपने हाथ-पाँव तो पसारने लगा था किंतु उसका साहित्यिक

महल नहीं बन पाया था। यहाँ से आगे खड़ी बोली का गद्य देश-काल की राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होता हुआ बराबर पनपता ही चला गया।

हिन्दी खड़ी बोली के गद्य-प्रचार के भीतर अनेक तत्व कार्य कर रहे थे जिन्हें यहाँ संक्षेप में जान लेना ठीक रहेगा। हिन्दी खड़ीबोली के प्रचार और सृजन से पूर्व ब्रजभाषा में जो गद्य संस्कृत एवं भक्ति-रीतिकालीन ग्रन्थों की टीकाओं, कथाओं और वार्त्ताओं आदि के लिये लिखा गया उसकी शब्द-योजना एवं विचार-अभिव्यंजना इतनी शिथिल थी कि वह नवीन युग के द्रुतगामी विचारों और मूल्यों की विवेचना के उपयुक्त न रही। दूसरे ब्रजभाषा में पद्य की अभिव्यंजना के लिये लालित्य और लोच ही लोच भरा हुआ था गद्य-शैली में निहित रहने वाला अनिवार्य भाषागत ओज या Force उसमें नहीं था। अतः युग की परिस्थितियों के आग्रह अनुसार ब्रजभाषा के गद्य का प्रयोग, प्रसार या प्रचार होना न सम्भव रहा और न किसी ने उस पर ध्यान ही दिया। हाँ, पद्य के लिये ब्रजभाषा काफ़ी समय तक खड़ी बोली हिन्दी के आगे अड़ी रह सकी। यद्यपि खड़ी बोली की दिनों दिन बढ़ती-सुधरती प्रगति ने उसे भी कालान्तर में ठप कर दिया। खड़ी बोली के गद्य का प्रचार-प्रसार और उसकी उत्तरोत्तर प्रगति का पहला मुख्य कारण तो यह रहा कि वह बहुत पहले से अच्छे कवियों द्वारा पद्य में बराबर प्रयोग होती आ रही थी और मुग़ल शासनकाल में तो वह जन-बोली, लश्करी बोली और दरबारी बोली भी रही थी। इधर अँग्रेज शासकों को भारतीय शासन की भेंट में यही खड़ी बोली प्राप्त हुई थी। फिर ब्रजभाषा का भले ही काव्यात्मक बड़ा महत्व रहा किन्तु वह कभी सभी स्थानों की आमफ़हम भाषा का स्थान प्राप्त न कर सकी थी जबकि खड़ी बोली की यह विशेषता ही सारी जनपदीय बोलियों से ऊँची है। उसकी समाहार शक्ति भी अपरिमित रही है। इन्हीं मूलभूत कारणों के फलस्वरूप हिंदी खड़ी बोली का गद्य उत्तरोत्तर विकास के सोपान चढ़ता हुआ आज सफलता का शिखर छू रहा है। प्रारम्भ में हिन्दी खड़ी बोली गद्य के प्रचार-प्रसारार्थ सोद्देश्य कार्य निम्नलिखित चार उन्नायकों ने किया; अतः उनका संक्षिप्त परिचय हम नीचे दे रहे हैं—

ब्रज और खड़ी बोली का गद्य-बल

मुंशी सदासुखलाल

मुन्शी जी का जन्म सन् १७४७ में हुआ और मृत्यु हुई सन् १८५२ में। आप उर्दू, फारसी और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। "हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ" नामक ग्रन्थ में श्री रामगोपाल चौहान जी ने लिखा है—

"जान गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से मुंशी सदासुखलाल ने श्रीमद्भागवत का हिन्दी में स्वतन्त्र अनुवाद 'सुख सागर' नाम से किया।" (पृष्ठ ११)

वास्तव में यह ठीक है कि मुन्शी जी अँग्रेजी-कम्पनी के नौकर रहे किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने जान गिल क्राइस्ट की प्रेरणा से ही 'सुख सागर' ग्रन्थ को लिखा होगा। यह प्रमाणिक है कि उन्होंने ६५ वर्ष की अवस्था में स्वयं कम्पनी की नौकरी को छोड़कर प्रयाग में निवास किया। उन्होंने लिखा है :—

"रस्मो रिवाज 'भाषा' का दुनियाँ से उठ गया।"

कुछ लगता है कि 'सुख सागर उन्होंने अपनी किसी स्वतंत्र प्रेरणा से लिखा होगा। इनके इस ग्रन्थ की भाषा भी 'योग वासिष्ठ' की तरह साफ-सुथरी है— कहीं-कहीं पर सुन्दर ढंग से उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। यद्यपि इसका गद्य काफ़ी प्रौढ़ है तथापि पंडिताऊपन एवं ब्रज-संस्कृत तत्सम शब्दों की खिचड़ी की झलक उसमें स्पष्ट प्रकट होती है। इंशा के गद्य की सुघराई एवं चलत-फिरत उसमें दिखलाई नहीं पड़ती। उदाहरण द्रष्टव्य है—

"विद्या इसलिये पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइये और फुसलाइये"

उदाहरण के "हूजिए" से प्रकट होता है कि इसमें ब्रज एवं पंडिताऊ बोली की घालमेल है। सूक्ष्मतः फिर भी मुंशी जी के गद्य में खड़ी बोली गद्य की रवानी कुछ बनी ही रही।

इंशाअल्ला खाँ फ़ारसी के बड़े विद्वान थे और उर्दू के शायर भी। इनका जन्म मुर्शिदाबाद में सन १७६४ में हुआ था और मृत्यु हुई सन १८१७ में। यह दिल्ली के शाह आलम द्वितीय के दरबार में रहे तत्पश्चात् ये लखनऊ के नवाब के यहाँ आकर रहने लगे। सम्भवतः इंशाअल्ला खाँ के द्वारा खड़ी बोली भाषा का सुथरा हुआ रूप इस तरह स्थापित हुआ होगा क्योंकि दिल्ली से ही खड़ी बोली का आरम्भिक प्रचार एवं महत्व स्थापित हुआ था। यह लिखना भी उचित रहेगा कि इंशाअल्लाह खाँ ने जो खड़ी बोली हिंदी गद्य अपनी पुस्तक उदयमान चरित, या 'रानी केतकी की कहानी' में १८०४ ई० के आसपास लिखा, वह उर्दू-फ़ारसी शैली, एवं वाक्य-विन्यास से मेल खाता है। यदि उसे हिन्दी खड़ी बोली गद्य की परम्परा में कोई स्थान या महत्व प्राप्त है तो इसलिए क्योंकि उसे इंशाअल्ला खां ने लिखा है—

इंशाअल्ला खाँ:—

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिस में हिन्दी की छुट और किसी बोली का पुट न मिले। तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच न हो।"

और इसी क्रम में फारसी वाक्य-विन्यास शैली का यह गद्यांश भी द्रष्टव्य है—

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन-भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आगई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

ऊपर दिये गये इस उदाहरण से जहाँ 'चाहत' द्वारा उर्दू भाषा के प्रचलित शब्द का परिचय मिलता है वहाँ "लहू बरसने लगा ·· तरसने लगा" वाक्य-विन्यास उर्दू-फ़ारसी वाक्य-विन्यास शैली का आभासित होता है। खेद है कि इंशाअल्लाह खाँ अपने 'हिन्दी की छुट' वाले आदर्श का आगे चलकर परिपालन न कर सके, फिर भी उन्होंने रवानीपूर्ण खड़ी बोली हिंदी भाषा में गद्य तो लिखा ही—यह भी बड़े साहस एवं गौरव का कार्य कहा जायगा। इंशा की भाषा चारों महारथियों में सबसे अधिक रोचक बन सकी है। न्याय की बात यही होगी कि यदि हम इन्शाअल्ला खाँ को हिन्दी खड़ीबोली गद्य का सबसे प्रथम ऐसा लेखक माने जिसने हिंदी खड़ीबोली भाषा को रवानी एवं रोचकता दोनों प्रदान की— जिससे कि आगे चलकर मुंशी प्रेमचन्द की भाषा का स्वरूप हमारे सामने आया। किसे पता कि यदि प्रेमचन्द जी इन्शा के समय में हुये होते तो वह उन्हीं के जैसा गद्य अपने श्रेष्ठ कहे जाने वाले उपन्यासों में लिख पाते। इंशा की भाषा में काफी कलाकारी भी प्रकट होती है—यथा,

"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूं अप· बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया।" —इस वाक्य-विन्यास में फ़ारसीपन का प्रभाव ज़ोरदार है; फिर भी यह खड़ीबोली गद्य का एक विकसित नमूना है। आज भी जिन्होंने नेहरू जी का भाषण सुना होगा या उनकी रची पुस्तकें पढ़ी होंगी वे पहचान सकते हैं कि तब की इंशा की भाषा आज की 'हिन्दुस्तानी' भाषा का प्रारम्भिक रूप है। हमें 'हिन्दुस्तानी' शब्द को लेकर कोई वितण्डा खड़ा करना नहीं, वरन यहाँ पर केवल यही कहना ध्येय है कि इन्शाअल्ला खाँ ने आज से लगभग सदीपूर्व ही हिन्दुस्तानी खड़ी बोली गद्य को स्थापित करने का बीड़ा उठाया था—एक उदार मुसलमान होकर ! इंशा की इस उदारता को हमें भुला नहीं देना है ; इससे खड़ी बोली हिन्दी का भाषा-गौरव प्रखर होता है।

लल्लूलाल :— लल्लूलाल जी का जन्म सन १७६४में एवं स्वर्गवास १८२६में हुआ। हम ऊपर एक स्थान पर कह आए हैं कि आरम्भिक हिन्दी खड़ी बोली गद्य की स्थापना में ईसाइयों का— चाहे उनकी कूटनीति की दृष्टि से ही सही—अच्छा सहयोग मिला। उसकी चर्चा हम आगे स्वतन्त्र रूप से करेंगे। यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त रहेगा कि फोर्ट विलयम कालेज के अध्यक्ष जॉन गिल क्राइस्ट के निर्देशानुसार लल्लूलाल एवं सदल मिश्र ने हिन्दी में अपनी पुस्तकें लिखीं।

लल्लूलाल जी आगरा के निवासी थे। इन्हों ने 'प्रेमसागर' नामक खड़ी बोली में

गद्य-ग्रन्थ लिखा जिसमें भागवत के ९ वें अध्याय की कथा कही गई है। लल्लूलाल जी की प्रतिज्ञा यद्यपि यह थी कि इस ग्रन्थ में वे उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग न होने देंगे किन्तु इस से वे बच नहीं सके—परिस्थिति ही कुछ उस समय की ऐसी बन चली थी, इसमें उनका कोई दोष नहीं कहा जा सकता। इधर ब्रजभाषा का पुट भी इतस्ततः आ धमका है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय न्हिलाय अति लाड़-प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाइ-बजाइ ताँडव नाच-नाच संगीन शास्त्र की रीति गाय-गाय लगे रिझाने।"

इस उदाहरण से यह साफ़ प्रकट होता है कि यहाँ तक आकर हिन्दी खड़ी बोली गद्य के पाँव शैली एवं शिल्प की दृष्टि से जमने लगे थे, यद्यपि ब्रजभाषा एवं पंडिताऊपन की घालमेल की खिचड़ी के अधकचरे चावल अभी तक साफ़ दिखलाई पड़ते ही रहे। फिर भी लल्लूलाल जी की भाषा में लालित्य काफी आ सका है। सम्भवतः **'प्रेम सागर'** का सृजन १८६० में हुआ था। इन्होंने **'सिंहासन बत्तीसी'** एवं **'बेताल पच्चीसी'** का भी खड़ी बोली गद्य में अनुवाद किया था।

सदलमिश्र

लल्लूलाल की भाँति सदलमिश्र ने भी फोर्ट विलियम कालिज की नियुक्ति के अन्तर्गत तथा गिलक्राईस्ट के कथनानुसार **'नासिकेतोपाख्यान'** का अनुवाद चन्द्रावली के नाम से किया। कहते हैं कि इस ग्रन्थ के लिखने का आदर्श उन्होंने नासिकेतु पुराण से बनाया था। लल्लूलाल की भाषा का पंडिताऊपन एवं इंशा की भाषा का फारसी-उर्दूपन सदलमिश्र की भाषा में देखने को नहीं मिलता। इनकी भाषा में सदासुखलाल की जैसी भाषा का मिलता-जुलता सा स्वरूप देखने को मिलता है। फिर भी सदलमिश्र की भाषा में इंशा की भाषा का जैसा न तो चुलबुलापन है और न मुंशी सदासुखलाल की भाषा जैसी प्रौढ़ता। हाँ, लल्लूलाल की भाषा की अपेक्षा सदलमिश्र जी की भाषा अधिक परिमार्जित कही जा सकती है। सदलमिश्र की भाषा की एक विशेषता यह अवश्य रही कि उसमें सरलता एवं व्यवहारिकता का कहीं पर भी अपघात नहीं हुआ। जबकि इनसे पूर्व के तीनों लेखकों में—कहीं भाषा तो कहीं शैली का अपघात होता ही रहा। इधर कुछ पूर्वीय बोली के शब्दों की भी खींचतान देखने को मिलती है। सदलमिश्र के गद्य का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"तब हर्ष से दूने वहीं लड़के को गोदी में उठा लिया और वेदमन्त्र से नहलाय बाहर आए। बार-बार विधि की स्तुति करने लगे कि धन्य हो पितामह, तुम्हारा कहा क्योंकर झूठ होए। चलो पुत्र की चिन्ता तो गई, अब भली भाँति से तपस्या

करूँगा। जो स्वर्ग से न टलूंगा।"

ऊपरके गद्यांशसे एक बात यह स्पष्ट परिलक्षित होती है कि यहाँ तक आकर हिन्दी खड़ी बोली गद्य का कोई न कोई व्यवहारिक रूप पनपेगा, इसकी सम्भावना घर करती चली जा रही थी।

यों, उपरोक्त चारों महारथियों ने संवत् १८०० के उत्तरार्ध में हिन्दी खड़ीबोली के गद्य में अपने ग्रंथ रचे। कुछ लोगों की पूरी मान्यता है कि यह ग्रंथ अँग्रेजों की कृपा, दया एवं अनुप्रेरणा के फलस्वरूप लिखे गये, किन्तु हमारा यह विश्वास है कि हिन्दी खड़ीबोली गद्य के दृष्टिकोण से, इन ग्रंथों का सृजन किसी की दया-कृपा एवं अनुप्रेरणा के आधीन नहीं हुआ। भाषा-साहित्य का विकास-क्रम ऐसी बातों एवं धारणाओं से देखना व समझना स्वस्थ बुद्धि का परिचायक नहीं कहा जा सकता। ग्रियर्सन, तासी एवं सर सैयद अहमद खाँ जैसे साम्प्रदायिक विद्वेष से भरे लोगों का कहना हम भारतवासियों के लिये पत्थर की लकीर नहीं बन जाना चाहिये कि खड़ी बोली भाषा भारतवर्ष में पहले कहीं नहीं थी, इसलिये जब लल्लूलाल ने प्रेम-सागर लिखा, उस समय उन्होंने एक बिल्कुल नई भाषा ही गढ़ी।"

निश्चय ही इस कथन में ग्रियर्सन साहब की बुद्धि केवल अँग्रेजी शासन एवं मुसलमानी ताल्लुक़ात को ही पहचान पाई—सम्भवतः हिन्दी खड़ीबोली भाषा-साहित्य का पूर्व इतिहास उन्हें याद न रहा या उसे उन्होंने स्वयं भुला दिया हो, कौन जाने? खैर हमें यहाँ खण्डन-मण्डन की विचार-पद्धति को न अपनाकर खड़ी-बोली के परम्परित गद्य का परिचय मात्र प्रस्तुत करना है और उपरोक्त विवेचन, जो हमने लिखा है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कम से कम खड़ी बोली गद्य का आरम्भिक अस्तित्व इन चार महारथियों द्वारा ही निर्मित किया गया—चाहे वह सीमेन्टिड न हुआ हो। इन चारों महारथियों के हिन्दी खड़ी बोली गद्य-ग्रंथ सृजन से एक लपट बिजली की भाँति मुसलमानों की ओर से उठी—उर्दू भाषा का एकाधिपत्य! और इधर ईसाइयों की धर्म पुस्तकों,—बाईबिल आदि का—भी हिन्दी में अनुवाद हुआ और उसकी आदर्श भाषा बनी मुंशी सदासुखलाल की भाषा। उदाहरण प्रस्तुत है—

"तब यीशू ने तुरन्त अपने शिष्यों को दृढ़ आज्ञा दी कि जब लौं मैं लोगों को विदा करूं नाव पर चढ़के मेरे पास आगे जाओ।"—कहने का तात्पर्य यह है कि इसी बीच हिन्दी उर्दू भाषा का साम्प्रदायिक सैलाब पूरे ज़ोर-शोर से उठना आरम्भ हुआ। उर्दू के समर्थकों ने यह वितंण्डा उठाया कि जन-साधारण की भाषा हिन्दी नहीं, उर्दू है जिसमें अरबी फारसी के शब्दों का अस्तित्व है। अंग्रेजों ने अपने धर्म-प्रचार के लिए स्कूलों में हिन्दी भाषा को लागू किया। अँग्रेजों का इतिहास हिन्दी में लिखा गया। इस समस्त हलचल की तह में अँग्रेजों का मूल उद्देश्य अंग्रेजी भाषा-संस्कृति का भारत

में फैलाना मात्र था। हिन्दी भाषा के प्रचार-कार्य का भुलावा देकर राजा शिवप्रसाद को हिन्दी भाषा-क्षेत्र के अखाड़े में खड़ा किया गया और इनके विरोध में भारतीयता की ओर से खड़े हुए राजा लक्ष्मणसिंह जी। फिर इनके बल को प्रोत्साहित किया स्वामी दयानन्द, पण्डित श्रद्धाराम फिल्लोरी आदि महापुरुषों ने। इस प्रकार उक्त चार महारथियों के द्वारा हिन्दी खड़ी बोली गद्य का जनता के सामने साहित्य प्रस्तुत हुआ। साथ ही हिन्दी खड़ी बोली गद्य के विकास में ईसाइयों का धर्म प्रचार एवं प्रभाव खूब तीव्रता के साथ चला, जिसका संक्षिप्त उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं।

ईसाई प्रचार-प्रभाव तथा निराकरण

हम ऊपर भी सूक्ष्म उल्लेख कर आये हैं कि ईसाइयों ने हिन्दी के विकास एवं प्रचार के लिए इंजील, बाइबिल एवं अँग्रेजी का इतिहास आदि पुस्तकों का हिन्दी भाषा में अनुवाद कराया इसके अतिरिक्त और भी ईसाई धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में हुआ। ईसाइयों के अनेक स्कूल भी खुले एवं सोसाइटियाँ भी स्थापित हुईं। आगरे की स्कूल-बुक सोसायटी के अंतर्गत १८३८ में इङ्गलैंड के इतिहास का और फिर दो वर्ष पश्चात् ही मार्शमेन के प्राचीन इतिहास का हिन्दी अनुवाद "कथासार" के नाम से छपा। इसके अनुवादक थे पं० रतनलाल जी। पादरीमूर ने इस पुस्तक का सम्पादन किया था। यहाँ हमें खड़ी बोली हिन्दी गद्य का विकसित होता हुआ स्वरूप देखने को मिलता है किन्तु उसमें पण्डिताऊपन भी रस-बसा है। एक उदाहरण देखिये—

"फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिए प्रजा की सहायता से 'पिसिस ट्रेटस' नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया।"

ईसाई साहित्य को हिन्दी खड़ीबोली गद्य में लिखने और अनुवाद करने वाले प्रारम्भिक लेखकों में ओंकारभट्ट, बद्रीलाल शर्मा एवं रतनलाल के नाम विशेष उल्लेखनीय कहे जायँगे। स्वयं विलियम कैरे ने खड़ी बोली हिन्दी भाषा के प्रचार-विकास में अपनी बड़ी साधना अर्पित की, यह सत्य है। उन्होंने जहाँ एक ओर सन् १८१९ में बाइबिल का हिन्दी अनुवाद स्वयं किया वहाँ रामायण एवं व्याकरण सम्बन्धी हिन्दी की छुटपुट पुस्तकें भी लिखीं। विलियम यकैरे के अलावा 'आसी' और 'जान' नामक ईसाइयों के हिन्दी भजन भी छपे और प्रचारित हुये; किन्तु यह सत्य है कि इन ईसाई हिन्दी लेखकों ने भले ही भाषा हिन्दी रक्खी हो किन्तु यहाँ की धार्मिक एवं साँस्कृतिक मान्यताओं पर कुठाराघात करके ईसाई मत का प्रचार ही जी खोल कर किया था। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"भट्ट ने पहले यह बात लिखी है कि देवताओं के कर्म सुकर्म हैं क्योंकि

यास्क ने इनको सुकर्म ठहराया है। सच तो यह है परन्तु हमारी समझ में इन्हीं बातों से हिन्दू शास्त्र झूँठे ठहरते हैं।"

जो कुछ भी हो पर यह निश्चित है कि अँग्रेज-ईसाइयों ने भारत में उर्दू की अपेक्षा प्रारम्भ में विशुद्ध हिन्दी को अपने हित में अपनाया था और उसके विकास का यथासम्भव वातावरण भी निर्मित किया था।

इस प्रकारसे सोसाइटियों में हिन्दी की पुस्तकों का प्रकाशन चलता था। भूगोल, इतिहास, भौतिक विज्ञान तथा रसायन शास्त्र आदि की पुस्तकें हिन्दी में छपने लगीं। मिर्ज़ापुर के आर्फन प्रेस तथा रामपुर, काशी, लुधियाना और कलकत्ते की सोसाइटियों एवं मिशनों के नाम इस कार्य के महत्व की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। आगरे की स्कूल बुक सुसायटी के अन्तर्गत ओंकार भट्ट ने सन् १८४१ में 'भूगोलसार' एवं बद्रीलाल शर्मा ने "रसायन प्रकाश" पुस्तकें लिखी। इधर कलकत्ते की स्कूलबुक सुसायटी के अंतर्गत "पदार्थ विद्यासागर" आदि साइन्स की पुस्तकें हिन्दी में छपी। इलाहाबाद मिशन की ओर से रीडरें हिन्दी में प्रकाशित की गई, जैसे, आजमगढ़ रीडर आदि। मिर्ज़ापुर के आर्फन प्रेस से हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन बड़े धड़ल्ले से हुआ। इसके अन्तर्गत पादरी शेरिंग ने बड़ा लेखन कार्य किया। उसकी कई शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें छपी, जैसे—भूगोल-विद्या, मनोरंजक वृत्तांत, जंतु-प्रबन्ध, विद्वानसंग्रह आदि। इन सभी पुस्तकों की प्रकाशन अवधि लगभग ६-७ वर्ष रही—सन् १८७६ से सन् १८८३ तक। हिन्दी भाषा के विकास में अँग्रेजों के आदेशों एवं पैम्फलेटों ने भी काफ़ी सहयोग दिया। कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना ने भी हिंदी खड़ी बोली की प्रारम्भिक गद्य रचना को विकसित किया। इस कालेज के प्रिंसीपल डा० गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से लल्लू-लाल, एवं सदलमिश्र ने क्रमशः श्रीमद्भागवत तथा नासिकेतपुराण को आदर्श मान कर प्रेमसागर एवं नासिकेतोपाख्यान पुस्तकें लिखी। इस विषय में हम स्वतन्त्र रूप से पीछे लिख ही आए हैं। सन् १७९३ में हिंदी प्रचार के लिये पादरी डा० विलियम कैरे की भी नीति काफी स्मरणीय कही जायगी। इधर सन् १८३६ में एक कानूनी धारा के अनुसार फ़ारसी को जनव्यापक भाषा न समझते हुये, अंग्रेजों ने हिन्दी और उसकी लिपि को कचहरी में प्रयोग करने की घोषणा की। आदेश इस प्रकार था—**"इसलिए हुक्म दिया गया है कि सन् १८४४ की कुवारबंदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर-बोर्ड में हो सो अपना-अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और फ़ारसी के नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करें कि डाक पर भेंजें और जौन अच्छरन में लिखा हो तौन अच्छरन में और हिन्दी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा।" मिति २९ जोलाई सन् १८३६।**—इसके अतिरिक्त फ्रेडरिक पिनकॉट नामक एक हिन्दी प्रेमी अंग्रेज ने उर्दू के एक व्यापारिक पत्र में हिन्दी के कुछ पृष्ठ अलग निर्धारित किये। यह पत्र

उन्हीं के सम्पादन में चलता था। ईसाइयों का 'लोकमित्र' नामक पत्र भी हिन्दी में प्रकाशित होता था।

यह ठीक है कि ईसाइयों के सहयोग एवं प्रयासों से तत्कालीन समय में, जब कि अँग्रेज़ भारत पर अपना शासन दृढ़ कर रहे थे, हिन्दी गद्य के सृजन को काफ़ी प्रकाश में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ, परन्तु फिर भी, चूंकि अँग्रेज़ों का एकमात्र उद्देश्य ऐसा करने में यही रहा कि उनकी सभ्यता, धर्म एवं संस्कृति का भारत की जन-चेतना में बिजली की तरह तीव्र प्रभाव फैल जाये इसलिये हिन्दुत्व के कुछ कट्टर समर्थकों एवं भारतीय धर्म के श्रद्धावान विशिष्ट विद्वानों ने अँग्रेजों की इस चाल को समझा और पूरे बल के साथ इन महापुरुषों ने अँग्रेज़ी धर्म प्रचार को, जो तेज़ी के साथ भारत में फैलना चाहता था, रोकने का प्रयत्न किया। वस्तुतः यदि उस समय ईसाइयों की सर्वतोमुखी कूटनीति की प्रतिक्रियाँ न होती तो अँग्रेज़ी भाषा, उसका साहित्य उसका धर्म उसकी संस्कृति और सामाजिकता के पाटों में भारतीयता अब तक कबकी पिस गई होती। १८३५ में यह प्रस्ताव पास करके कि अँग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय नवयुवकों को भी अच्छी-खासी सरकारी नौकरी मिलेगी, अँग्रेज़ों ने अपने यहाँ की भाषा, वहाँ के साहित्य, धर्म, संस्कृति एवं रीति-रिवाज़ों की चेतना यहाँ की निरीह जनता में फूंकनी चाही, फूंकी। परिणाम घातक तो हुआ ही, क्योंकि आज भी अँग्रेज़ी के हिन्दू-हिमायती हिन्दी को अपनी भाषा और उसके साहित्य को सम्पन्न साहित्य मानने को तत्पर नहीं और यह भी कि आज भी, आज के नवयुवक और नवयुवतियां अपने गुलामी के काल के रीति-रिवाज एवं रहन-सहन को 'माडरेट' कहकर अपनाते हैं,उसे सराहते हैं। वास्तव में भारत के लिए अँग्रेज़ों की प्रत्येक नीति बड़ी घातक सिद्ध हुई, शायद सभी शासनों और शासकों से अधिक ! और यदि प्रारम्भ में ही निम्नलिखित भारतीयता के महान समर्थकों तथा विदेशीयता के घोर प्रतिक्रियावादियों की सद्चेतना की लपट न जागती तो हिन्दी-एवं हिन्दू और हिन्दुस्तान की आज कुछ और ही दशा होती—

१. **राजा राममोहन राय**—पहले बंगाल में ही अँग्रेज़ों ने अपनी भाषा-संस्कृति का और अपने साहित्य धर्म का प्रचार ज़ोर-शोर के साथ किया था। एक प्रकार से बंगाल ही अँग्रेज़ों का शासन-सूर्यस्थल बन गया था। राजाजी ने सर्वप्रथम इस विषम परिस्थिति को भली-भाँति समझा और अपनी जाज्वल्यमान प्रतिभा से अँग्रेज़ीयत के साहित्यक-धार्मिक प्रचार से जमकर लोहा लिया और बड़ी उदारता एवं समझदारी उन्होंने इस बात में दिखलाई कि जो कुछ भी लिखा वह बंगला भाषा में न लिखकर हिन्दी भाषा में लिखा। उन्होंने ईसाईयत के विरोध में, उपनिषद एवं वेदांत का आधार लेकर 'ब्रह्मतत्व' का अमृत संदेश दिया एवं उसे फैलाते हुए ईसाई धर्म का 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना द्वारा निराकरण किया। उन्होंने 'ब्रह्मतत्व' के आधार पर अपने

यहाँ के प्राचीन आर्यधर्म की विशेषताओं की ओर उन भारतियों को आकर्षित किया जो ईसाई धर्म-प्रचार के शिकार हो रहे थे। महान समाज उद्धारक एवं आर्य-धर्म प्रतिष्ठापक तो वह थे ही साथ ही हिन्दी भाषा-साहित्य के वह प्रथम सृष्टा भी हैं। सन् १८१६ में उन्होंने हिन्दी में वेदान्त के सूत्रों का एक भाष्य लिखा और छपवाया। यद्यपि उनके हिन्दी गद्य में बंगला का योग है और अस्तव्यस्तता भी किन्तु हमें यह नहीं भूलना है कि उन्होंने किस विषम परिस्तिथि और डाँवांडोल समय में लिखा है। उनके गद्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"जो सब ब्राह्मण सांगवेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं। यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण धर्म पराएण सुब्रह्मण्य शास्त्री थे जो पत्र सांग वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देस के ब्राह्मणों के समीप पढ़ा ा है, उसने देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।"

सम्भवतः हिन्दी में लिखा और छपा प्रथम धर्म ग्रंथ—"वेदान्त सूत्रों का भाष्य" आपका ही है। हिन्दी और हिन्दू धर्म के प्रचार के लिये उन्होंने सन् १८३०में **'बंग दूत'** नामक हिन्दी पत्र का प्रकाशन किया। इस प्रकार राजा राममोहनराय जी ने हिन्दी भाषा की उस समय सेवा की जबकि वह निर्जीव हुई सी एक विशेष संक्राँति-शासनके चाक पर चक्कर खा रही थी। लगन, आस्था और सेवा की दृष्टि से उनका नाम हिन्दी भाषा भाषियों के लिये गौरव का प्रतीक है।

स्वामी दयानंद

स्वामी जी गुजरात के निवासी थे। गुजरात के निवासी होकर भी इन्होंने हिन्दी खड़ी बोली को ही स्वीकार कर उसके गद्य प्रचार-प्रसार में बड़ा श्रद्धापूर्ण कार्य किया। हिन्दी के स्वरूप को इन्होंने काफ़ी परिमार्जित एवं विकसित किया। 'आर्य समाज' के प्रवर्त्तक होने के नाते हिन्दी को ये आर्य-भाषा मानते थे। आर्यसमाज की पंजाब में काफ़ी प्रतिष्ठा हुई। स्वामी जी यद्यपि संस्कृत के धुरंधर विद्वान थे तथापि उन्होंने अपने लोकविख्यात ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' को हिन्दी खड़ी बोली गद्य में ही १८७९ में प्रकाशित कराया। स्वामी जी के गद्य में भले ही साहित्यकता की कमी रही हो किन्तु उसमें तर्क-विश्लेषण, वक्रता, और व्याख्यान की प्रभावशाली शक्ति विद्यमान है। हमारे विचार से आगे भारतेन्दु युग में ज़िंदादिली से लिखे गए साहित्य-सृजन का आदर्श कहीं स्वामी जी का लिखा-कहा गद्य ही न हो। इसके लिये उनका यह गद्यांश पठनीय है—

"क्या यही सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर और दूसरा पाताल पर छा जाता है? क्या यही जल्पना है कि लिखा आलूबुखारा और पढ़ा उल्लूबेचारा। × × अथवा मैं इस विषय पर जोर इसलिये देता हूँ कि आप लोग सोचें, समझें, विचारें और अपने नित्य के व्यवहार में, प्रयोग में (हिन्दी भाषा से आशय है) लायें।"

सचमुच, हिन्दी भाषा और हिन्दू धर्म के उत्थान में स्वामी दयानन्द जी की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी।

पंजाब में, जो अहिन्दी प्रांत माना जाता रहा है, स्वामी जी के कारण हिन्दी का काफ़ी प्रचार बढ़ा आनेकानेक हिन्दी की परीक्षाएँ चलीं एवं विद्यालय बने। स्वामी जी ने यद्यपि हिन्दी गद्य के प्रचार में महान कार्य किया तथापि उनके ग्रंथ साहित्यिक न होकर अधिकतर खंण्डन-मंण्डन एवं साम्प्रदायिकता से पूर्ण बने रहे। अतः बहुत से भारतीय ही उनके ग्रंथों से अधिक प्रभावित न हो सके। फिर भी हिन्दी के गद्य-प्रचारकों में स्वामी जी का स्थान बड़ा ही उच्च कहा जायगा।

राजा राममोहन राय तथा दयानंद जी के धार्मिक तथा हिन्दी-हित सम्बंधी आंदोलनों के अनुरूप ही आगे चलकर लगभग सन १८६० से पंजाब में, बाबू नवीन चंद्रराय एवं पं० श्रद्धाराम फिल्लोरी ने हिन्दी भाषा और धर्महित विषयक आंदोलन जारी रक्खे जिससे जहां एक ओर उर्दू के आघात से हिन्दी नष्ट न हो सकी वहां इसाईयत के प्रचार से भारतीय धर्म न बदल सका। उधर राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा राजा लक्ष्मणसिंह जी ने जो हिन्दी भाषा का हित-सम्पादन किया उस सब की सूक्ष्म चर्चा हम आगे के पृष्ठों पर कर रहे हैं—

निश्चय ही उपरोक्त भारतीय धर्म प्रतिष्ठापकों ने हिन्दी गद्य-प्रचार के हित में जो अपनी महान् सेवाएँ अर्पित की हैं वह व्यापक एवं लाभदायक सिद्ध हुई। ईसाई धर्मप्रचार को हिन्दी के इन महापुरुषों ने अपने हिन्दी गद्य द्वारा भारत में निर्बल बनाया, यह सोचकर आज हमें गर्व होता है।

हिंदी-उर्दू मुठभेड़

पूर्व हम लिख आये हैं कि भारत में हिन्दी और उर्दू का अलग-अलग महत्व एवं अन्तर क्या है। ईसाइयों के द्वारा जब हिन्दी खड़ी बोली को पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार का सुअवसर जुट रहा था और सन् १८३७ के आदेश के अनुसार हिन्दी भाषा का प्रयोग अदालतों में भी मान्य ठहराया गया तो साम्प्रदायिक दृष्टि से मुसलमानों को यह सब कुछ सहन न हुआ। उर्दू का अस्तित्व खतरे में समझ कर, उर्दू के पक्ष में मुसलमानों ने आवाज़ उठानी आरम्भ की। मुसलमानों के उग्र विरोध के फलस्वरूप १८३६ के आदेश के एक वर्ष उपरांत ही युक्तप्रान्त के समस्त विभागों की भाषा उर्दू करदी गई।

उर्दू के इस प्रभाव से हिन्दी की नींव कमज़ोर पड़ती गई। निदान, भारत में अँग्रेज़ी राजनीति का पिट्ठू वर्ग ऐसा बना जो केवल मात्र उर्दू एवं अँग्रेज़ी भाषा को ही देशभाषा एवं व्यवहार की भाषा मानने के लिये अंधा हो चला। ध्यान रहे कि इस समय अंग्रेज़ों ने इसलिये उर्दू को अदालती भाषा घोषित नहीं किया था कि वह

लोक-भाषा थी; बल्कि इसलिये कि उन्होंने भारत पर अपना जो शासन स्थापित किया था, वह मुसलमानों के हाथों से लेकर और इसलिये भी क्योंकि गत् लगभग सवा सौ वर्ष से उर्दू-फ़ारसी का आतंक भारत पर जारी था। इस सब का असर यह पड़ा कि भारतवासी स्वयं अपनी भारत-भाषा से अपरिचित ही नहीं होते गए वरन उसे हीनदृष्टि से भी देखने लगे। आज भी ऐसे अंध भारतवासी देखने को मिल जाते हैं जो उर्दू एवं अँग्रेज़ी भाषा को ही एक मात्र भारत की साहित्यिक एवं व्यवहारोपयोगी भाषा मानते हैं। देशकालीन राजनीतिक परिस्थितियों से भले ही हिन्दी को दबाया गया हो किन्तु यह स्पष्ट कहा जायगा कि हिन्दी ही हमारी, हमारे देश की प्रमुख भाषा है। प्रायः उर्दू भाषा का महत्व मुसलमानों के महत्व का प्रश्न रहा है। उसके सामने हम हिन्दी को ही उपयुक्त कहेंगे क्योंकि वह सदा से जन भाषा के रूप में हमारे यहाँ प्रतिष्ठित रही है, और जो आज राष्ट्र-भाषा के मंच पर प्रतिष्ठित होने का गौरव पा सकी है।

उर्दू की प्रतिष्ठा के लिये एवं हिन्दी को पदच्युत करने के लिये, सम्वत १८९४ में अंग्रेजी सरकार ने एक आज्ञा निकाली—

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जुबान नहीं है हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिन की सख्या देहली कालेज में बड़ी है इसे अच्छी नज़र से नहीं देखेंगे।"

स्पष्ट है कि उक्त आज्ञा मुसलमानों के हिन्दी विरोध के पक्ष में निकाली गई और हिन्दी भाषा को गिराया गया।

ईसाई प्रचार-प्रभाव वाले करण में हम लिख आए हैं कि सन् १८३६ में एक विज्ञप्ति के अनुसार अँग्रेज़ों ने हिन्दी बोली को कचहरी की भाषा घोषित किया किन्तु एक वर्ष पश्चात् ही सन् १८३७ में प्रांत के सभी दफ़्तरों एवं कचहरियों की भाषा उर्दू कर दी गई। यह साफ़ पक्षपात था जो यह प्रमाणित करता है कि हिन्दी के हक़ में मुसलमान तो कट्टर विरोधी थे ही अँग्रेज़ी शासन के नुमाइन्दे भी खार खाते जा रहे थे। यों शनैः शनैः उर्दू भाषा कचहरी एवं शिक्षा-क्षेत्र की भाषा हो तो गई किन्तु साथ ही हिन्दी के सर्वथा परित्याग से काम चलाने में असुविधाएँ पग-पग पर विराजने लगीं। इसके भले ही और बहुत से कारण रहे हों किन्तु एक मुख्य कारण यह था कि भारत की मुग़लिया-काल की कुछ जनता भले ही ठेठ उर्दू-फ़ारसी से परिचित थी किन्तु आम जनता के लिये उर्दू का सरपट ठेठ प्रयोग सहज न हो सका और शासन के काम में अव्यवस्था आने लगी। अतः नागरी लिपि को सन् १८६९ में कचहरी की भाषा होने का पद प्राप्त हुआ। इधर बिहार मगध की तो दशा ही दूसरी थी

वहां के लोग तो उर्दू-फ़ारसी भाषा-लिपि से सर्वथा अपरिचित ही बने रहे। अतः उन प्रदेशों में सन् १८८२ में कचहरी की उर्दू भाषा को बिल्कुल हटाकर पूर्णतः हिन्दी ही कर दिया गया। इन परिस्थितियों में १९०१ में फ़ारसी एवं नागरी दोनों लिपियाँ सरकारी आदेशानुसार कचहरी के प्रयोग में स्वीकृत हुईं। यह ठीक वैसी ही स्थिति बनी जिसका सामना और सही मार्ग अँग्रेज़ी कंपनी को प्रारम्भ में सन् १८०३ का एक्ट बना कर निर्धारित करना पड़ा था। प्रसंगवश उसे भी जान लेना उचित रहेगा। एक्ट का प्रस्ताव इस प्रकार था—

"किसी को इस बात का उजर नहीं होए कि ऊपर के दफ़े का लीखा हुक्म सब से वाकिफ नहीं है, हरी एक जिले के कलीकटर साहेब को लाज़ीम है कि इस आईन के पावनें पर केंता इसतहारनामा निचे सरह से फ़ारसी व नागरी के भाषा अच्छर न में लीखाव के''' कचहरो में लटकावही———अदालत के जज साहेब लोक के कचहरी में भी तमामी आदमी कें बुझाने कें वास्ते लटकावही"

—(अंग्रेजी सन् १८०३ साल ३१ आईन २० दफ़ा)

उक्त तथ्य से विशेष बात यह परिलक्षित होती है कि यद्यपि नागरी या हिन्दी को समय-समय पर फ़ारसी या उर्दू के पक्ष में झुकाया-दबाया गया किन्तु उसके बिना शासन-शिक्षा का काम चालना असंभव ही सिद्ध हुआ और वह फिर-फिर मैदान में लानी पड़ी। बा० ब्रज रतनदास जी के अनुसार स्वीकार पत्रों में ऊपर फ़ारसी और नीचे नागरी लिपि का अनुवाद होता था जिससे साफ़ सिद्ध होता है कि हिन्दी की आवश्यकता सदा महत्वपूर्ण बनी रही है।

इतना ही नहीं, वर्नाक्यूलर स्कूलों तक में हिन्दी की शिक्षा जारी न होने देने का प्रयत्न किया गया।

हिन्दी के प्रबल मुसलमान विरोधियों में सर्वप्रथम स्थान सर सैयद अहमद खाँ का है। ये अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सटी के संस्थापक थे। अँग्रेज़ शासकों में इनका बड़ा सम्मान था। कारण यह कि अँग्रेजों को अपने शासन के पाँव मजबूत बनाने के लिये किसी भी भाँति हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को उग्र रूप देना ही था। उर्दू के पक्ष एवं हिन्दी के विपक्ष में सर सैयद अहमद खाँ ने सन १८५५ से व्यापक आन्दोलन किया। उनका कहना था कि हिन्दी एक ऊटपटाँग भाषा है। उनके साथी मुसलमानों ने हिन्दी को हटाने का पूरा शोर मचाया। पर इनकी बात राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने न चलने दी। इसी बीच हिन्दी पक्षीय आन्दोलन भी चलते ही रहे और थोड़े बहुत रूप में हिन्दी की दबीघुटी साँस फुंकारती ही रही। फिर भी उर्दू के इस कटाक्ष एवं अँग्रेजों की दुरंगी राजनीति के फलस्वरूप सन् १९४७ तक क्या, आज तक हिन्दी को अपना न्यायोचित अधिकार पाने से वंचित-सा कर रक्खा था—किन्तु अब हिन्दी अपनी

पूर्ण स्वतंत्रता की चौखट पर दीवे बाल रही है।

दूसरी ओर उर्दू के एक विदेशी फ्रेंच अध्यापक महोदय 'गार्सा-द्-तासी' ने भी भी हिन्दी का कट्टर विरोध किया। तासी ने हिन्दी का विरोध प्रायः सबसे प्रबल रूप से किया था। शिक्षा अध्यक्ष हेवेल साहब भी उन्हीं के प्रियजनों में थे जिन्होंने हिन्दी की उपेक्षा का विष उगलते हुए कहा था—

"यह अधिक अच्छा होता कि यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि ऐसी बोली में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"

तासी ने हेवेल साहब के इस कथन को बाइबिल का कथन समझ कर अपने हिन्दी विरोधी प्रवचनों में शरीक कर छोड़ा था। काश! आज हेवेल या तासी साहब जीवित होते तो देखते कि उनके स्वप्न कितने भ्रामक थे। उनका ये भी कहना था कि मुसलमान सामी पैगंबरी मत के हैं और इससे अँग्रेजों से मजहबी रिश्ता रखते हैं। उर्दू उनकी भाषा है। हिन्दी तो 'बुतपरस्त' (मूर्तिपूजक) हिन्दुओं की जबान है। 'तासी' के इस विद्वेषपूर्ण कथन की तह से भी यह साफ़ प्रकट होता है कि हिन्दी भाषा का अनादर किया गया और उर्दू की उसके साथ मुठभेड़ किन परिस्थितियों में क्यों हुई? इसीलिये न कि अँग्रेज़ मुसलमानों के अपने बन गये थे—संरक्षक थे! सरकारी-विभागों और शिक्षा-संस्थाओं में मुसलमानों की आ बनी थी। इधर लार्ड मेकाले ने पूर्वी-भाषा-शिक्षा पद्धति की उपेक्षा की और सन् १८३५ में एक प्रस्ताव भी पास हुआ जिस में अँग्रेज़ी भाषा एवंशिक्षा-प्रचार-प्रसार का पूर्ण समर्थन था। १८६९ में इलाहाबाद के अधिवेशनमें जब देशी जबान हिन्दी-उर्दू में किसे माने?—यह प्रश्न उठा था; और अधिकांश लोगों ने, ग्रामीण जनता के लिये, उर्दू पढ़ने की कठिनाई और हिन्दी पढ़ने की सरलता पर ध्यान आकर्षित किया तब भी तासी ने हिन्दी-प्रेमियों का उपहास किया था। अनेकानेक तौर-तरीकों से हिन्दी को अपदस्थ करने की चेष्टाएँ की जाने लगी। उसकी अवज्ञा की तासी ने एक चाल यह भी चली कि शब्दावली तो फ़ारसी-अरबी हो और लिपि नागरी ताकि दबे-ढबे फारसी और उर्दू भाषा पनपती चले और हिन्दी के समर्थकों का मुँह बन्द रहे। फिर भी, 'उर्दू' की अन्याय भित्ति पर खड़ी आन्दोलन-क्रिया हिन्दी को नष्ट न कर सकी। हिन्दी शिक्षा एवं न्यायालय में परिस्थितियों के अनुकूल थोड़ा-बहुत स्थान पाती ही रही और जी तोड़ कर उसकी स्थापना हेतु उसके समर्थक येन-केन प्राकरेण अपना कार्य करते रहे।

इस संघर्षकाल में यद्यपि उर्दू हिन्दी भाषा को उसके न्यायोचित पद से गिरा कर अदालती एवं व्यवहारी भाषा बन गई थी और अँग्रेजों मुसलमानों की कृपा के फलस्वरूप स्वयं भारतवासी अपनी मातृभाषा के महत्त्व को तुच्छ समझने लगे थे

फिर भी हिन्दी का अस्तित्व धीरे-धीरे चलता ही रहा। हिन्दी-उर्दू के पक्ष-विपक्ष में दो राजों—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द एवं राजा लक्ष्मणसिंह का पारस्परिक संघर्ष भी अत्यधिक निष्कर्षात्मक रहा। अन्य कुछ हिन्दी प्रेमी-जन भी अपने मूल्यवान आन्दोलन को हिन्दी-हित के लिये करते रहे जिनका परिचय हम नीचे दे रहे हैं :—

नवीन चन्द्रराय

जिस प्रकार बंगाल में राजा राममोहनराय हिन्दी और आर्य-धर्म की रक्षा के लिए ईसाई धर्म से लोहा ले रहे थे उसी भाँति पंजाब में नवीन जी ने अपने आन्दोलन जारी किये। जिस प्रकार शिक्षा विभाग में हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयत्न राजा शिव प्रसाद जी कर रहे थे उसी प्रकार उन्होंने भी उद्योग किया। स्वयं अपने श्रम-साध्रन से इन्होंने 'ज्ञान प्रदायिनी' आदि अनेक पत्र पत्रिकाओं का संचालन किया। सन् १८६७ को अंजुमन-लाहौर' नामक सभा के मंच से बोलते हुए सैयद हादी हुसैन ने उर्दू की हिमायत एवं हिन्दी की उपेक्षा का एक कटु व्याख्यान दिया था जिसके विरोध में नवीन जी के मंच से जो उद्गार प्रकट हुए उन्हें जान लेना यहाँ उचित रहेगा जिससे उनके हिन्दी भाषा साहित्य के प्रति अगाध प्रेम का परिचय मिलता है—

"उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों का लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है, उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी-फारसी के शब्द भी भर दिये हैं, पद्य या छन्दोबद्ध रचना के भी उर्दू उपयुक्त नहीं हैं। हिन्दुओं का यह कर्त्तव्य है कि वे अपनी परम्परागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गम्भीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति नहीं है।"

यों हिन्दी के तत्कालीन प्रचार-कार्य के लिये नवीन जी की सेवाएँ बड़ी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई और वे पंजाब में हिन्दी उत्थान के बीज बिखेरते रहे।

पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी

आप भी नवीन चंद्रराय की भाँति पंजाब के निवासी थे और उनके समकालीन भी। सम्माननीय कथावाचक होने के साथ ही आप बड़े प्रभावशाली व्याख्यानदाता थे। आपने बढ़ते हुए ईसाई-धर्म के प्रचार को आपने ओजस्वी व्याख्यानों एवं कथा-प्रसगों द्वारा दूर करने में बहुत सफलता पाई। आपने हिन्दी में काव्य, उपन्यास एवं निबन्ध सभी कुछ लिखा है। हिन्दी भाषा के प्रति आपका अनन्य अनुराग था तभी तो मरते समय आपके मुँह से भाषा प्रेम के यह बोल मुखरित हुए थे—

"भारत में भाषा के दो लेखक थे—एक काशी में दूसरा पंजाब में, पर अब एक ही रह जायगा।"

ये दूसरे लेखक काशी के निवासी भारतेन्दु हो सकते हैं। आपने 'भाग्यवती'

नामक एक उपन्यास भी लिखा। सत्यामृत प्रवाह, आत्म चिकित्सा, तत्व दीपक, धर्म रक्षा और उपदेश संग्रह आदि आपकी गद्य-पद्य दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं।

ये काशी के राजा थे। इनका लिखा 'राजा भोज का सपना' नामक ग्रन्थ **राजा शिवप्रसाद** हिन्दी खड़ीबोली गद्य का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। उदाहरण प्रस्तुत है—

"वह कौन-सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराजा भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जग में व्याप रही है। बड़े-बड़े महीपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव में सिर नवाते।"

ऊपरलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है कि राजा शिवप्रसाद शुद्ध खड़ीबोली हिन्दी भाषा के पक्षपाती रहे होंगे और उन्होंने इसी भाषा में, आरम्भ में लिखा भी। इतना ही नहीं उन्होंने शिक्षा-क्षेत्र में भी हिन्दी को स्थान दिलाने में कोई कसर बाकी न रक्खी। राजा शिवप्रसाद की सेवाओं एवं योग्यताओं की क़द्र की गई और उनको शिक्षा विभाग में प्रतिष्ठित पद मिला। बस, इस सीमा पर आकर उनके हिन्दी के प्रति किए जाने वाले महत्त्वपूर्ण प्रयासों में एक धक्का-सा लगा—वह युग की सम्प्रदायिक एवं राजनीतिक आँधी में अपने पूर्व-गद्य का वास्तविक महत्व स्थिर न रख सके—वह बिखरने लगा। राजा शिवप्रसाद की समझ में कूट-कूट कर यह भरा गया कि उर्दू वह भाषा है जो 'आमफहम' जनोपयोगी एवं व्यवहारोपयोगी भाषा है; और हिन्दी तो यों ही संस्कृतनिष्ठ एक अप्रचलित भाषा है, जिसका प्रचलन कुछ महत्वपूर्ण नहीं। ऐसा सोचने में भी यद्यपि इन्होंने हिन्दी की उपेक्षा का भाव नहीं रक्खा किन्तु शनैः-शनैः इनका दृष्टिकोण बहुत अधिक बदलता ही गया। निम्नलिखित प्रमाण देखिए, वह लिखते हैं—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिये कि जो आमफहम और खासपसंद हों अर्थात् जिनको ज्यादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ पढ़े-लिखे, आलिम फाजिल, पंडित विद्वान् की बोल-चाल में छोड़े नहीं गये हैं, और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैरमुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिये और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नये-नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहियें। जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाय, अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी ज़बान में नहीं है, या जो अच्छा नहीं है, या कविताई की ज़रूरत या इल्मी ज़रूरत या कोई और खास ज़रूरत साबित हो जाय।"

प्रस्तुत उदाहरण से हम साफ अनुमान लगा सकते हैं कि शिवप्रसाद जी का भाषा में 'आमफहम' और 'खास पसन्द' कहने का क्या उद्देश्य और आशय रहा होगा। खुलासा है कि उन्हें हिन्दी भाषा से द्वेष जाग्रत नहीं हुआ। परन्तु निश्चय ही उनके इस ऐलान

से हिन्दी की प्रतिष्ठा पर उर्दू का आतंक जमता गया होगा। फिर उनके प्रस्तुत उदाहरण में साथ ही उर्दू के शब्दों की भरमार है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिंदी भाषा के प्रति जो आघात सर सैयदअहमद खाँ ने किया, उसका घाव भरने के लिये राजा शिवप्रसाद का प्रयास रूपी मरहम सराहनीय है। उनकी 'मानव धर्म' नामक पुस्तक भी हिन्दी खड़ी बोली गद्य का अच्छा स्वरूप प्रस्तुत करती है। साहित्यिक मूल्याँकन की तो इस काल में चर्चा करना ही व्यर्थ है। किसी भी लेखक के प्रति हम ऐसा नहीं सोच सकते। राजा शिवप्रसाद ने वस्तुतः हिन्दी के प्रचार एवं प्रभाव को व्यापक बनाने का प्रयत्न सदा जारी रक्खा। सन् १८४६ में उन्होंने 'बनारस' अखबार भी काशी से चलाया। संक्षेप में, यह कहा जायगा कि राजा शिवप्रसाद मूलतः हिन्दी के प्रेमी तो अवश्य थे किन्तु वह अपने समय की अँग्रेज़ीयत की पद-प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा की बाढ़ में वह चुके थे। कुछ अर्थों में कहा जायगा कि वह इस वातावरण से आतंकित से हो चले थे। कुछ भी हो अपने कार्य-काल के उत्तरार्ध में राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में साहित्य सृजन करना आरम्भ कर दिया था—भले ही लिपि हिंदी ही रही हो। और यों, उन्होंने उर्दू हिंदी की खिचड़ी पकाई। चूँकि यह खिचड़ी एक हिंदू लेखक ही हिंदी लिपि के माध्यम द्वारा पका रहा था अतः उर्दू भाषा-भाषी उसका मज़े में स्वाद चख रहे थे। इस बात को ठोक-पीट कर समझते हुए सर्वप्रथम राजा लक्ष्मणसिंह जी ने इसका पूरा विरोध किया और जतलाया कि भारत की एकमात्र भाषा हिन्दी है—वह हिंदी जो संस्कृत भाषा से सम्बन्धित है, फारसी-अरबी से नहीं। राजा लक्ष्मणसिंह ने हिंदी की खतरनाक स्थिति में अपना उर्दू विरोध प्रकट कर हिन्दी की पूर्णतः सुरक्षा का कर्त्तव्य पालन किया। हिंदी गद्य-विकास के सोपानों में राजा लक्ष्मणसिंह का चरण काफी पवित्र और दृढ़ रहा। इनके पश्चात् हिंदी भाषा और उसका प्रयोग, व्यवस्था के अनुरूप प्रकाश में आया; और इस व्यवस्था की स्थापना के जगमगाते हुए स्तंभ थे भारतेन्दु हरिश्चन्द ! विषय-क्रम के अनुरूप नीचे हम राजा लक्ष्मणसिंह जी का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं—

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा शिवप्रसाद ने जिस **'आमफहम'** भाषा का नारा उठाया उसके समकक्ष राजा लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी भाषा की व्यापक एवं शुद्ध स्थापना पर अपना पूरा बल लगा दिया। उन्होंने कहा कि हिंदी, हिंदू और हिन्दुस्तान की गौरवमई भाषा है। यद्यपि राजा साहब का ऐसा प्रचार मुस्लिम भाषा साम्प्रदायिकता की विरोधी दृष्टि और हिंदी की हितकर भावना के अनुसार बड़ा ही महत्वपूर्ण कहा जायगा तदपि हिंदी भाषा के जनव्यापी और देशव्यापी प्रभाव-प्रचार का इससे पूरा उद्देश्य सिद्ध न हुआ। कारण यह था कि किसी भी भाषा का जनव्यापी प्रभाव-प्रचार परम्परा एवं साम्प्रदायिकता की दृष्टि से कभी नहीं हुआ करता। भाषा का विकास उसकी सरलता एवं अर्थ-

सामाहारता पर निर्भर रहता है। जिस भाषा में जितना अर्थ-बोध कराने की सहज सरल सामर्थ्य होगी वही भाषा जनता की बोलचाल की भाषा बनकर उसके समय की साहित्यिक भाषा बनती जायगी—परिस्कृत एवं कलापूर्ण! राजा साहब इस बात का ध्यान न रख सके। उनके समय की कुछ परिस्थितियाँ ही ऐसी विषम हो चली थीं, इसमें हम उनका दोष या उनकी तंगदिली नहीं कह सकते। फिरभी उन्होंने तत्कालीन वातावरण में जो कुछ हिंदी के लिये किया उससे आज के हिंदी भाषा के परिमार्जित रूप को काफी खाद मिला है—यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत गर्भित हिंदी के प्रचार के लिये अपने साहित्य सृजन का माध्यम भी संस्कृत की साहित्यिक पुस्तकों के अनुवाद को बनाया। कालिदास के प्रसिद्ध ग्रन्थों—अभिज्ञान शाकुन्तलम, मेघदूत एवं रघुवंश—का अनुवाद उन्होंने क्रमशः सन् १८६३, १८८४, तथा १८७८ में हिन्दी में प्रस्तुत किया। राजा साहब के 'शकुन्तला नाटक' में हिन्दी भाषा का सराहनीय, परिमार्जित एवं साहित्यिक स्वरूप देखने में आता है। जनता तक शुद्ध खड़ीबोली भाषा का प्रचार करने की दृष्टि से उन्होंने १८६१ ई० में आगरा से "प्रजा हितैषी" नामक एक पत्र सम्पादित किया। इस पत्र द्वारा भी उनके मनोनुकूल हिन्दी भाषा के प्रचार को यथासम्भव बल प्राप्त हुआ। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लक्ष्मणसिंह ने जिस शुद्ध खड़ीबोली गद्य के प्रयोग एवं प्रचार की बात का नारा राजा शिवप्रसाद के उर्दू विरोध में उठाया, वह सबसे अधिक सफल इस बात में हुआ कि जो कुछ राजासाहब ने अपनी क़लम से लिखा वह अत्यधिक रोचक, रवानीदार, किलष्ट सा किंतु जन-रुचि संगत ही रहा। यों हमें यह नहीं भूल जाना हैं कि १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं १९वीं शताब्दी के पूर्वाध में जो कुछ भी साहित्य के नाम से हिन्दी खड़ीबोली गद्य में लिखा गया वह सब ललित साहित्य की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। वह तो हिन्दी भाषा की स्थापना का संक्रांति युगीन साहित्य है, जिससे हमें केवल खड़ीबोली गद्य का क्रमबद्ध इतिहास ही समझना है। राजा लक्ष्मणसिंह इस क्रमबद्ध इतिहास की आखिरी सीमा है·····वह सीमा, जिससे आगे चलकर हिन्दी खड़ीबोली गद्य-साहित्य का कलात्मक उद्यान उगना आरम्भ होता है और यह भी कि हिन्दी खड़ीबोली गद्य का व्यवस्थित एवं व्यापक क्षेत्र बनना आरम्भ हुआ और इसके श्रमिक लेखक, रक्षक, पोषक पिता-रूप में अवंतरित हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द! इन्हीं से आरम्भ होता है आज का हमारा खड़ीबोली गद्य-युग और उसका लेखक प्रतिनिधि-वर्ग! उर्दू-हिन्दी भाषा की कशमकश, भाव-विचारों की साहित्यिक जद्दोजहद, गद्य-पद्य की सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल का साहित्यिक इतिहास हम भारतेन्दु काल से ही देखते हैं। अतः हिन्दी के नवीन मानों, एवं यथार्थ-आदर्शों का समन्वय-संघर्ष से भरपूर हिन्दी वर्त्तमान साहित्य

809-H
577
19061

का मूल्यांकन हमें सन् १८५ के पश्चात् से हुआ ही, इतिहास की स्पष्टता को ध्यान में रखते हुए ठीक मान सकते हैं। यों मौलिक साहित्य की दृष्टि से तो भारतेन्दु का प्रथम नाटक "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" जो सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ था, हिंदी खड़ीबोली आधुनिक गद्य-युग का प्रथम नाटक है—प्रथम सृजन है।

इस प्रकार ऊपर जो कुछ भी हम लिख आये हैं वह गद्य-साहित्य आधुनिक खड़ी बोली गद्य-युग का एक इतिहासिक संघर्षशील परिचय ही माना जाना ठीक होगा। क्योंकि आधुनिक खड़ीबोली गद्य में लिखा गया निबन्ध, आलोचना, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, इतिहास तथा अन्य गद्य की आधुनिक विधाओं का परिचय सूक्ष्मतः हम भारतेन्दु काल से ही पाते हैं।

नई दिशा

भारतेन्दु गद्य से लेकर आज तक के विकास-क्रम के सोपान निर्मित करने से पहले हम एक प्रश्न और सुलझा लेना आवश्यक समझते हैं और वह प्रश्न यह है कि भारतेन्दुकाल तक आकर साहित्य में गद्य का प्रचार-प्रभाव एवं प्रसार पूर्वकाल की अपेक्षा क्यों व्यापक हुआ, साथ ही रीतिकालीन शृंगारी एवं सामन्ती प्रवृत्तियों से बोझिल एवं वासनारंजक साहित्य की दिशा एकदम राष्ट्रीय चेतना तथा नवल क्रान्ति की वेला का अनायास आवाहन भला क्यों कर बैठी, क्यों अपना रूपान्तर करने लगी? इस प्रश्न का सीधा उत्तर पाने के लिये हमें यह जानना अनिवार्य होगा कि उस समय की देशीय, जातीय, राष्ट्रीय एवं राजनीतिक स्थिति का प्रभाव जनता की भीतरी एवं बाहरी स्थितियों पर कैसा पड़ रहा था। क्योंकि जन-जीवन की परिस्थितियों, विषमताओं एवं मान्यताओं का प्रभावशाली लिपिमय चित्रण ही साहित्य होता है।

साहित्य की नवीन दिशा का माध्यम किसी देशकाल विशेष की वह परिस्थितियां, विषमताएँ एवं मान्यताएँ ही हुआ करती हैं जिनसे जन का जीवन जुड़ता-टूटता किसी नये आदर्श, नई परम्परा एवं नई चेतना के भावात्मक एवं चिन्तात्मक पहलू पकड़ता है···पकड़ लेता है। प्रत्येक देश के युग और युगान्तकारी साहित्य के भीतर हम जन-जीवन की परिस्थितिजन्य परिवर्त्तित हुई विचारधारा एवं नवोत्कर्ष की भावना का नव्य दर्शन करते हैं। कहने का आशय यह है कि साहित्य की दिशापरिवर्त्तन का कारण सिनेमा की रील का जैसे न होकर वरन ऐसा होता है जो विगत् की जर्जर हुई कैंचुली को छोड़ने का, वर्त्तमान की नई काया पाने का एवं भविष्य की नई स्फूर्ति या सरसता देने का पूरा-पूरा बोध कराता है। यही साहित्य का शाश्वत विकास-क्रम कहा जायगा। आधुनिक काल की साहित्यिक दिशा-परिवर्त्तन का क्रम भी ऐसा ही बना। तब से, जब से हम आधुनिक साहित्य का परिचय पाते हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास के अनुसार यह बात मान्य हो चुकी है कि आधुनिक

साहित्य का सृजनकाल भारतेन्दु से आरम्भ हुआ है। साहित्य की नई दिशा-परिवर्त्तन की बात, जो हम ऊपर लिख आए हैं, यहाँ उसके लिए देखें कि उस समय की जन-जीवन सम्बन्धी परिस्थितियों, विषमताओं एवम् मान्यताओं का कैसा हाल था।

इतिहास सम्मत तथ्य है कि सन् १८५७ भारतीय इतिहास का ऐसा सन् है जो भारत के राजनीतिक जीवन-रंगमंच पर एक अभूतपूर्व हलचल छोड़कर गया था। सदीयों से तूफान की तरह यवनों का भारत पर छाया हुआ साम्राज्य तहस-नहस हुआ, अँग्रेजों ने भारत पर नई-नई चोलों से अपना मीठा छुरा जैसा शासन चलाना आरम्भ किया। ऐसा करने के लिये उन्होंने एक ओर हिन्दुओं की हिंदी भाषा, उनके प्राचीन ग्रंथों एवं मान्यताओं का थोड़ा सा लोलुप वातावरण बनाया, इधर मुसलमानो को—उनकी शक्ति को समझते हुए—नये-नये उच्चपद एवं प्रतिष्ठा प्रदान कर उर्दू-फारसी को पूरा-पूरा प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार धार्मिक-सांस्कृतिक आड़ लेकर अँग्रेजों ने भारत की राजनीति पर अपना धर्म-संस्कृति सापेक्ष प्रभुत्व जमाना आरम्भ किया और जोंक की तरह 'ईस्टइन्डिया कम्पनी' ने यहाँ के वैभव का शोषण कर इंगलैंड का उद्यान हरा-भरा किया। भारतेन्दु के समय से पूर्व ही यह सब कुछ चल पड़ा था। कहने का तात्पर्य यह है कि अँग्रेजों ने १८५७ से पूर्व जिस दुरंगी नीति का पोषण किया उसके द्वारा जहाँ एक ओर उन्होंने अपनी धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थ-भावना को बढ़ावा दिया वहाँ दूसरी ओर भारतीयता एवं इस्लाम को पूरी तरह अपने शिकंजे में कस लिया। फलस्वरूप, दोनों ही वर्गों की आँखें खुलीं तो लगा जैसे चारों ओर ऐसा अंधकार है जिसमें जातीय, राष्ट्रीय, साँस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक तात्पर्य है कि सभी प्रकार का गौरव, बल एवं विश्वास खो गया है। ऐसी दयनीय स्थिति में हिन्दू और मुसलमानो ने मिलकर अँग्रेजों के खिलाफ विद्रोह भड़काया—सन् १८५७ का गदर! किन्तु परिणाम पक्ष में न रहा। अँग्रेजों ने इसके बाद पूरी तरह भारत में शासन की नींव पर अपना साम्राज्य रूपी 'पैलेस' बना लिया। भारत गुलाम हुआ—अँग्रेज सम्राट! इतना सब कुछ हुआ अवश्य लेकिन स्वतंत्रता की चेतना-चिंगारी कभी बुझने वाली नहीं हुआ करती। क्या हुआ यदि शस्त्रों के युद्ध में भारतीय हार गए परन्तु भारतीय भावना एवं साँस्कृतिक बल तो उनमें विद्यमान रहा ही। बस, भारतेन्दु के समय से यही भावना एवं बल का हिन्दी स्वर साहित्य के माध्यम से बढ़ता चला गया। भारतेन्दुकालीन साहित्यिक कृतियों के नामकरण भी इसी भावना एवं बल का उदय प्रगट करते हैं—जैसे, भारतेन्दु रचित कृतियों के नाम—'अंधेर नगरी' तथा 'भारत दुर्दशा' आदि। इतना सब कुछ होते हुए भी, अँग्रेजों का आधिपत्य भले ही यहाँ की परतांत्रिक दृष्टि से अच्छा न माना जाय परन्तु नए युग की विज्ञानिक प्रगतिशीलता का परिचय भी उन्हीं लोगों से यहाँ के लोगों ने पाया। नए-नए औद्योगिक

यंत्र एवं कल-कारखाने चालू हुए। जीवन की नई समस्याओं के साथ जीवन की नई कार्य प्रणाली एवं परिवर्त्तन की लहर जागी। मिलें खुलीं, मालिक बने, मजदूर बने, ज़मीदार बने और फिर किसान की निर्बलता एवं सत्ता क़ायम हुई। बड़े-बड़े महकमे खुले। अँग्रेज अफसर नियुक्त हुए तो यहाँ एक क्लर्क पीढ़ी बनी। कहने का तात्पर्य यह है कि सन् १८५७ के पश्चात् भारत में अँग्रेजी शासन व्यवस्था से जन-जीवन में एक नए मूल्य का दृष्टिकोण स्थापित हुआ वह मूल्य था साम्राज्यवाद एवं जनवाद का··· शोषित एवं शोषक का···पूर्व और पाश्चात्य धर्म का। फलस्वरूप, भारतीय चेतना में सोया हुआ सांस्कृतिक गौरव जाग उठा। भीतर का भारत बाहर के भारत का स्वरूप देखकर थर्रा उठा। मानव चेतना का सूक्ष्म निरीक्षक—साहित्यकार—अपने सांस्कृतिक गौरवगान के अक्षर जोड़ने लगा। इस प्रकार हिन्दू पुनर्जागरण सम्बन्धी (Hindu revivalistic) साहित्य का निर्माण होने लगा। साहित्य का यह पुनर्जागरण-मोड़ भारत के लिए ही कोई नया वस्तु बोध नहीं, वरन सभी देशों के पुर्नजागरण सम्बन्धी साहित्य के सृजन के मूल में प्रायः प्राचीन सांस्कृतिक गौरव एवं वर्त्तमान व्यवस्था के प्रति निर्माणवादी विक्षोभ छाया रहता है। हो सकता है कि इस विद्रोह में राजनीतिक प्रभाव कम हो; आर्थिक ज्यादा या दोनों ही कम हों, परन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि पुर्नजागरण सम्बन्धी साहित्य के भीतर वर्त्तमान व्यवस्था के प्रति कोई क्रांति एवं भविष्य का नव-निर्माणवादी सद्भाव न हो। पुर्नजागरण तभी होता है जब हमारा कुछ बीता हुआ वर्त्तमान से कुचल रहा हो या फिर वर्त्तमान उससे लाख दर्जे अच्छा हो या भविष्य में कुछ और पा लेने की सम्भावना हो। राष्ट्रीय जागरण से मतलब साफ़-साफ़ उस चेतना के उदय होने से है जो धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक महत्व की अवहेलना-अपमान के विरोध में अपनी सांस ले। साहित्य के अर्न्तगत यह चेतना नई भाषा-शैली नई कला-अभिव्यक्ति, नई मान्यता-मानवता, नये चिन्ता-प्रवाह, दर्शन-प्रवाह एवं नये साहित्य-सामाज-सृजन को जन्म देती है। विदेशों में राष्ट्रीय पुर्न-जागरण सम्बन्धी साहित्य सृजन की परिस्थितियां भी भारत जैसी ही अनेक रूपों में रही हैं। जिसे वहां के साहित्य में **'रिनेसांस'** के नाम से अभिहित किया जाता है। योरोपीय साहित्य में एक युग ऐसा भी रहा है जिसमें सामन्तवादी एवं पूंजीवादी वैभव ठहाके मारता था। धीरे-धीरे औद्योगिक क्रांति बढ़ती गई। जीवन के संघर्ष-क्षेत्र में दो तरह के वर्ग बन गए एक तो वह वर्ग जो खाने ही खाने की नीति को अपनाता चला और दूसरा कमाता ही कमाता मिटता चला। निदान, नई सामाजिक शक्ति भड़की। सामन्तवाद का पोपला ढाँचा जलने लगा। साहित्यकार ने उसे देखा, सोचा-समझा और अपने साहित्य में प्रकट किया। लाखों-करोड़ों ने उसे पढ़ा। तब पुर्नजागरण की व्यापक लहर दौड़ने लगी और नीचा-वर्ग ऊँचे-वर्ग का जमकर मुकाबला करने लगा। रूसी साम्यवादी

साहित्य के अमर साहित्यकार गोर्की का मदर (mother) उपन्यास इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि किस प्रकार 'रेनासां' या पुर्नजागरण सम्बन्धी साहित्य के पीछे जन-चेतना की संक्रामक क्रान्ति छिपी चलती है। इस प्रकार मध्य युग के योरोपीय साहित्य की तुलना में वर्त्तमान साहित्य ऐसा है जो कहा जायगा कि बिल्कुल नया है, क्योंकि जन-जीवन का समग्र ढाँचा ही नए मांस, रक्त एवं विज्ञानिक-चेतना से भरपूर है। योरोप की पोपलीला संम्बन्धी धार्मिक क्रांति भी साहित्य के अर्न्तगत् पुर्नजागरण का महामंत्र फूँकती है।

ठीक इसी प्रकार भारत में भी भारतेन्दु के युग से यहां के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में नए दृष्टिकोण पैदा हुए। अँग्रेजों द्वारा यहाँ अनेकानेक टेक्स लगाए गए, किसानों की खेती-बाड़ी की व्यवस्था गिरादी गई, हिन्दू मुसलमानों में संघर्ष पैदा किया गया, साथ ही यहां के धर्म, यहां की भाषा और यहां के साहित्य के ऊपर कुठाराघात किया गया। फलस्वरूप, यहां का सारा भीतरी-बाहरी वैभव खंडहर बन गया। भारतेन्दु ने इस खण्डर पर नव-निर्माण की आशा का दीपक बारकर उसके प्रकाश में नए साहित्य का सृजन किया—नई भाषा में, नए इरादों में !

इसप्रकार भारदेन्दु काल से हिन्दी साहित्य में पूरी तरह देश-समाज एवं जन-जीवन के व्यवहार-पक्ष का वस्तुवादी मूल्यांकन प्रकट होने लगा। ब्रजभाषा के बदले में साहित्य ने खड़ीबोली भाषा इस लिये अपनाई क्योंकि रीतिकालीन ब्रजभाषा सर्व प्रथम तो अपने स्वरूप में सिर्फ पद्य रचना के लिये ही अधिक लचकीली थी, दूसरे मुसलमानों ने भी पहिले से ही खड़ीबोली को अधिक अपनाया था। अँग्रेजों को भी जैसे भारत में हिन्दी खड़ीबोली का प्रयोग विरासत के रूप में मिला था। मुद्रण आदि की व्यवस्था भी इसी भाषा के अनुकूल बनी और साथ ही अँग्रेजों का प्रोत्साहन भी इसी भाषा के ग्रंथ-लिखने-छपवाने के लिये मिला, जिसका उल्लेख हम पीछे कर आए हैं। प्रश्न यह रहा कि रीतिकालीन श्रंगारी परम्परा का विच्छेद क्योंकर हुआ ? इस का समाधान यह है कि भारतेन्दुयुग तक आकर, और उनसे बाद तक की भी, देश-कालीन परिस्थितियां मानव समाज के संघर्ष से अधिक सम्बन्धित रहीं। ऐसे समय में सामन्तयुगीन नख-शिख श्रंगार देखने-परखने की न तो जनता के पास आँखे रहीं और न अवकाश ही। पेट और प्रतिष्ठा पर आँच आते कौन प्यालों और परियों के पास जाना पसंद करेगा ? फलस्वरूप, भाषा की दृष्टि से आधुनिक साहित्य की भाषा बनी खड़ीबोली एवं साहित्य का लक्ष्य एवं विषय बना यथार्थ-जीवनवादी। यद्यपि विषय की दृष्टि से आधुनिक साहित्य विविध ढंग से लिखा गया है परन्तु फिर भी आजतक उसमें जीवन का लक्ष और उसकी यथार्थ धड़कन तेज है गो छायावादी रस-रंजन भी यथाशक्ति चलता ही रहा है। किन्तु जहांतक नव साहित्य सृजन का

प्रश्न है, वह प्रायः यथार्थपरक ही चल रहा है। पद्य की तुलना में गद्य के व्यापक प्रचार के मूल कारण यह रहे कि पद्य की आधुनिक युग से पूर्व की रीति-कालीन परम्परा में राष्ट्रीय, जातीय एवं जन की जीवन-अभिव्यक्ति का संदेश न होकर नारी-शरीरज वासना-जागृति का वर्णन ही मुख्य था। हर कवि का लक्ष कविता की बाह्य रूप-सज्जा को अधिक से अधिक श्रंगारिक उपकरणों से निखारना मात्र रह गया था। उस समय की कविता में न तो मानव की आत्मिक शक्ति का रहस्य प्रकट हो पा रहा था और न भौतिक मुख्य आवश्यकताओं का समाधान दर्शित हो रहा था। कविता केवल मन बहलाव की अभिसारिका बन चली थी। कवियों का कर्म एक अशर्फी पर एक कलात्मक दोहा लिखना ही रह गया था। ऐसी दशा में आधुनिक युग के तीव्र युग-परिवर्तन के झोंके वह झोंके, जो बड़े बड़े साम्राज्यों की नीवें हिला देते हैं, जिन से मनुष्य समाज का नख-शिख रूपान्तर हो जाया करता है, उसे रीति-कालीन कविता सहने में सर्वथा असमर्थ रही—यों लकीर भले ही पीटी गई हो। क्योंकि स्वयं भारतेन्दु ने, और उनसे आगे भी कुछ लेखकों ने, इस प्रकार का कुछ लिखा ही है। परन्तु यह निश्चय है कि रीतिकालीन कविता के स्थान पर भारतेन्दु युग से उत्तरोत्तर कविता के स्थान पर गद्य का प्रभाव एवं प्रचार बढ़ता ही चला गया। भाषा ब्रज के स्थान पर खड़ीबोली प्रयोग में आती चली गई। गद्य के बढ़ते हुए प्रचार के दूसरे कारण जहां मुद्रण-प्रेस और प्रकाशन आदि रहे वहां बुद्धि-प्रसार एवं व्यवहार-व्यापार के दिनोंदिन उन्नत होते हुए कारण भी रहे। ईसाइयों के इस ओर सहयोग की बात हम ऊपर लिख ही आए हैं। भारतेन्दुकाल तक हिन्दी खड़ीबोली गद्य के विकसित होने की परिस्थितियां एवं उसके कारण मूलतः यही रहे। इससे आगे हम हिन्दी गद्य के प्रचार प्रभाव एवं प्रसार की दृष्टि से चार काल निर्धारित करते हैं—

१. भारतेन्दु युग—सन् १८६८ से १८८८ तक।
२. संधि युग—१८८९ से १९०२ तक।
३. द्विवेदी युग—सन् १९०३ से १९३५ तक।
४. प्रगतिशील या वर्त्तमान युग—सन् १९३६ से आज तक।

उपर्युक्त काल हमने इसलिये निर्धारित कर लिये हैं जिससे कि हम एक ही जैसे कुछ लेखकों एवं उनकी रचनाओं का भली प्रकार परिचय पा सकें। इन कालों को निर्धारित करने का यह मतलब नहीं कि इन कालों में जो कुछ लिखा गया वह एक तंग सीमा के भीतर ही गिना जाना सत्य है। ऐसी बात नहीं। भारतेन्दु युग के लेखक द्विवेदी युग में भी रहे और द्विवेदी युग के प्रगतिशील युग में भी अपनी परम्परा बना गए। अन्तर सिर्फ इतना रहा कि भारतेन्दु युग में जो कुछ लिखा गया उससे परिवर्त्तित

द्विवेदी युग का गद्य है—भाषा, शिल्प और दृष्टिकोण की विकसित परिवर्तनशीलता वहाँ आभासित होती है। इसके बाद जो कुछ प्रगतिशील युग में आरम्भ से अब तक लिखा गया है वह द्विवेदी युग के गद्य से बहुत कुछ अदला-बदला हुआ सा लगता है। हिंदी खड़ीबोली गद्य के क्रमिक सोपानों को ऊँचा—और ऊँचा समझने के लिये ही हमने यह काल निर्धारित किये हैं, बस। नीचे हम इन चारों कालों के गद्य साहित्य का युग-व्यापी प्रभाव-प्रचार एवं प्रसार देश-कालीन हलचलों एवं परिस्थितियों के अनुकूल-प्रतिकूल लिख रहे हैं—

भारतेन्दु युग (सन् १८६८ से १८८८)

आधुनिक साहित्य सृजन का ये युग संक्रान्ति का युग है। यह संक्रान्ति मूलतः

वातावरण तीन प्रकार से दबी-दबी सी चल रही थी—

अ—राजनीतिक क्रान्ति।

आ—धार्मिक क्रान्ति।

इ—सामाजिक, राष्ट्रीय-क्रान्ति।

१८५७ के बाद अँग्रेजी हकूमत का सिक्का चालू हो गया। राजनीतिक सत्ता हाथ में आ जाने पर भी अँग्रेजों की नीति मुसलमानी राजनीति के

अ—राजनीतिक क्रान्ति के समान अधिक आतंकवादी न हो सकी। अँग्रेज शासक सबको खुश करके अपना उल्लू सीधा करने वाली चाल को दृढ़ बना रहे थे। फलतः भारत की राजनीतिक क्रान्ति अँग्रेजों के साथ रक्त-क्रांति के रूप में परिणत न हो सकी। दूसरे भारतीय, १८५७ की घोर पराजय भी इस बात को बल न दे सकी। किन्तु राजनीतिक क्रान्ति के लिये इस समय भारतीय आत्मा में चिंगारी जरूर सुलगती रही, जिसका अनुभव एवं प्रकटीकरण तत्कालीन साहित्यिक कृतियों में निरंतर जोर पकड़ता गया। 'भारत-भारती' और 'भारत-दुर्दशा' जैसी कृतियाँ इस बात का समर्थन करती हैं कि यहाँ की अँग्रेजी हकूमतशाही के प्रति कैसा क्षोभ एवं विद्रोह साहित्य में जन्म लेना चाहता था, जो आगामी प्रेमचंदीय और उससे आगामी साहित्य में प्रतिपादित हुआ।

राजनीतिक क्रान्ति के अधिक व्यापक न होने पर भी इस समय धार्मिक क्रान्ति काफी उग्र रही और विदेशी संस्कृति-सभ्यता का अत्यधिक विरोध प्रकट हुआ। राजा

राममोहनराय, स्वामी दयानन्द एवं तिलक आदि ने निरन्तर हिन्दी-

आ—धार्मिक क्रान्ति हिन्दू एवं हिन्दुस्तान के धार्मिक महत्व को उग्र रूप से एवं सुधारवादी ढंग से फैलाने के भरसक प्रयत्न किये। ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज के उपदेशकों एवं सुधारवादियों ने भी भारतीय जनता को

ईसाइयत के आकर्षण से बचाकर तथा हिन्दू जाति की जाति-पांति-परम्परा को झकझोर कर अखण्ड प्राचीन वैदिक संस्कृति का उद्घोष जगाया। इन सभी धार्मिक कारणों एवं संघर्षों के फलस्वरूप भारतेन्दुकालीन साहित्यकारों में पूर्वयुगीन साहित्यकारों के साहित्य की भाँति अनुभूति की गहराई न रहकर देशकालीन परिस्थिति एवं अवस्था के प्रति विचारों का कलाविहीन उपदेश एवं साहित्य का माध्यम लेकर आदेश एवं अतीत गौरव का महत्वांकन थोपने का दृष्टिकोण सर्वथा प्रधान बन गया। सम्प्रदायिकता के धरातल पर जातीय पुनरुत्थान का साहित्यक सृजनोद्देश्य स्थापित हुआ। हिन्दू धर्म रक्षा का विचार तत्कालीन साहित्यकार अपने साहित्य के विविध अंगों—कविता, निबन्ध, नाटक आदि—में प्रकट करने लगे।

इ—सामाजिक-राष्ट्रीय क्रान्ति

यह ठीक है कि अँग्रेज़ों ने भारतीय धर्म एवं राजनीति को काफी विषावत एवं खोखला बनाना चाहा, किन्तु उनके द्वारा भारतीय जन-मन चेतना में सामाजिक राष्ट्रीय-क्रान्ति का सूत्रपात भी हुआ। यहाँ का धन विदेश जाने लगा। यहाँ की जनता औद्योगिक प्रचार से ऊँच-नीच वर्गीय कटुता में घुटकर दम तोड़ने लगी। प्राचीन भारत के नैतिक व्यवहार एवं आदर्श-संस्कार अँग्रेजों की साम्राज्यवादिता एवं पूंजीवादिता के पाटों में पिसने लगे। फलतः यहाँ पर क्रान्ति के दो वर्ग—पूँजीवादी एवं श्रमवादी—परस्पर अपनी-अपनी शक्ति एवं प्रगति का नारा बुलन्द करने लगे। विदेशी कपड़ा एवं दूसरे उपयोगी उपकरण यहाँ के भारी अर्थ-मूल्य पर खपने लगे। भारत की प्राचीन वस्तु कार्य-प्रणाली को ज़ोर का धक्का लगा। जुलाहे का मूल्य घट गया। बढ़ई एवं लुहार का काम मशीनों पर पूरा होने लगा और उनको पूरा कराने वाला मिल मालिक-वर्ग बना और पूरा करने वाला मजदूर-वर्ग। किसानों पर दनादन बदोबस्त एवँ कर लागू किये जाने लगे। अँग्रेजों ने यहाँ की जनता से भारी कीमत लूट कर वस्तुएँ सुलभ कर उसे सन्तुष्ट तो किया किन्तु उसको गृह-उद्यम एवं अपने दस्ती-निर्माण के धरातल से उठाकर दे मारा। चोट गहरी लगी, परन्तु इलाज क्या था? भारतेन्दु रचित 'भारत दुर्दशा' नाटक की यह पँक्तियाँ पठनीय हैं—

"महाराज, संतोष ने राजा प्रजा सबको अपना चेला बना लिया। अब, हिंदुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा पैन्शन ही सही। रोजगार न रहा सूद ही सही। वह भी नहीं तो घर का ही सही। 'सन्तोष परम सुख' रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं। उद्यम की ओर देखते ही नहीं। निरुद्यमता ने भी संतोष को बड़ी सहायता दी। इन दोनों को बहादुरी का मेडल जरूर मिले। व्यापार को इन्हीं ने मार गिराया।"—

उक्त इस एक ही उदाहरण से हमें यह साफ-साफ प्रकट होता है कि उस समय

भारतीय जन-जीवन की आत्मा और उसके वाह्य रूप की कैसी दयनीय दशा थी। भारत का पेट तो भर रहा था किन्तु उसका वल घट रहा था। संतोष की आड़ में आलस्य एवं प्रमाद पनप रहा था। राष्ट्रीय-चेतना एवं सामाजिक-भावना को प्रगतिमय वाण की तीव्र अपेक्षा थी, भारत को पुनरुत्थान का ठोस क़दम बढ़ाने की अनिवार्यता थी।

भारतेन्दु युगीन सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए अपने ग्रन्थ "हिन्दी के गद्यकार और उनकी शैलियाँ" में श्री रामगोपाल सिंह चौहान ने काफ़ी स्पष्ट लिखा है—

"इस प्रकार एक ओर तो हमारे देश में उस समय एक नई राष्ट्रीय चेतना करवट ले रही थी, दूसरी ओर साम्राज्यवादी गुलामी और शोषण हमारे जन-जीवन में अपने पंजे गहराई से जमाता जा रहा था, और तीसरी ओर पुराने सामन्ती ढाँचे में विघटन और नये साम्राज्यवादी और पूँजीवादी ढाँचे के असम्बद्ध और विच्छृंखल मेल से नित नई सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हो रही थीं। यह एक संक्रान्ति एवं दुरभिसन्धि का युग था। हमारे गद्य साहित्य ने अपना रूप सँवार इस संक्रान्ति-युगीन राष्ट्रीय जागरण की नवोन्मेषकारी चेतना के बीच किया। उसकी एकमात्र मूल-शक्ति रही अंग्रेजी साम्राज्य के शोषक रूप से तथा देशी मानसिक गुलामी-सांस्कृतिक, धार्मिक अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों आदि से मुक्तकामी संघर्ष की चेतना। इस चेतना में आरम्भ से ही अन्धविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक पाखण्डों, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, छुआछूत, सतीप्रथा, सामन्त, अंग्रेजी शोषण और दमन, राजा नवाबों आदि के विरोधी तत्व मौजूद थे। भारतेन्दु ने इस मुक्तकामी चेतना का अङ्कन अपने गद्य साहित्य-निबन्ध और नाटकों में स्पष्ट रूप से किया है। 'भारतदुर्दशा' 'भारत जननी'; 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति'; 'प्रेम जोगिन' आदि नाटक तथा 'वैष्णवता और भारतवर्ष', 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है', 'जाति विवेकिनी सभा' आदि निबन्धों में उपरोक्त सभी तत्व विद्यमान हैं, और उनमें राष्ट्रीय गौरव की स्थापना, समाज सुधार, मातृभाषा प्रेम, देश प्रेम आदि राष्ट्रीय-जागरण की भावनाओं का स्वर अपनी बुलन्दी पर मुखरित हुआ है। यह चेतना इस काल के सभी लेखकों में पाई जाती है।" (पृष्ठ ३२)

प्रस्तुत उदाहरण से यह अच्छी तरह ज्ञात होता है कि भारतेन्दुकाल में जो भी साहित्य रचा गया उसकी तह एवं अभिव्यक्ति दोनो में समाजवादी स्फुरण का प्रवेग बढ़ता रहा। ऐसे नवीन किन्तु विषम वातावरण के दौर से गुजरता हुआ भारतेन्दु मण्डल का साहित्यकार यदि अपने राष्ट्रीय गौरव एवं देश प्रेम का यथार्थ संदेश न देता तो क्या देता? फिर दूसरी ओर रीतिकालीन परंम्परित साहित्य का विरोध भी तो

सामने खड़ा था। इस दशा में, भाषा, एवं विषय सर्जना की दृष्टि से विरोधी आंदोलन सफल बनाकर, युग सुधार एवं सुविधा को ध्यान में रखते हुए, ब्रजभाषा के स्थान पर विकसित होते हुए खड़ी बोली के गद्य को युग के अनुरूप आगे बढ़ाना था। इन्हीं सब कारणों से साहित्य के क्षेत्र में नए मोड़ का आरम्भ हुआ। अतः आधुनिकयुग में जितने भी साहित्यिक वाद-प्रतिवादों का संघर्ष-उत्कर्ष हम देखते हैं उसका सूत्रपात भारतेन्दु युग में ही हुआ और आधुनिक साहित्य का आदि सृजन-सेहरा हम इसी काल के सिर पर धरने के लिये विवश होते हैं—यद्यपि साहित्य का सुन्दर से सुन्दर सेहरा बनाने की कामना में हमारा साहित्यिक आजतक भी जुटा है। आधुनिक हिन्दी गद्य के भारतेन्दु पिता हैं। भारतेन्दु की सबसे बड़ी हिन्दी साहित्य को देन खड़ीबोली को सर्वमान्य रूप देने की है। राजा लक्ष्मणसिंह एवं शिवप्रसाद सितारेहिन्द—इनका संघर्ष हम ऊपर लिख ही आए हैं—का हिन्दी भाषा को संस्कृत एवं अरबी-फारसीमय प्रयोग देने वाला खतरा भारतेन्दु ने दूर किया। उन्होंने हिन्दी खड़ीबोली का सर्व-प्रिय रूप स्थापित किया। शिवप्रसाद के अनुसार, भारतेन्दु ने न तो हिन्दी भाषा में उर्दू-फारसी का अस्तित्व अपनाना स्वीकार किया और न ऐसे शब्दों की उपेक्षा ही की जो सहज विदेशी रंग के थे। उनका दृष्टिकोण यह रहा कि भाषा का प्रयोग ऐसा होना चाहिए जिसको सभी अपना सकें। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भारतेन्दु ने जिस हिंदी भाषा का प्रयोग एवं प्रचार किया, कहा जायगा कि उसमें जन-रुचि की समाहारता पूरी-पूरी तरह बनी रही। उर्दू-फारसी के उन शब्दों का भारतेन्दु ने प्रयोग किया जो हिन्दी में घुलमिल कर रह गए·····एक लय हो गए। इधर राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत प्रधान हिंदी भाषा का अंध-समर्थन न करते हुए भी, जनदृष्टि रखते हुए भारतेन्दु ने तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग खूब जारी रक्खा। ध्यान रखने वाली बात विशेष यह है कि भारतेन्दु ने अपनी ओर से जिस ढंग की भाषा का प्रयोग किया वह विषय के अनुरूप ही चली। उनकी इतिहासिक, पौराणिक कृतियों में संस्कृत शब्दों का पुट लिये हुए हिंदी भाषा है, इतिहास एवं समाजोपयोगी विषयों की भाषा व्यवहारिक है; इसी प्रकार भावनामय विषयों पर सरस एवं मधुर शब्दावली प्रस्तुत की गई है। यह तो निश्चय है कि भारतेन्दुकाल के सभी लेखकों द्वारा खड़ीबोली भाषा की नैसर्गिक अवस्था की स्थापना नहीं हो पाई··· उसमें पण्डिताऊ एवं गँवारूपन इस प्रकार चलता ही रहा जैसे कि किसी पढ़े-लिखे ग्रामीण अफसर में भी, बातचीत करते समय हम कभी-कभी भावावेश में ग्रामीणशैली की लचक पा ही जाते हैं। फिर भी इस युग के लेखकों ने बड़े साहस से इस समय हिंदी खड़ीबोली गद्य साहित्य सृजन का जोर-शोर दिखलाया। इतना भी कम सराहनीय नहीं है।

स्वयं भारतेन्दु द्वारा [illegible]स भाषा, शैली एवं विषय-वर्णन का हिन्दी गद्य

साहित्य में आदर्श, स्वरूप-सृजन स्थापित हुआ वही भारतेन्दु मण्डल के लेखकों ने ग्रहण किया। भारतेन्दु मण्डल के साहित्य साधक ये रहे—

डा० जगमोहनसिंह, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, बद्रीनारायण चौधरी, केवशवराम भट्ट (उर्दू-फारसी से विशेष प्रभावित, बालमुकुन्द, राधाचरण गोस्वामी, आदि·····।

यह पूरी तरह ध्यान रखने की बात है कि भारतेन्दुयुग में गद्य के क्षेत्र में जितना कुछ लिखा गया वह शैली, भाषा एवं विषय की दृष्टि से प्रायः एक सा ही रहा हाँ प्रतिभा की दृष्टि से किसी में कुछ विकास अधिक रहा तो किसी में कुछ कम। यह कहने में कोई विवाद न्यायसंगत नहीं ठहर सकता कि भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य की नवीनतम् गद्य-प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया—भाषा की दृष्टि से, रचना की दृष्टि से, विषय की दृष्टि से। यों वह सम्पूर्ण गद्य-साहित्य के आदि प्रवर्तक एवं प्रतिष्ठापक थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का निम्नलिखित दृष्टिकोण इस विषय में पठनीय है—

"भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में लाए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देश हित, समाज हित आदि की नई तरंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति शृंगार आदि के पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली जा रही थीं पर साहित्य निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न अब तक नहीं हुआ था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ गया था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।"

इस प्रकार भारतेन्दु गद्य-युग के आदि महारथी के रूप में हैं। यही इस युग की सम्पूर्ण रचनात्मक चेतना के सूर्य रहे।

स्वयं भारतेन्दु ने अनेक मौलिक और अनूदित नाटक लिखकर भारतीय प्राचीन मृतप्राय नाट्य परम्परा को सजीवता प्रदान की। भारतेन्दुकाल से पूर्व यद्यपि जन-

नाटक

पदीय—ब्रज, अवधी और मैथिल आदि—भाषाओं की नाट्य परम्परा चली है। इसके लिये रासलीला, कीर्तनिया और रामलीला आदि की परम्परा ली जा सकती है। मैथिलकोकिल

विद्यापति ने १५वीं शताब्दी में "गोरक्ष विजय नाटक" लिखा और यह नाटक प्रचलित भी खूब हुआ। फिर १६वीं १७वीं शताब्दी में महाराज जसवन्तसिंह का संस्कृत नाटक का अनुवाद "प्रबोध चन्द्रोदय" और रीवां नरेश विश्वनाथ जी का मौलिक नाटक "रघुनन्दन नाटक" भी उल्लेखनीय कहे जायेंगे। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र जी ने 'नहुष' नाटक सन् १८४१ में और अमानत ने "इन्दर सभा" सन् १८५३ में लिखा किंतु यहाँ तक की नाट्य परम्परा का आधुनिक नाट्य परम्परा से कोई सम्बन्ध या प्रयोजन प्रकट नहीं होता। एक तो यह नाटक प्रायः पद्य में है और दूसरे इनकी भाषा वर्तमान नाटकों की भाषा न होकर ब्रज एवं अन्य जनपदीय भाषा है। सन् १८ १ में राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिंदी अनुवाद किया। यह अनुवाद कुछ अच्छा भी है किंतु एक तो अनुवाद है और दूसरे आधुनिक नाटकीय तकनीक से बहुत दूर भी है। प्रथम स्वयं भारतेन्दु ने जो नाटक दिया वह सन १८६१ में बगला के नाटक 'विद्या सुन्दर' का किया अनुवाद था। किन्तु हिन्दी मौलिक नाट्य सृजन परम्परा में उनका ही लिखा प्रहसन "वैदिक हिंसा-हिंसा न भवति" है। भारतेन्दु युग के नाटक अतीत का प्रकाश एवं वर्त्तमान का सामाजिक जिन्दा विश्वास प्रस्तुत करने वाले रंगमंच हैं। इसके लिये भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चंद्र' 'वैदिक हिंसा-हिंसान भवति' तथा "भारत दुर्दशा" नाटक पठनीय है। इसी परम्परा को बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, और श्रीनिवासदास ने दृढ़ बनाया। प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु के बाद दूसरी श्रेणी के ज्वलंत नाटककार कहे जा सकते हैं। उनके नाटकों के नाम से ही ऐसा प्रकट होता है। देखिये, 'गो संकट हत्या, 'कलि प्रभाव,' ज्वारी-ख्वारी,' और 'हठी-हम्मीर'। भारतेन्दु युग के मौलिक नाटककारों एवं उनके नाटकों का विशेष उल्लेख इस प्रकार है—

१. किशोरीदास गोस्वामी कृत मयंकमजरी नाटक।

२. श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर' 'प्रेममोहिनी, एवं 'संयोगिता स्वयंम्बर' नाटक।

३. श्री प्रतापनारायण कृत 'कलिकौतुक' रूपक।

४. बद्रीनारायण चौधरी कृत 'भारत सौभाग्य' नाटक। आदि.....

प्रायः प्रत्येक नाटक रंगमंच के अनुकूल ही लिखा गया। अनुवादों के, उर्दू बंगला, संस्कृत एवं अँग्रेजी के नाटक सामने आये। स्वयं भारतेन्दु ने संस्कृत में 'मुद्रा राक्षस' नाटक का अनुवाद कर दूसरों के लिये क्षेत्र एवं मार्ग बनाया। ला० सीताराम का 'उत्तर रामचरित' श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र का 'वेणी संहार' तथा शैक्सपीयर रचित "मर्चेन्ट आफ वीनस" तथा "एज यू लाइक" आदि नाटकों के सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत हुए। मराठी के भी कुछ नाटकों के अनुवाद हुए।

प्रमुख अनुवाद कर्त्ताओं एवं उनके अनूदित नाटकों का उल्लेख इस प्रकार है—

१. श्री देवदत्त तिवारी द्वारा अनूदित उत्तर रामचरित नाटक ।

२. बालमुकुन्द गुप्त द्वारा अनूदित रत्नावली नाटक ।

३. रामेश्वर भट्ट द्वारा अनूदित रत्नावली नाटक ।

४. कृष्णदेव शर्मा द्वारा अनूदित भर्तृहरि राजत्याग नाटक ।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दुयुग में नाटक रचने एवं अनुवाद करने की प्रवृत्ति काफी ज़ोरदार रही । फिर भी इस युग के नाटकों में केवल मात्र भारतीय अतीत गौरव एवं वर्त्तमान की प्रवृत्तियों का रंगमंचीय प्रदर्शन मात्र ही उद्देश्य रहा । वह किसी हद तक प्रेरणात्मक एवं प्रचारवादी बन सका किन्तु साहित्यिक स्वरूप एवं महत्व की दृष्टि से भारतेन्दुकालीन नाटक बिल्कुल भी स्वस्थ व ललित नहीं कहे जा सकते । हाँ, उनके गद्ययुगीन इतिहासिक महत्वांकन को हम नजरंदाज भी नहीं कर सकते । वह हमारे आगामी स्वस्थ नाटकों का सुदृढ़ अस्थिपंजर प्रदान करते हैं । उद्देश्य की दृष्टि से भारतेन्दुकालीन नाटक मनोरंजन की प्रवृत्ति को उकसाने का ही काम करते प्रतीत होते हैं । भाषा की दृष्टि से यह नाटक अत्यधिक असफल हैं । क्या कहा जाय, उस समय गद्य के विकास का कुछ स्वरूप ही ऐसा रहा । रंगमंच की धूम भारतेन्दु एवं प्रतापनारायण के द्वारा बढ़ी-चढ़ी रही । स्वयं भारतेन्दु अभिनय एवं रंगमंच को बढ़ावा देने के लिये नाटकों के खेलने में दिलचस्पी के साथ अपना पार्ट अदा करते थे । इनकी मंडली की इस ओर काफी जिन्दादिल बनी रही । रंगमंच की सफलता के लिये भारतेन्दुकाल से ही प्राचीन नाट्य परम्परा की बहुत सी दुरूह तकनीक के स्थान पर पाश्चात्य ढंग की बातें नाटकों में प्रयोग की गईं । इसके लिये भारतेन्दु का नाटक की नवीनता के प्रति यह दृष्टिकोण पठनीय है—

"अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामिग्री परिपोषक काव्य सभ्य मंडली को नितांत अरुचिकर हैं, इसलिये स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्य गण की हृदयग्राहिणी है । अन्य नाटकों में कहीं 'आशी :' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी' कहीं 'विलोनन; कहीं 'संकेत', 'पंच संधि' वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं ।"

नाटकीय नवीनता के पक्ष में भारतेन्दु का यह दृष्टिकोण पूरा क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ ।

भारतेन्दु युग का निबंध क्षेत्र अपेक्षाकृत अन्य गद्य साहित्य के अधिक उर्वर रहा । गो कि तब पुस्तक रूप में केवल भारतेन्दु के ही निबंध छपे, अन्य किसी लेखक के

नहीं। बालकृष्ण भट्ट के निबंधों में जहाँ हम विविध विषयों

निबंध

का तात्विक एवं रोचक विश्लेषण पाते हैं वहाँ प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में व्यवहारिकता एवं सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीखा एवं हास्यप्रद व्यँग देखते हैं। छोटे-छोटे विषयों को रोचक ढंग पर व्यापक एवं सुन्दर बनाने का प्रयोग हम भारतेन्दुकालीन निबन्धों में देखते हैं। आस्था एवं सामाजिक उत्थान का ऐलान जितना भारतेन्दु-कालीन निबंधों में गरजता है, उतना आजतक देखने में नहीं आता—गाम्भीर्य भलेही उनमें न हो। क्रमशः भारतेन्दु तथा बालकृष्ण भट्ट के निबंधों से दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

"यदि विचार करके देखा जायेगा तो स्पष्ट प्रकट होगा कि भारतवर्ष का सबसे प्राचीन मत वैष्णव है। हमारे आर्य लोगों ने सब से प्राचीन काल में सभ्यता का अलंम्बन किया और इसी हेतु क्या धर्म, क्या नीति, सब विषय के संसार मात्र के गुरु हैं। (भारतेन्दु लिखित **"वैष्णवता और भारत वर्ष"** से)

"अंधेरा पाख पीता, उजेल आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और हँसियाँ की तरह चन्द्रमा उसी दिशा में दिखलाई पड़ा। मानो कर्कशा समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचंड ताप से दुखी हो, क्रोध में आ इसी हंसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है।" (बालकृष्ण भट्ट लिखित **"चन्द्रोदय"** से)

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से यह साफ प्रकट होता है कि भारतेन्दु-कालीन निबन्धों में काफी रोचकता समाहित थी एवं भाषा का लालित्य आ चुका था और विषय विवेचन की शक्ति भी ज्यादा शिथिल नहीं कही जा सकती। इस युग में प्रायः सभी प्रमुख— सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक, यात्रा, तीज-त्यौहारादि—विषयों पर निबन्ध लिखे गये। निबन्धकारों में बालकृष्ण भट्ट तथा प्रताप-नारायण मिश्र की प्रतिभा अधिक प्रौढ़ रही। इसके अतिरिक्त बद्रीनारायण चौधरी राधाचरण गोस्वामी, तोताराम, ज्वालाप्रसाद, ठा० जगमोहनसिंह तथा अम्बिकादत्त व्यास ने भी अच्छे निबन्ध लिखे। इस समय के निबन्धों में मेला-दशहरा, रीति-रिवाज, धर्म-नीति आचार-विचार, यात्रा एवं प्रकृति विषयक चित्रण ही प्रधान रहा। इस चित्रणमें इतिवृत्तात्मकता ही इतिवृत्तात्मकता है, सरसता,रोचकता, गाम्भीर्य नहीं। भाषा-शैली में हास्य व्यंग तथा सुझाव की घुट्टी खूब मिलती है जिसने निस्संदेह तत्कालीन भोले-भ्रमित समाज के मूर्च्छा रोग को दूर करने में आशातीत सफलता पाई। इतना होते हुए भी भारतेन्दु-कालीन निबन्धों में बौद्धिक विवेचन एवं तात्विक दृष्टिकोण का सुगठित तत्व नहीं आ सका। निबन्धों में बिखराव ज्यादा और सधाव कम है, श्रेय अधिक है प्रेय कम! बालकृष्ण भट्ट ने अपने **"भट्ट निबंधावली"** नामक निबंध संग्रह में फिर भी इस काल

के सभी लेखकों से अच्छे, साहित्यिक निबंध लिखे हैं।

भारतेन्दु युग में समालोचना का सूत्रपात हुआ मानना ठीक न होगा। वैसे मान लेने को तो कहा जाता है कि सर्वप्रथम बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवासदास की **'संयोगिता स्वयंबर'** कृति की आलोचना की थी। किन्तु सच-

समालोचना

बात तो यह है कि भारतेन्दु के समय में समालोचना लिखी जानी इसलिये सम्भव भी नहीं थी क्योंकि स्वयं भारतेन्दु और उनके मण्डल की प्रवृत्ति साहित्यांगों की गम्भीर छानबीन करने की न होकर यह थी कि जैसे-तैसे राष्ट्रीय जागरण का स्वर प्रधान हो। दूसरे शब्दों में भारतेन्दु या उनके साथी गम्भीर साहित्यविद् किंवा स्कॉलर-अध्येयता नहीं थे। उनके समय तक साहित्यांगों के अभिनव रूप, नवीन उद्भावनाएँ, उसके मान-प्रतिमान आदि भी स्थापित नहीं हो सके थे। फिर प्राचीन वाङ्मय में रीतिबद्ध निरूपण, रस विवेचन एवं अन्यान्य काव्यांगों पर दंण्डी, भरतमुनि, जगन्नाथ, भामह और मम्मट आदि जैसे महा मनीषियों ने अत्यंत गम्भीर सामग्री प्रस्तुत कर रक्खी थी। न तो भारतेन्दु एवं उनके मण्डल के लेखकों के पास उस सब को पढ़ने-देखने की सुविधा थी और न समय-साधन था। फल यह निकला कि उनके द्वारा प्रचारात्मक साहित्य की सर्जना ही हुई जिसका लक्ष राष्ट्रोपयोगी या जातीय भावनाओं को, कैसे भी हो, व्यक्त या सजग करना मात्र था। आधुनिक हिन्दी समालोचना के पहले प्रतिनिधि मिश्रबंधु लगते हैं जिनकी **"हिन्दी नवरत्न"** तथा "मिश्र बंधु विनोद" (हिन्दी साहित्य का परिचय) आदि समालोचना कृतियों का हिन्दी के आधुनिक आदि समालोचना साहित्य में प्राथमिक महत्व है। फिर समालोचना के वास्तविक एवं गतिमय सृजन के पिता श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हैं और उनके समय से आगामी—जो आज वर्त्तमान है—समालोचना का स्तर व्यापक बना।

कहानीयाँ भी, कहानी कला की दृष्टि से, भारतेन्दु युग में नहीं लिखी गईं। यों भारतेन्दु ने **"अद्भुत अपूर्व सपना"** नामक 'एक था राजा एक थी रानी' जैसी कहानी के ढंग पर कही-सुनी जाने वाली रचना की किन्तु कहानी की कला की

कहानी

दृष्टि से वह कोई सफल रचना नहीं कही जा सकती। संक्षेप में, कहानी कला का रूपविकास और उन्मेष प्रसाद-प्रेमचंद और उनके बाद के लेखकों द्वारा स्थापित हुआ जिसका उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

भारतेन्दु काल से ही उपन्यास सृजन की छुटपुट झलक देखने को मिलती है। सबसे पहले सन १८७१ में शम्भूनाथ मिश्र एवं सदानंद मिश्र ने एक उपन्यास प्रस्तुत किया, नाम था **"मनोहर उपन्यास"**। किन्तु यह कोई मौलिक उपन्यास

उपन्यास

नहीं था। यह तो उनके द्वारा सम्पादित किया गया था। इस उपन्यास

के मूल लेखक का कोइ निश्चित नाम-पता ज्ञात नहीं है। हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह हिन्दी औपन्यासिक माला का प्रथम उपन्यास-पुष्प है। यह सन् १८८४ में छपा था; सम्भवतः पुनर्मुद्रित हुआ। सन् १८८२ में छपा "परीक्षा गुरू" उपन्यास हिन्दी प्रथम सुपरिचित उपन्यास कहा जायगा। क्योंकि इसके लेखक का नाम-परिचय भी इसके साथ ही था। इसके लेखक थे श्रीनिवासदास। फिर भी यह उपन्यास औपन्यासिक तकनीक की दृष्टि से सर्वथा असमर्थ उपन्यास है। किन्तु इसमें जीवन चरित्र सम्बन्धी कुछ मौलिक ढंग से चित्रण अवश्य है। भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाकृष्ण ने सन् १८८३ में **"निस्सहाय हिन्दू"** नामक उपन्यास लिखा। सन् १८८६, में बालकृष्ण भट्ट का **'नूतन ब्रह्मचारी'** और **'सौ अजान एक सु जान'** उपन्यास भी छपा। सन् १८८८ में किशोरीलाल जी स्वामी लिखित **'त्रिवेणी'** तथा राधाचरण गोस्वामी और श्रीप्रसाद शर्मा लिखित **"विधवा विपत्ति"** उपन्यास का प्रकाशन हुआ।

हिन्दी, उर्दू, बँगला और अंग्रेजी के कुछ उपन्यासों के अनुवाद का कार्य भी असमर्थ रूप में होता रहा। जैसे, स० १८९० में **'ठग वृत्तांत माला'** तत्पश्चात **'पुलिस वृत्तांतमाला'** उपन्यास निकले। इन उपन्यासों के अनुवादकर्त्ताओं में किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण दास और श्रीदिवासदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है भारतेन्दुयुग में आख्यान साहित्य का सृजन भाषा, भाव विचार एवं शिल्प की दृष्टि से सफल न हो सका, पर इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भारतेन्दुयुग हिन्दी आधुनिक साहित्य निर्माण का आरम्भिक चरण था जिसमें जितना जैसा जो कुछ हम देखते या पाते हैं वह साहित्य की इतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है।

विविध

साहित्य शास्त्र के अंतर्गत अलंकार-रस विवेचन, नाट्य शास्त्र, छंद शास्त्र आदि सम्बन्धी सभी विषयों पर कुछ तो सामग्री गद्य में छपी, भले ही उसमें शोध-खोज एवं मौलिकता का अभाव क्यों न रहा हो। यात्रा तथा चरित्र विषयक विभिन्न प्रकारेण गद्य लिखा गया पर वह साहित्यक दृष्टि से नगण्य ही समझा जाना चाहिये। भाषा, ज्ञान-विज्ञान, कोषादि अन्य विषयों पर भी गद्य के नाम पर कुछ लिखा गया। किन्तु उसमें केवल प्रचार ही प्रधान है। किसी प्रकार का नया वैज्ञानिक तत्व या दृष्टिकोण उसके भीतर खोजना व्यर्थ होगा। धर्म-साहित्य विषयक इस समय में लिखे गए **'सत्यार्थ प्रकाश'** एवं **'शिवसिंह सरोज'** ग्रन्थ उल्लेखनीय कहे जाँयगे।

नाटक एवं निवन्धों को छोड़कर इस समय जैसा जो कुछ भी गद्य साहित्य

लिखा गया वह पूर्णरूपेण हिन्दी आधुनिक गद्य की इतिहासिक परम्परा जोड़ने एवं जानने के लिये ही महत्वपूर्ण कहा जायगा। साहित्यक दृष्टि से वह प्रौढ़

निष्कर्ष नहीं है। सार रूप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युगीन गद्य-साहित्य सूत्रपात, प्रचार और प्रयोग की दृष्टि से विशेष है। अंग्रेजी में उसे कहा जायगा, the literature of time. भाषा-प्रौढ़ता एवं ठोस विषय प्रतिपादन की दृष्टि से वह विशेष महत्व पूर्ण नहीं है।

संक्षेप में, भारतेन्दु काल में वर्त्तमान खड़ी-बोली गद्य का रूपाकार बनना आरम्भ हुआ था। इसके अतिरिक्त हम उसे कुछ और समझेंगे तो उलझकर रह जायेंगे।

आधुनिक खड़ी बोली गद्य का साहित्यिक-समाजिक अस्तित्व कायम करने के के लिये भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं का बाजार काफी से अधिक गरम रहा। इस साधन द्वारा भारतेन्दु काल की निरन्तर बढ़ती हुई विकास परम्परा

पत्र-पत्रिकाएं हिन्दी-गद्य साहित्य को, कविता की अपेक्षा, अधिक कामयाब और व्यापक बनाने मैं समर्थ रही है। इन पत्र-पत्रिकाओं में जीवन, धर्म, समाज, रीति-रस्म, जीवन-चरित्र, इतिहास, ऋतु-वर्णन, देश-काल की दशा विषयक बड़े प्रभावपूर्ण, रोचक हास्य-व्यंग-युक्त हल्के भावात्मक-विचारात्मक निबन्ध छपते थे। नवीनता एवं पुरातनता की द्वंदात्मक सामाजिक वृत्ति का इन पत्र-पत्रिकाओं की रचनाओं द्वारा खूब चित्रण हुआ है। वस्तुतः भारतेन्दुकालीन साहित्य की मूल प्रवृत्तियों-परिस्थितियों एवं प्रगतियों का मसाला इन पत्रिकाओं में खूब मिलता है। संक्रांतिकाल का सजीव चित्रण इन पत्र-पत्रिकाओं में तत्कालीन लेखकों ने पूरी निर्भीकता से किया है। इस समय का महत्वपूर्ण पत्र 'सुधारक' रहा जो सन् १८५० में काशी से प्रकाशित हुआ और इसके जनक थे बाबू तारामोहन मिश्र। 'कवि वचनसुधा' सन् १८६८ में स्वयं भारतेन्दु जी द्वारा निकाला गया जिसमें युग की समस्याओं पर काफी कुछ भारतेन्दु और उनके साथी लिखा करते थे। वैसे भारतेन्दु युग में लगभग २७-२८ पत्र-पत्रिकाऐं प्रकाशित हुईं। कुछों के नाम इस प्रकार हैं—

१. अल्मोड़ा अखबार (सम्वत् १९२८, सम्पादक सदानन्द सलवाल)
२. सदादर्श (सम्वत् १९३१ दिल्ली, सम्पादक श्री निवासदास)
३. भारतबन्धु (अलीगढ़, सम्वत् १९३३, सम्पादक तोताराम)
४. भारतमित्र (कलकत्ता, सम्वत् १९५४, सम्पादक रुद्रदत्त)
५. हिन्दी प्रदीप (प्रयाग, सम्वत् १९३४, सम्पादक बालकृष्ण भट्ट)
६. आनन्द कादम्बिनी (मिर्जापुर, सम्वत् १९३८, सम्पादक बद्रीनारायण चौधरी)

७. ब्राह्मण (कानपुर, सम्वत् १९४०, सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र)
८. भारत जीवन (काशी सम्वत् १९४०, सम्पादक रामकृष्ण वर्मा)
९. भारतेन्दु (वृन्दावन, सम्वत् १९४१, सम्पादक राधाचरण गोस्वामी)
१०. हिन्दी दीप्ति प्रकाश (कलकत्ता)
११. मित्र विलास (लाहौर)
१२. भारत माता (रीवां)
१३. नागरी नीरद (मिर्जापुर)
१४. आर्य पत्रिका (मिर्जापुर)
१५. आर्य दर्पण (शाहजहाँपुर)

इन सभी पत्रों में साहित्यिक विषयों पर कम एवं साम्प्रदायिक एवं सामाजिक विषयों पर पूरी छूट के साथ लिखा होता था। इन पत्रों का संचालन यद्यपि साहित्यिक गद्य-रचना विकास को गति नहीं दे सका किंतु इस संचालन के द्वारा हिन्दी खड़ीबोली गद्य का व्यापक प्रचार बढ़ा।''' इसीलिये इन पत्रों का बड़ा महत्व माना जाना चाहिये। भारतेन्दु युग के प्रमुख लेखकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. बालकृष्ण भट्ट

आपके पूर्वज मालवा के निवासी थे। आपकी माता विदूषी थीं। अतः बचपन से ही आपको विद्या व्यसन लग गया। मेट्रिक तक शिक्षा पाई। चन्दा करके बड़ी लगन से आपने '**हिन्दी प्रदीप**'' पत्रिका चलाई। कायस्थ पाठशाला कालेज में आप संस्कृत के अध्यापक भी रहे। आपकी भाषा इस काल के अन्य लेखकों की अपेक्षा गम्भीर रही किन्तु उसमें कहावतों मुहावरों, व्यंगों, और वक्रोक्तियों का चुटीला प्रयोग रहता था। वाक्य लम्बे होते थे। आपने अपने युग की सभी साहित्य की गति-विधियों में भाग लिया। निबन्ध लेखक रूप में तो आपको अंग्रेजी के एडिसन का रूपान्तर माना जाता है। आपने अपनी रचनाओं में आवश्यकतानुसार उर्दू, संस्कृत और गंवारू टाइप के शब्दों का भी प्रयोग किया। कुल मिलाकर आपने भाषा का जन-प्रचलित रूप ही अधिक अपनाया और गम्भीर तथा सरल सभी विषयों पर लेखनी चलाई। आपका लिखा गद्य का एक उदाहरण देखिए—

'मिथ्या और दरोग़ की किबलेगाह इस कल्पना पिशाचनी का कहीं ओर-छोर किसी ने नहीं पाया। अनुमान करते-करते हैरान हो ''गौतम से मुनि ''गौतम'' हो गये। कणाद तिनका खा-खाकर किनका बीनने लगे, पर मन की मनभावनी ''कन्या'' कल्पना का पार न पाया।''

हिन्दी लेखकों में जितने मनमौजी स्वभाव के मिश्रजी थे आज तक कविवर '**निराला**'' जी को छोड़कर सम्भवतः कोई दूसरा साहित्यिक इस युग में नहीं हुआ। आपने

२. प्रतापनारायण मिश्र

स्कूली शिक्षा न पाते हुए भी अपने गम्भीर स्वाध्याय से उर्दू, फ़ारसी, बंगला और संस्कृत का खूब परिचय प्राप्त कर लिया था। सन् १८८३ में आपने ब्राह्मण पत्र संचालित किया। आप भारतेन्दु का लेखन-आदर्श स्वीकार करते थे। एक प्रकार से जनबोली में ही आपने साहित्य लिखा है। आपकी भाषा में साहित्यिकता भले ही न हो, किन्तु उसमें अपनी बात को पूर्ण प्रभावशाली ढंग से, या अखण्डता से व्यक्त कर देने वाली शक्ति प्रायः आजकल के सभी हिन्दी के लेखकों से अधिक पाई जाती है। आपकी शैली यथास्थल हास्य, व्यंग के वार से चुटीली रही और भाषा में मुहावरे, कहावतें, चुटकुले सान की तरह चढ़े रहे। बेसवाड़ी, पूर्वी, एवं ब्रज शब्दों का आपने खूब प्रयोग किया है, किन्तु उनकी भाषा रही है खड़ीबोली हिन्दी ही। छोटे-छोटे विषयों पर निबन्ध लिख देने की आपमें अपूर्व क्षमता थी। तत्कालीन साधारण जनता में आपके लेखों का प्रभाव जोर-शोर से पड़ता था—शायद तत्कालीन सभी गद्यकारों के लेखों से अधिक। आप भारतेन्दु काल की सभी साहित्यिक गतिविधियों में पूर्ण सहयोग दिया करते थे। नाट्य-मण्डली में तो आप नारी तक का पार्ट भी मौज में अदा करते थे। भाषा की अव्यवस्था के बावजूद भी मिश्र जी के गद्य में काफी जान रही। एक उदाहरण, प्रस्तुत है—

"एक बार दुत्कारे जाओ फिर धन्ने धरो, किसी भाँति हतोत्साह न हो, न हिम्मत हारो, जो मनसाराय कचियाने लगे तो यह मंत्र सुना दो बस फिर देखना पाँच-सात बरस में फ़ारसी छारसी उड़ जायगी नहीं तो होता तो परमेस्वर के किए है। हम सदा यही कहा करेंगे "पीस का चुकरा गावे का दीताहरन" "धूरे का लत्ता बिनै कनातन का कौन बाँधे"। हमारी भी कोई सुनेगा ? देखें कौन माई का लाल पहिले सिर उठाता है।"

३. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या

आपने भारतेन्दु के प्रचारवादी काल में भी हिन्दी साहित्य की ठोस सेवा करने की साधना की। आप भारतेन्दु के परम मित्रों में से थे। आपने लगभग १२ ग्रन्थ लिखे हैं। जिनमें आपका 'पृथ्वीराजरासो' सम्पादित बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध हुआ।

४. श्रीनिवासदास

आपको हिन्दी का प्रथम उपन्यास लेखक कहा जाता है और वह उपन्यास है "**परीक्षा गुरु**"। आपकी शैली उपन्यास की जैसी वर्णनात्मक रही। आपकी भाषा तत्कालीन अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक खरी है पर व्याकरण का शैथिल्य तो इनकी भाषा में भी खूब है। उर्दू के ठेठ शब्दों का भी आपने प्रयोग किया है। "**उस्में, इस्तरह, सै, तहाँ**" आदि का विभक्ति-गत दोष आपकी भाषा में खूब रहा है। यह रोग तो महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की पूर्व-कालीन रचनाओं तक चलता रहा था।

आपने हिन्दी के अनुवाद क्षेत्र को प्रारम्भ बड़ा में सम्पन्न किया था। आपका कालिदास के मेघदूत का अनुवाद प्रथम १८८३ में छपा। शेक्सपीयर के दो नाटकों का भी आपने अनुवाद किया। आपने संस्कृत काव्य और नाटकों के अनुवाद करने में बड़ी सावधानी का परिचय दिया है। आपकी भाषा में विषय के अनुरूप यथासाध्य चलने की क्षमता परिलक्षित होती है।

५. लाला सीताराम

अपनी योग्यता के कारण आप अनेक वर्षों तक यूनिवर्सिटी की फेलो-टेक्ट बुक कमेटी का सदस्य नियुक्त रहे। हिन्दी अनुवादों की परम्परा में आप अग्रणी लेखकों में हैं। आपके किये उत्तररामचरित, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक आदि अनुवाद काफी प्रचलित हुए।

अन्य लेखकों में भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास थे। इन्होंने भारतेन्दु के "**सती प्रताप**" अपूर्ण नाटक को उनके पश्चात् पूर्ण किया। आपका लिखा "**महाराणा प्रताप**" नाटक बड़ा प्रसिद्ध हुआ। नागिरी प्रचारिणी सभा के निर्माताओं में आपकी सेवाएँ भी महत्वपूर्ण समझनी चाहिये। जगमोहनसिंह जी बड़े मिलनसार, एवं हिन्दी-अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। आपने उस समय में ही "**श्यामा स्वप्न**" रेखाचित्र लिखकर रेखाचरित्र सृजन की परम्परा निर्माण करने में सहयोग दिया। आपकी रचनाओं में साहित्यिकता की पुट अवश्य है किन्तु भाषा तत्कालीम अन्य लेखकों की भाँति अस्त-व्यस्त है। अम्बिकादत्त व्यास भी इस समय के अच्छे लेखक और कवि थे। संस्कृत एवं ब्रज-भाषा के आप पंडित थे। आपने बिहारी के दोहों पर आधारित एक काव्य लिखा—"**बिहारी बिहार**"। आपकी भाषा भी मिश्रित एवं अव्यवस्थित रही। हाँ ब्रजभाषा के प्रयोग में आप खूब सफल रहे हैं।

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' बड़े उच्च घराने के कवि और लेखक थे। कला और कलम की साधना की दृष्टी से ही उन्होंने लिखा है। भाषा परिष्कार एवं परिमार्जन की ओर उनका ध्यान द्विवेदीजी जैसा ही रहा। वह अन्य लेखकों की शिथिल रचना की भाषाशैली की आलोचना भी किया करते थे। आपने अपने युग में बड़ा परिमार्जित गद्य लिखा। आपके गद्य में तथ्य विवेचन एवं विचार-विश्लेषण का गुण भी देखने को मिलता है, जैसे—

"**ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुख की रेलपेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।**" (कादम्बरी से)—आपका वाक्य-विन्यास कभी-कभी आवश्यकता से अधिक बढ़ जाता था। किन्तु यह तो मानना होगा कि भारतेन्दुकाल के समस्त लेखकों में प्रेमधन जी का खड़ीबोली का गद्य कोहनूर सा प्रतीत होता है। सम्भव है आचार्य द्विवेदी जी ने '**प्रेमधन**' जी की भाषा-विषयगत साधना को भी ध्यान में रखते हुए गद्य का परिमार्जनव्रत लिया हो।

केशवरामजी भट्ट, पं० भीमसेन शर्मा, कार्तिकाप्रसादजी खत्री, बा० तोताराम, बाबू गदाधर सिंहजी, काशीनाथजी खत्री, रामपालसिंहजी, राधाचरणजी गोस्वामी, रामकृष्णजी खत्री, दामोदरजी शास्त्री, सुधाकरजी आदि गद्य लेखकों ने भी उस समय के प्रचारात्मक गद्य लेखन कार्य को अपने-अपने ढंग से यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया।

संधि युग (सन् १८८९ से १९०३ तक)

भारतेन्दु युग से आगे लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष का समय ऐसा आता है जिसमें किसी प्रतिनिधि साहित्यकार का प्रतिनिधित्व न रहा। किन्तु उसमें हिन्दी भाषा और साहित्य के उन्नयन-हेतु कुछ नए कार्य-क्रम बने और साथ ही भारतेन्दुयुग की उथली साहित्यिक परम्परा से उबरकर कुछ कवि-लेखक युग की नवीन अन्तश्चेतना को साहित्य में निखारना चाहते थे। इस काल में हिन्दी की प्रगति के लिए बड़े उत्साह से प्राचार कार्य हो रहा था। भारतेन्दु हरिश्चन्द पहले ही पूर्वीय भारत और विशेषतः संयुक्त प्रांत में हिन्दी भाषा प्रचार का डंका बजा चुके थे। इसके साथ ही राजा राममोहनराय, नवीचन्दराय आदि हिन्दी प्रेमी महानुभावों का कार्य भी बड़ा जागृति-जनक सिद्ध हो चुका था। भारतेन्दु के पश्चात पंडित गौरीदत्तजी ने हिन्दी प्रचार का कार्य बड़े उत्साह से किया। आपने अनेकानेक हिन्दी पुस्तकें लिखने के अतिरिक्त हिन्दी शब्दकोष भी बनाया। ठाकुरप्रसाद खत्री ने भी काशी नागरी प्रचारणी सभा का वैज्ञानिक कोष सम्पन्न करने में पूर्ण सहयोग दिया। यह हम पहले संकेत कर आये हैं कि हिन्दी के प्रचारकार्य में आर्यसमाज का सहयोग बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। इस युग में उसने और भी तत्परता दिखाई। लाला लाजपतराय, गुरुदत्त और हँसराज विद्यार्थी आदि ने पंजाब में हिन्दी प्रचार के कार्य में पूर्ण सहयोग दिया। लाहौर के दयानन्द वैदिक कौलेज में इस प्रचार की काफी धूम रही और वास्तव में इस कॉलेज की स्थापना का मूल ध्येय भी कुछ ऐसा ही था। स्वामी दयानन्द का हिन्दी प्रचार विषयक स्वप्न सफल करने में आर्य्यसमाज के सदस्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इधर काशी नगरी प्रचारिणी सभा का बीजारोपण हुआ। इसका जन्म प्रारम्भ में कुछ छात्रों द्वारा सन् १८९३ में हुआ। श्यामसुन्दरदास जी ने इस संस्था के अन्तर्गत अपने व्याख्यानों-लेखों द्वारा हिन्दी का यथासाध्य प्रचार-प्रसार अखण्ड त्याग और सेवाभावना से किया जो अत्यन्त सराहनीय है। नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने यहाँ एक वृहद पुस्तकालय की स्थापना करके आचार्य शुक्लजी जैसे साहित्य मनीषी निर्मित किये। स्वामी दयानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द, नवीनचन्दराय, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द,

राजा लक्ष्मणसिंह, श्रद्धाराम फिल्लौरी, राजाराममोहनराय आदि महापुरुषों ने जिस हिन्दी प्रचार कार्य की सृष्टि सुविकसित करनी चाही थी, उसका भरपूर सिंचन नागरी प्रचारिणी सभा ने किया। मदनमोहन मालवीय ने इसी संस्था के सहयोगार्थ हिन्दी मिशन को यथोचित सरकारी बल प्रदान कराया। फलस्वरूप, कचहरियों में, उर्दू के स्थान पर, सन् १९०० में हिंदी का महत्व स्थापित हुआ। सन् १८९९ के प्रतिनिधि-मंडल के अगुआ के रूप में मालवीय जी ने जो बड़ा हिन्दी भाषा-भाषियों का समर्थन किया, वह हिन्दी प्रचार-कार्य का एक अविस्मरणीय पहलू है।

मिश्रबन्धु

केवल प्रचार कार्य ही नहीं, इस युग में ठोस साहित्यिक सृजन कार्य भी सम्पन्न हुआ। वैसे तो इस संधिकाल में भारतेन्दुकाल के ही लेखक साहित्य सर्जना करते रहे, परन्तु कुछ ऐसे साहित्यकार भी सम्मिलित हुये जिन्होंने एक नये—प्रौढ़ अथवा सरल मनोरंजक रूप में साहित्य सृजना की। गम्भीर गद्य लेखकों में इस समय मिश्रबन्धुओं का व्यक्तित्व बड़ा दैदीप्यमान रहा। मिश्रबन्धुओं के नाम इस प्रकार हैं—पण्डित गणेशबिहारी मिश्र, डा० श्यामबिहारी मिश्र और पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र। ये तीनों बन्धु ही गम्भीर 'स्कालर' थे और तीनों ने ही गवेषणात्मक समालोचना का सूत्रपात किया। एक प्रकार से आधुनिक हिन्दी गवेषणा-साहित्य के ये जनक हैं। हिन्दू धर्म-संस्कृति और साहित्य की तात्विक विषय सामग्री शोध-खोज कर इन्होंने प्रस्तुत की और भारतीयता को अपने गम्भीर ज्ञान के भण्डार से सजग किया, उससे परिचित किया। वास्तव में निस्वार्थ भावना द्वारा साहित्य का इतना ठोस कार्य करके मिश्रबन्धुओं ने भारत को गौरवान्वित किया है। इन्होंने चौदह-पन्द्रह वर्ष के अल्पकाल में ही चार-पाँच हजार लुप्त और हस्तलिखित पाण्डुलिपियों को खोज निकाला। रीतिकाल के सम्बन्ध में इन्होंने गम्भीर खोज की और रीति-कालीन कवियों—विशेषतः बिहारी और देव—पर लिखी आपकी समालोचनायें, पांडित्य की ज्वलन्त सामिग्री है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के विषय में आज हम जो कुछ सोचते-समझते हैं, उसका मूल श्रेय मिश्रबन्धुओं की ही प्राप्त है। हिंदी साहित्य का कोई ऐसा अंग नहीं जिसपर मिश्रबन्धुओं ने न लिखा हो। और सच कहा जाय तो गवेषणात्मक उपलब्धियों की दृष्टि से मिश्रबन्धुओं को महत्ता पर जितना प्रकाश डाला जाये, थोड़ा है। श्रेष्ठ कवियों की आलोचना एवं हिन्दी साहित्य का इतिवृत्त परिचय लिखने के उद्देश्य से इन्होंने "**हिन्दी नवरत्न**" एवं "**मिश्रबन्धु विनोद**" कृतियाँ लिखीं जिनका बड़ा इतिहासिक एवं कुछ साहित्यक महत्व आज भी है। कौन जाने आचार्य शुक्ल उन्हीं की साहित्यिक, तात्विक, गवेषणाओं और मीमांसाओं से प्रेरित हुए हों। वास्तव में मिश्रबन्धु आधुनिक हिन्दी साहित्य के सच्चे मनीषी हैं, भले ही उनकी रचनाओं में कहीं पक्ष-पात हो गया हो, कहीं जाने-अनजाने सैद्धान्तिक

त्रुटियाँ भी आ गई हों, पर उसका दायित्व उस समय की परिस्थितियों पर भी छोड़ा जा सकता है। हिन्दी भाषा का ठोस स्वरूप हम वहीं से देख लेते हैं, यद्यपि महावीर प्रसाद जी द्विवेदी और उनसे आगे आने वाले साहित्यकारों ने उसमें पालिश की।

इस संधिकाल में औपन्यासिक मनोरंजक साहित्य भी लिखा गया, जिसके लिए गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी और देवकीनंदन खत्री के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इससे पूर्व, भारतेन्दुकाल में केवल चार-पाँच उपन्यास प्रकाश में आये, जिनका अस्तित्व नगण्य है। कुछ अनुवाद कार्य भी चला पर वह भाषा-अभिव्यंजन की दृष्टि से अक्षमर्थ है। किंतु संधिकाल के इन उक्त उपन्यासकारों ने मौलिक ढंग से उपन्यास लिखे, गो ये उपन्यास जीवन के चारित्रिक घात-प्रतिघातों से सर्वथा अछूते हैं, किंतु इनमें हिंदी खड़ी-बोली भाषा का लालित्य, उसका प्रवाह अपूर्व है। न जाने कितने लोगों ने इनके उपन्यास पढ़ने के लिये ही हिंदी पढ़ी और यों बड़ी आसानी से, और कहा जाए तो साहित्यिक रुचि के अनुरूप, हिंदी खड़ीबोली का प्रचार हुआ। इन तीनों का संक्षिप्त परिचय जान लेना उचित रहेगा—

गोपालराम गहमरी

आपने दीर्घआयु पाई और लगभग तीस वर्ष तक उपन्यास लिखे। जासूसी उपन्यास लेखकों के आप जनक हैं। कौतूहल और सनसनी-पूर्ण जासूसी उपन्यास लिखने वालों में गहमरी जी और उनके उपन्यास बड़े लोकप्रिय हुये। इनके उपन्यासों में पात्रों का चरित्र-निर्माण बड़ा ही चुलबुला रहा है और उनसे चातुर्य की शिक्षा खूब मिलती है। घटना-प्राधान्य तो इन उपन्यासों का मूलधर्म है और गहमरी जी के उपन्यासों में, वह पूरा सफल है। आपकी भाषा बरसाती नदी की भाँति वेगवान रही। इन समस्त कारणों से गहमरी जी के उपन्यास प्रचलित और लोकप्रिय हुये, किंतु उपयोगी और साहित्यिक न बन सके। फल यह निकला कि उनकी आयु के साथ उनके उपन्यास भी क्षीण पड़ गये।

देवकीनन्दन खत्री

खत्री जी के लिखे हुए चंद्रकांता-चन्द्रकांता संतती उपन्यास जितने लोकप्रिय हुये, सम्भवतः उतना आजतक कोई उपन्यास नहीं हो सका। इन उपन्यासों को पढ़ने के लिये ही बहुत से लोगों ने हिंदी पढ़ी। निसंदेह हिंदी के पाठक बनाने में खत्री जी का योगदान सभी लेखकों से अधिक रहा। उन्होंने कुसुमकुमारी, वीरेन्द्रवीर, नरेन्द्र-मोहिनी आदि और भी कई उपन्यास लिखे किंतु वे चन्द्रकांता के समान न चल सके। खत्री जी के उपन्यासों की लोकप्रियता का कारण उनका तिलस्म और ऐयारी का चित्रण है। किसी घटना को जानने का कौतूहल प्रत्येक व्यक्ति को बहुत अधिक होता है। विशेषतः सामान्य स्तर के पाठक को खत्री जी के लखलखा का आकर्षण

कौतूहल को थपकी देता है। दूसरी ओर उनकी भाषा भी चलती हुई है। सामान्य कोटि के मनुष्य उसे समझ सकते हैं। साहित्यिक दृष्टि से खत्री जी के उपन्यास बिल्कुल नगण्य है। उन्हें हम उपन्यास ही नहीं कह सकते, क्योंकि उपन्यास तो जीवन का सजीव चित्र होता है। उपन्यास तभी उपन्यास है जबकि उसमें उपादेय को मनोरंजक रूप देने की क्षमता हो, किन्तु खत्री जी के उपन्यास इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते।

किशोरीलाल गोस्वामी

गोस्वामी जी ने लगभग ६५ उपन्यास लिखे और 'उपन्यास' नामक एक पत्र भी संचालित किया। वास्तव में गोस्वामी जी ने जासूसी-ऐयारी और तिलस्म से कुछ परे हटकर लिखा है और उसमें मुसलमानी ऐतिहासिक स्थितियों का चित्रण किया है। किंतु फिर भी उनके उपन्यास 'तकनीक' की दृष्टि से अधिक अच्छे नहीं हैं। विषयों की विविधता उनके उपन्यासों में पहली बार देखने को मिलती हैं और घटना-प्रधानता के स्थान पर उन्होंने कुछ चरित्र-चित्रण भी प्रस्तुत किया है।

निष्कर्ष

यों इस काल में इन तीन उपन्यास लेखकों का सृजन चलता रहा और ये ही उपन्यासकार द्विवेदी युग में भी शरीक रहे, गो के प्रेमचन्द और प्रसाद के सामाजिक उपन्यास-सृजन ने इस परम्परा की जड़ें हिला दी। इस काल में एतिहासिक गवेषणा का कार्य देवीप्रसाद ने किया और बलदेवप्रसाद मिश्र, ज्वालाप्रसाद मिश्र आदि ने धार्मिक साहित्य रचा। यहाँ यह ध्यान में रहे कि जिसे हमने संधि-काल कहा है वह केवल इसलिये, क्यों कि इस काल में कोई प्रतिनिधि साहित्यकार नहीं रहा। वह अवतरण १९०० के आस-पास महावीरप्रसाद द्विवेदी के रूप में हुआ, जिसका प्रतिनिधित्व हिंदी-भाषा साहित्य को सम्पन्न करने में समर्थ हुआ। वैसे इस संधि-काल से ही क्या, भारतेन्दु काल से ही साहित्यकारों की परम्परा कुछ कमीवेशी के साथ एक काल से दूसरे काल में बनी रही। काल-विभाजन तो केवल साहित्यिक स्थिति को भलि-भाँति समझ लेने के लिये ही होता है, और बस !

द्विवेदी युग (सन् १९०३ से १९३५ तक)

भारतेन्दु युग में देशकालीन परिस्थितियों में इतनी जटिलता पैदा नहीं हो पाई थी जितनी कि द्विवेदी युग में पैदा हो गई थी। भारत में विदेश से आये हुए वैज्ञानिक द्वंद के फलस्वरूप बुद्धिवादी विश्लेषण प्रधान बन चला था। दिन-प्रतिदिन विदेशी आचार-विचारों, एवं साहित्यिक मानों-मूल्यों का प्रभाव बढ़ रहा था। १९०५ के बंग-भंग आन्दोलन का क्रान्ति-

वातावरण

कारी उन्मेष भारतीय जनों को झकझोर रहा था। वर्गवादी समाज व्यवस्था का संघर्षमय वातावरण बढ़ता जा रहा था। विदेशीयों के सभ्यता-साहित्य एवं संस्कृति सम्बन्धी विचारों का आदान-प्रदान एवं उनके राजनीतिक प्रभाव ने यहाँ के साहित्यिकारों को सतर्क एवं अध्ययनशील बना छोड़ा था। साहित्य-सृजन की जो संकुचित ढंग की प्रवृत्ति भारतेन्दुकाल में उदय हुई थी वह द्विवेदीकाल में जीवन के विविध अंगों का स्पर्श करती हुई संयतता के साथ कविता, नाटक, निबंध व समालोचना में मुक्तगति से चली। मुद्रण की सुविधा एवं शिक्षा के प्रचार के कारण गद्य लिखने की प्रवृत्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति करने लगी। विचार जगत में वाह्य एवं आन्तरिक, अनेक आंदोलन काफी बल पकड़ने लगे। भारतेन्दुकालीन गद्य-सृजन का अंधाधुन्ध प्रसार एवं प्रचार तो हुआ किन्तु भाषा-शैली एवं विषय-विधाओं का सुष्ठ, परिमार्जित, गम्भीर एवं तात्विक स्वरूप स्थापित न हो पाया। ब्रजभाषा का असंगत मेल खड़ीबोली-गद्य को गँवारू बनाए था। व्याकरण के नियमों का भाषा में कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता था। वाक्य विन्यास कहीं-कहीं अपेक्षित अर्थ तक को ग्रास बना लेता था। द्विवेदी जी का युग भाषा के परिमार्जन, गद्य की साहित्यिक विधाओं के स्थापन एवं बुद्धिवादी साहित्य के सृजन की दृष्टि से अत्यधिक मूल्यवान कहा जायगा। द्विवेदी युग में ही ऐसे कवि, ऐसे नाटककार, ऐसे निबंधकार एवं ऐसे समालोचक हुए जिनकी टक्कर की प्रतिभा-सम्पन्नता आज तक देखने में प्रायः नहीं आती। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, प्रसाद एवं मैथलीशरण गुप्त जैसी अपूर्व प्रतिभाओं का उदय इसी युग में हुआ। इस युग में भारतीय आदर्श एवं समाजिक क्रान्ति का जितना साहित्यसंगत समर्थन हुआ मिलता है उतना आगे छायावादी एवं प्रगतिवादी युग में किसी भी दृष्टि से देखने को नहीं मिलता। द्विवेदीयुग में तत्कालीन समय की भारतीय बुद्धि, आस्था, आदर्शवादिता एवं विद्वता का जितना अच्छा चित्रण साहित्य में हुआ हम पाते हैं, उतना आज के दौर में पा लेना कठिन है। कविता की दृष्टि से, इस युग की रचित अयोध्यासिंह अध्याय की यह पंक्तियां कितनी प्राणवान हैं—

"दिन गए सिंह मार लेने के,
है भला कौन मार मन पाता।
मारते है जमा पराई अब,
है हमें आँख मारना आता।"

सामाजिक पतित दशा के प्रति इन पंक्तियों में कितना करारा व्यंग-विक्षोभ एवं सुधार का तीखा स्वर सुनाई पड़ता है, यह सोचना-समझना सहज है।

सन् १९०५ में जापान ने रूस पर विजय प्राप्त की, जिसकी राष्ट्रीय चेतना की लहर भारत में फैलने लगी थी। इधर सन् १९०६ में कांग्रेस ने स्वराज्य को अपना

ऐतिहासिक परिस्थितियाँ

लक्ष घोषित किया एवं भारतीय स्वतंत्रता की गरम नीति का पक्षपाती दल उभरने लगा। लार्ड कर्ज़न की अनुदारनीति, और जनता की बढ़ती हुई आर्थिक गिरावट ने भारत की सांस्कृतिक बौद्धिक एवं साहित्यिक क्रांति को उकसाया। देश में सुधारवादी नारे एवं आन्दोलन गूंजने लगे। भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-व्यवस्था पाने की आवाज बुलन्द होती गई। फलस्वरूप मिस्टर 'मान्टेग्यू' ने इस बात को कहा कि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारतवर्ष में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करना है—

"The policy of his majesty's Government is the increasing association of India in every branch of administration and led gradual development of self governing institutions with a view to the progressive realisation of responsible government in India as are integral part of the British Empire."

अंततः १९२० में महात्मा गांधी ने भारतीय स्वराज्योचित सत्याग्रह एवं असहयोग आन्दोलन का भाव भारतीय जन-मन-चेतना में जाग्रत किया— सिद्ध किया। द्विवेदी युग में उच्च शिक्षा की व्यस्थाएँ चल पड़ी। सन् १९१३ में शिक्षाविभाग के अध्यक्ष सर हार्कोट बटलर (Sir Harcourt Butler) ने शिक्षा देने वाली यूनिवर्सिटियां स्थापित करने का प्रस्ताव पास किया। लखनऊ, आगरा, नागपुर आदि बड़े-बड़े स्थानों पर प्रसिद्ध यूनिवर्सिटियां खुलीं। कई कालेजों की भी स्थापना हुई। टैगोर की विश्वभारती अत्यधिक सांस्कृतिक एवं साहित्य-शिक्षा की संस्था बनी। सामाजिक उत्थान के लिये भी कार्य-क्रम बने एवं सुसायटियाँ स्थापित की जाने लगीं। सन् १९०५ में मिस्टर गोखले ने "सर्वेन्टस आफ इंडिया सोसायटी" की, जो राजनीतिक एवं सामाजिक उद्धार का कार्य करने में रही। १९०६ में "डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन सुसायटी" बनी जो दलितवर्गों की उन्नति का कार्य-क्रम नियोजित करती थी। इस ओर महात्मा गाँधी निम्नवर्गीय लोगों के प्रति उदार कर्म एवं विचार सम्मत नए मानवीय आदर्शों को जन्म दे रहे थे। यह क्रान्ति तो हमारे साहित्य में आज तक भी चल रही है। द्विवेदीकाल में राष्ट्रीय आन्दोलन भी काफी गरम रहे। दादाभाई नारोजी की अध्यक्षता में कलकत्ता काँग्रेस का कार्य तथाहोमरूल आँदोलन, रौलेट बिल, असहयोग आदि की हलचलों ने भारत की, राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक चेतना में युगपरिवर्तन की भावना को मात्रा से अधिक उत्पन्न किया। उपर्युक्त हमने जिन अवस्थाओं एवं हलचलों का व्योरा दिया है वह इसलिये ताकि हम यह भली प्रकार जान सकें कि किस प्रकार भारतेन्दुकालीन राष्ट्रीय आंदोलन की दबी-घुटी-सी चलती हुई सांस

द्विवेदी युग में उभरते-उभरते आगे प्रेमचंद, प्रसाद, गुप्त, हरिऔध, रामचंद्र शुक्ल आदि के साहित्य में पूरे वेग के साथ चलने लगी। संक्षेप में, द्विवेदी युग में जिस गद्य-भाषा साहित्य का स्वरूप बना वह सुधारवादी रहा—भाषा की दृष्टि से व्याकरणानुरूप, विषय का दृष्टि से विचारानुरूप। द्विवेदी युग के गद्य-साहित्य में अपने समय की ईमानदार लेखन-प्रवृत्ति का सच्चा मसाला है। फलस्वरूप, इसी युग की आत्मा से प्रेमचंद एवं प्रसाद जैसे महाप्राण भारतीय साहित्यकार उदित हुए। साहित्यि प्रवृत्ति के दृष्टि-कोण से कहा जायगा कि द्विवेदीकालीन साहित्य का सृजन, सन् १९३९ तक दो प्रकार से चला—सन् १९२० तक जो कुछ लिखा गया उसमें भाषा परिमार्जन, तथा विषय का इतिवृत्त ही प्रधान रहा। इसका कारण यह था क्योंकि सन् १९२० तक भारत की देशकालीन अवस्था एवं व्यवस्था एक प्रकार से सामाजिक क्रान्तियों से आग्रस्त रही। विदेशी प्रभाव तथा हिंदी साहित्य का रीतिकालीन विषय-विवेचन ही इस समय के साहित्य-सृजन का मूलाधार बना रहा। सन् १९०३ से सरस्वती पत्रिका का सम्पादन महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पन्न हुआ और और उन्होंने इस पत्रिका में विशेषतया भाषा-परिष्कार एवं सामाजिक विषयों पर लिखने के प्रति सराहनीय एवं दृढ़ चरण-प्रयाण जारी रक्खा। किन्तु सन् १९२१ से गांधी जी द्वारा प्रचारित असहयोग आन्दोलन ने भारतीय जनता में आज़ादी की तीव्र लहर दौड़ा दी। सामाजिक उत्थान के साथ राजनीतिक स्वतंत्रता की भावना व्यापक बनती गई। इस समय तक आकर किसान का जीवन ज़िमीदारी शोषण एवं अदालती अत्याचार के जबड़ों में फँसकर लोहूलुहान हो गया था। दूसरी ओर जहां शहरों में कल्कबस्तो, अपनी सभ्यता संस्कृति की पीठ पर सवार अपना सर्वस्व अंग्रेज़ीपन को ही समझ रही थी वहां दूसरी ओर किसान की निरक्षरता उसे अपनी दीन-हीनता में पीसे दे रही थी। तिसपर भी युग के धार्मिक अंधविश्वास, जाति-पाति के झमेले चैन की सांस नहीं लेने दे रहे थे। शहरों में दस्ती उद्योग-धंधे चौपट हो रहे थे और मशीनों की स्थापनाएँ श्रमी आदमी की कीमत को कुचलती जा रही थीं। संक्षेप में, १९२० से जिस राजनीतिक क्रांति का सूत्रपात हम ग साहित्य में पाते हैं वह दो प्रकार से हुआ—पहला तो सामाजिक जीवन-आर्दश और रहस्य सम्बन्धी—यथार्थवादी ! और दूसरा, आर्दश के माध्यम से जीवन-पलायन सम्बन्धी—सूक्ष्मवादी ! पहले का प्रतिनिधित्व प्रेमचंद ने किया और दूसरे का जयशंकरप्रसाद ने। प्रेमचंद ने साहित्य सृजन का उद्देश्य समाजपरक रक्खा जिसमें मानवीय सहृदयता एवं आत्मिक निश्छलता का आग्रह विशेष है। प्रसाद ने भारतीय चेतना के सांस्कृतिक भावों को जीवन की विराट् परिधि के भीतर उतारने का सद्-सफल प्रयत्न किया। प्रेमचंद ने अपने साहित्य द्वारा युग-जीवन की आत्मा का प्रकाश फैलाया। प्रेम-

चंद ने कला को जीवन माना तो प्रसाद ने जीवन को कला का उपासक ! प्रेमचंद का लेखक-धर्म व्यक्ति और समाज को नैतिकता के साहित्यिक उपदेश देने में सफल हुआ तो प्रसाद का प्राण व्यक्ति और समाज को अतीत की आत्म-संगीतशाला में प्रतिष्ठित करा उसे अपनी रहस्यमई चिन्ताधारा एवं प्राणधारा को पहचानने का वरदान दे सका। द्विवेदी युग के इन दो अमर साहित्यकारों ने जो गद्य-साहित्य हिन्दी को प्रदान किया है, कहा जायगा कि वह कुछ वैसा ही है जैसा कि भक्तिकाल के तुलसी और सूर ने प्रदान किया है। वस्तुतः प्रसाद और प्रेमचंद स्वयं साहित्य के अनंतयुग के प्रतीक हैं !

दिवेदीकाल के उल्लेखनीय लेखकों के नाम इस प्रकार है :—जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, वियोगीहरि, जी० पी० श्रीवास्तव, बाबू राधाकृष्णदास, रायदेवीप्रसाद पूर्ण, माधवशुक्ल, रामचंद्र शुक्ल, चंद्रबली पाण्डे, पद्मसिंह शर्मा, शिवनंदनसहाय, मिश्रबंधु, पं० रूपनारायण पाण्डे, शिलीमुख, रामकृष्ण वर्मा, लाला० सीताराम बी० ए०, ज्वालाप्रसाद मिश्र, रामकृष्ण वर्मा, अयोध्यासिंह उपध्याय, जयशंकरप्रसाद, बनारसीदास चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, प्रेमचंद, चतुरसैन शास्त्री, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, श्यामसुन्दरदास, पूर्णसिंह, गुलाबराय, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, गणेशशंकर विद्यार्थी, चण्डीप्रसाद हृदयेश, पं०गयाप्रसाद शुक्ल, गोविन्दबल्लभ पंत, माखनलाल चतुर्वेदी, जगन्नाथप्रसाद मिलंद, जयशंकर भट्ट, विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक, पाण्डेय बेचैन शर्मा उग्र, रामचन्द वर्मा, रूपनारायण पाण्डे आदि।

यह ध्यान रखने वाली बात है कि द्विवेदीकाल में जितना भी गद्य-साहित्य लिखा गया वह सब भाषा की दृष्टि से निरंतर निखरता गया एवं विषय की दृष्टि से निरंतर उसका बौद्धिक एवं शोधपूर्ण कार्य विशाल होता गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, गुलेरी एवं गुलाबराय की साहित्यिक साधना एवं उनका गद्य-सृजन इस बात का अकाट्य प्रमाण है। इन लेखकों ने जिस बौद्धिक एवं विचारात्मक ढंग से हिन्दी खड़ीबोली के विचारात्मक गद्य-साहित्य को प्रौढ़ता दी उसी के फल-स्वरूप आज हम हिन्दी का विवेचना सम्बन्धी गद्य पढ़ते हैं। द्विवेदीकाल हिन्दी गद्य को घनत्व एवं गत्यात्मकता देने में अपूर्व कहा जायगा। यह ठीक है कि द्विवेदी जी ने गद्य को जो ठोस महत्ता एवं स्वरूप देने की तीखी लगन अपनी 'सरस्वती' की आलोचनाओं में प्रदर्शित की वह स्वयं उनके द्वारा ही पूर्णतः सफल नहीं हो सकी। किन्तु उनकी लगन ने आगामी लेखकों को बुद्धि एवं विचारपूर्वक लिखने की चेतना दी, यह कार्य भी कम मूल्यवान नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिगत शैली की स्थापना, अध्ययन एवं विवेचना की योजना तथा भाषा के प्रौढ़ एवं परिमार्जित प्रयोग की साधना का लक्ष्य हिन्दी के गद्य-सृजन में सबसे पहले पूरे विश्वास, कर्म एवं श्रम के साथ द्विवेदी जी ने ही निर्धारित किया। अतः यह कहना कि आधुनिक हिन्दी गद्य-विकास

के द्विवेदी जी भगीरथ हैं; हम समझते हैं कि कुछ अत्युक्तिपूर्ण न होगा। इसीलिये हमने प्रसाद एवं प्रेमचन्द के साहित्य-सृजन को स्वतंत्र एवं एक नएयुग के नाम से आलोच्य रूप में रखना कोई आवश्यक नहीं समझा--यों प्रत्येक महान् साहित्यिकार अपने साहित्य का एक युग होता है। और युग ही क्या, सही अर्थों में तो उसके व्यक्तित्व और उसके साहित्य से युग-युगान्तर के 'वायरलेस' कसे रहते हैं।

नाटक

नाटक रचना का जो दौर भारतेन्दु युग में उमड़ा वह आगे द्विवेदी युग के पूर्वार्ध में अवरुद्ध सा हो गया। इसका कारण पहला तो यह रहा कि द्विवेदीकालीन लेखकों के पास साहित्य साधना का ही समय था, रंगमंचीय धूमधाम का नहीं। फिर भारतेन्दुकाल में भी कोई सुदृढ़ रंगमंच की स्थापना न हो पाई थी। दूसरा कारण यह था कि कुछ विदेशी नाट्य-परम्परा ज़ोर पकड़ गई थी, जिसका विवरण हम आगे दे रहे हैं। भारतेन्दु के अवसान से लेकर प्रसाद के अवतरण तक के मध्य का समय हिन्दी नाट्य-सृजन की दृष्टि से शून्य रहा। जो कुछ रहा, वह सस्ता एवं व्यवसायात्मक ही रहा। उसमें साहित्यिक उपलब्धियें और उत्कृष्टताएँ न रहीं। **'प्रसाद'** ने पुनः नाटकीय परम्परा को पुर्नजीवन प्रदान किया। इस बीच में, केवल मात्र बद्रीनारायण भट्ट, बलदेव प्रसाद मिश्र, एवं पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र तत्पश्चात नवीन एवं प्राचीन के सुनहरे समन्वय को लेकर प्रसाद अवतिरित हुए; जिन्होंने नई आन्तरिक चेतना के प्रकाश में अपने ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों को लिखा। प्रसाद के बाद हिन्दी में नई-नई प्रतिभाओं ने नाट्य-शिल्प को व्यापक बनाया। किन्तु खेद है कि भारत में रंगमंचीय सुविधा कभी भी इस प्रकार की न बन सकी जिससे अँग्रेज़ी नाटकों की भाँति यहाँ का नाटकीय विधान अपनी अविच्छिन्न परम्परा स्थापित कर सकता। प्रसाद से पूर्व जो तथाकथित मौलिक नाटक रचे गये वह भाषा, शैली एवं नाट्य-विधान की दृष्टि से अधिक सुन्दर न होते हुए भी रंगमंच की दृष्टि से काफी सफल रहे। इसका श्रेय पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों को देना ही न्यायोचित ठहरता है ·· यद्यपि यह कम्पनियाँ आर्थिक एवं साहित्यिक दृष्टि से हमारे यहाँ के लिये निसंदेह घातक रहीं। इन कम्पनियों द्वारा सम्पन्न नाटकों का उद्देश्य केवल अभद्र एवं अश्लील मनोरंजन को जनता के सामने प्रदर्शित करना था एवं कला को रोंद कर पैसा उपार्जित करना इन नाटकों के खेले जाने का लक्ष रहा। इन कम्पनियों के **'पैट'** नाट्य-लेखकों में, हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा, नारायणप्रसाद **'बेताब'** आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन नाटकों का कोई साहित्यिक महत्व नहीं कहा जा सकता। भारतेन्दुकाल के नाटककारों ने ही नाट्य-सृजन की इस प्रवृत्ति के विरोध में पूरा ज़ोर-शोर दिखाया·····फिर भी इन कम्पनियों का ह्रास सिनेमा का बढ़ता हुआ प्रचार हुआ।

द्विवेदी युग में मौलिक नाटक भी लिखे गये। अनुवादित नाटक एवं नाटककारों का परिचय इस समय में खूब मिलता है। बंगला, अंग्रेजी, संस्कृत एवं कुछ मराठी के नाटक भी अनुवाद में आए।

अंग्रेजी के महान् नाटककार शैक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटकों—'रोमियो जूलियट,' 'एज यू लाइक इट' और 'मर्चेन्ट आफ वीनस' के अनुवाद जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने प्रस्तुत किये।

संस्कृत के **'वेणी संहार'** एवं "**अभिज्ञान शाकुन्तलम**" का अनुवाद ज्वालाप्रसाद मिश्र ने किया।

बंगला के, रवीन्द्र रचित **'अचलायतन'** द्विजेन्द्रलालराय के **'उस पार'** 'दुर्गादास' एवं 'ताराबाई' नाटकों के अनुवाद हिन्दी में किये गये। इन अनुवादकों में पं० रूपनारायण का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अनुवाद के क्षेत्र में इनका काम हिन्दी गद्य-साहित्य विकास के लिये महत्वपूर्ण कहा जायगा। अन्ततः इन अनुवादों के विषय में कहा जायगा कि सभी नाटकों के अनुवाद केवल अनुवाद की ऐतिहासिक परम्परा के अनुकूल ही रहे, अनुवाद की सफलता का उनमें लेशमात्र भी आभास नहीं पाया जाता। इस समय के मौलिक नाटक लिखने वाले नाटककार इस प्रकार रहे—

पं० ज्वालाप्रसाद ने संस्कृत में रचित भवभूति के **'उत्तर रामचरित'** की छाया सी लेकर अपना **'सीता वनवास'** नाटक लिखा। शिवनन्दन रचित **'सुदामा'** नाटक प्रकाश में आया तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने **'चौपट-चपेट'** तथा **'मयंक मंजरी'** नाटक लिखे। रायदेवी प्रसाद पूर्ण का **'चन्द्रकला-भानुकुमार'** बड़ा ही रोचक नाटक इस समय में लिखा गया है। बद्रीनाथ भट्ट का **'करु-बन-दहन'**, **'दुर्गावती'** तथा **'चन्द्रगुप्त'** नाटक भी काफ़ी मौलिक तत्वों को लिये हुए नाटक कहे जा सकते हैं। आनन्दप्रसाद का **' स्वप्न संसार'** भी एक रोचक नाट्य-कृति है। नाटकों के साथ ही इस समय में कुछ सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक समस्याओं को लेकर प्रहसन भी लिखे गये। प्रहसन-नाटक सर्वप्रथम भारतेन्दु ने सन् १८७३ में लिखा था। यह हम भारतेन्दु कालीन नाटक प्रसंग में लिख आए हैं। इस समय के मुख्य प्रहसनकार और उनके प्रहसनों के नाम इस प्रकार है—

१. पाण्डेय बेचेन शर्मा उग्र लिखित, 'उजबक' और 'चार बेचारे'।

२. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव लिखित, 'मार मार कर हकीम'।

६. राधेश्याम कथावाचक लिखित, 'साहब बहादुर उर्फ जड़ढ़ा बहादुर'।

४. बद्रीनाथ भट्ट लिखित, 'चुंगी की उम्मेदवारी', 'विवाह विज्ञापन' एवं 'लबड़-धौंधौं'।

५. राधेश्याम मिश्र लिखित, 'कौंसिल की मैम्बरी' आदि।

६. सुदर्शन लिखित 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि।

इस समय के मौलिक नाटकों की भाषा अवश्य कुछ सुधरी हुई रही किन्तु विषय-प्रतिपादन एवं नाटकीय तकनीक की दृष्टि से इन नाटकों की सफलता संदिग्ध ही कही जायगी। पौराणिक संदिग्ध कथाओं के आधार पर 'बेताब' एवं 'राधेश्याम कथावाचक' ने जो कुछ हिन्दी नाटक कह कर लिखा वह सर्वथा झूठी-सच्ची बातों की थोपाथापी है एवं जनता को भद्दी वासना प्रवृत्ति से अभिभूत करने का प्रदर्शन-क्षेत्र ही इन नाटकों की रंगमंचीय विशेषता के अन्तर्गत रखा और कहा जा सकता है। पात्रों का अपना-चरित्र विकास, जन-जीवन का भीतरी-बाहरी जीवन-तत्व एवं रस, कथोपकथन, शैली आदि, नाटकीय तत्वों की रोचकता द्विवेदी युग के पूर्वार्ध के नाटककारों में सर्वथा देखने को नहीं मिलती। हां, बद्रीनाथ भट्ट की लगन इस ओर व्यापक रही—वह कुछ क़दम आगे भी दिखलाई पड़ते हैं। संक्षेप में,प्रसाद से पूर्व हिन्दी नाट्य-क्षेत्र की उपज अधिक पुष्ट एवं आस्वादनीय नहीं बन सकी। किन्तु उस उपज ने आगामी प्रसाद एवं प्रसादोत्तर-कालीन नाटककारों को नए प्रयोगों की सूझ एवं नाटकीय नए विधानों की बूझ अवश्य प्रदान की। माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्द वल्लभ पंत, मैथलीशरण गुप्त, सुदर्शन आदि नाटक-कारों के नाटक इस बात की पुष्टि करते हैं। वस्तुतः बात ऐसी है कि भारतेन्दुकाल के पश्चात्, सन् १९०० से लेकर प्रसाद के प्रौढ़त्वकाल सन् १९२० तक, द्विवेदीकाल के जिन नाटकों और उनके नाटककारों को हम देखते हैं, वह नाटकीय तकनीक, भाषा-शैली-शिल्पादि की दृष्टि से सफल-सराहनीय नहीं कहे जा सकते। स्वयं प्रसाद और उनके प्रारम्भिक नाटक अपने शिल्प-उद्देश्य में सफल नहीं। इसके लिये उनके सन् १९१०, १२, १३, १४ में छपे क्रमशः सज्जन, करुणालय, प्रायश्चित और राजश्री नाटक पठनीय हैं। यहाँ तक स्वयं प्रसाद सफल नाट्य-शिल्प विधान का मार्ग लड़खड़ाते हुए से खोज रहे हैं। किन्तु सन् १९२१ में उनकी गहन साधना के फलस्वरूप उनका "विशाख" नाटक प्रकाश में आया और यहीं से खड़ी बोली के साहित्यिक उच्च स्तर के नाट्य-सृजन का सूत्रपात माना जाना न्यायसंगत होगा। एक प्रकार से हिन्दी नाट्य-सृजन का वास्तविक विभाजन हम प्रसाद और प्रसादोत्तरकाल में कर सकते हैं। गो इन दोनों कालों के नाटककार कुछ कमी-वेशी के साथ एक ही रहे। केवल तकनीक, विषय और विदेशी प्रभाव के कारण उनके नाटकों में विकास, ह्रास, जो कुछ भी हो, आया है।

इधर हिन्दी एकांकियों का भी इस युग में काफ़ी विकास हुआ। जैसा हमने पूर्व लिखा है कि हिन्दी एकाँकी नाटकों का सर्वप्रथम रूप हम सन् १८७३ में भारतेन्दु रचित "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" नाटक को ही मान सकते हैं। इसके पश्चात् नई ज्योत्सना से सज्जित प्रसाद का 'एक घूंट, एकाँकी माना जा सकता है। इसके पश्चात् भुवनेश्वर प्रसाद एवं रामकुमार वर्मा ने एकाँकी नाटक लिखने में काफ़ी लगन

दिखलाई है, जिसे सराहनीय कहा जा सकता है। एकाँकी नाटक आज के युग-जीवन-व्यापी दर्शन एवं यथार्थ को एक ख़ास पहलू के पेच से पकड़ लेता है। यह पकड़ प्रभाव-देय सिद्ध होती है। वस्तु का प्रभाव के साथ आकलन होने के कारण थोड़े समय में ही हमें एकाँकी नाटक गहरी परिस्थिति एवं विशेष समस्या से अवगत करा देते हैं। इसके साथ ही आज के वस्तुवादी व्यस्त जीवन में हम नाटक देखने में आध-पौन घण्टे से अधिक देना अधिक पसन्द नहीं करते। शायद इसी कारण हिन्दी एकाँकी का प्रचार दिनों-दिन बढ़ता गया। एकाँकी लेखकों में विष्णु प्रभाकर, भगवतीचरण वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, लक्ष्मीनारायण मिश्र, धर्मवीर भारती एवं 'प्रेमी' के नाम विशेष उल्लेखनीय कहे जायेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से समझना चाहिये कि यों द्विवेदी युग के पूर्वार्ध में यद्यपि नाटकों एवं नाटककारों की अधिक विकासशीलता देखने में नहीं आती किन्तु उत्तरार्ध में आकर ऐसे-ऐसे नाटककार हुए जिनके नाम हम आज भी पत्र-पत्रिकाओं में देख लेते हैं। जो आज भी वर्तमान हैं और जिनके कारण हिन्दी गद्य-जगत फल-फूल रहा है। उदाहरण के लिये—लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास आदि के नाम प्रस्तुत हैं।

निबन्धः-समालोचना

भारतेन्दुयुग के निबन्धों की अपेक्षा द्विवेदीयुग के निबंध कहीं अधिक प्रौढ़ता पा सके। नीति एवं साहित्य समन्वित विषयों की ओर निबंधों का सृजन चालू हो गया। द्विवेदीयुग के प्रथम चरण में माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं सरदार पूर्णसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। माधव-प्रसाद मिश्र ने वर्णनात्मक निबंधों में सफलता एवं विकास की सूचना दी, तो चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने आधुनिक प्रगतिशील विचारों का व्यापक स्तर बनाया। इसी प्रकार सरदार पूर्णसिंह ने छायावादी भावुकता अपने निबंधों में प्रकट की। प्रसाद ने गहन साहित्यिक निबंध लिखे और प्रेमचन्द ने जीवन और राजनीति के बाहरी उपादानों को लेकर अपने गम्भीर साहित्यिक निबंधों को सामने रक्खा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सभी निबंधकारों से अधिक सृजन-साधक सिद्ध हुए। मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यिक विषयों पर लिखे शुक्ल जी के निबन्ध हिंदी निबन्ध-जगत के अमूल्य सिक्के माने जाने चाहिए। भाषा का कसाव, शैली का गाम्भीर्य, एवं विषय-प्रतिपादन का बल जितना हम शुक्ल जी के निबन्धों में देखते हैं वह अन्यत्र प्रायः नहीं पाते। पदुममलाल पुन्नालाल बख्शी, गुलाबराय एवं श्यामसुन्दरदास ने भी हिन्दी निबन्ध-विधा को चिरस्मरणीय गम्भीर गति एवं एकसूत्रता प्रदान की हैं। इन तीनों लेखकों ही की भाषा-शैली और विषय-विशिष्टता साहित्य के उच्च धरातल का परिचय एवं प्रबोध प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं

शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी कलात्मक भाषा-शैली में नए नए, सुन्दर विषयों पर अपने निबन्ध लिखे, जिनमें भावुकता सरसता एवं रोचकता का समावेश प्रधान रहा। और जैनेन्द्रकुमार, रायकृष्ण दास, वियोगी हरि, चतुरसैन, रघुवीरशरण सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने भी निबंधों को नये चिन्तन एवं नए प्रकार से लिखा है।

द्विवेदीकाल के समालोचकों में हमें दो ही समालोचना के ज्योतिस्तंभ दीखते हैं—मिश्रबन्धु एवं पद्मसिंह शर्मा। मिश्रबधुओं के प्रकाण्ड पाण्डित्य के विषय में हम पीछे संक्षिप्त विवेचनकर आये हैं। यहाँ हम पद्मसिंह शर्मा के विषय में स्थानभाव के कारण संक्षिप्ततः इतना ही लिखेंगे कि शर्मा जी ही हिंदी के पहले वह समालोचक हैं जिन्होंने पहलेपहल समर्थ-तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखने का सूत्रपात किया। आप फ़ारसी, उर्दू, संस्कृत, ब्रज और प्राचीन हिंदी काव्य-साहित्य के बड़े पण्डित थे। बिहारी और देव की तुलना और उसके परिणाम में एक लम्बे आलोचनात्मक वाद-विवाद के आप भागीदार थे। शर्मा जी की शैली में भाषा का बल और विचारों का साहस अपूर्व है। उनकी आलोचनात्मक देन आज पुरानी होकर भी प्रभावशालिनी है। द्विवेदी, मिश्रबन्धु एवं पद्मसिंह समकालीन एक त्रयी हैं। तभी, साहसरूप, 'करंट' की की गति लेकर आए वर्त्तमान समालोचना के आदर्श, रामचन्द्र शुक्ल! आपने द्विवेदी-कालीन समालोचना का मानदण्ड भ्रामक समझा और साहित्य-विवेचन के मानदण्ड शक्ति, शील और सौन्दर्य बताए। सर्वप्रथम आपने ही ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि पर किसी साहित्यिक के काल, उसके साहित्य और उसकी उपलब्धियों को लिखने-परखने और निर्णय देने का उत्तरदायित्वपूर्ण समालोचन-भार वहन किया। आपने यथास्थान शास्त्रीय या सैद्धानिक समालोचना भी इतस्ततः लिखीं। किन्तु, चूँकि वह अपनी मौलिक-व्याख्यात्मक मनीषा के वशीभूत थे, अतः वह आज के साहित्य मनीषियों की दृष्टि से व्यक्तिगत्-सी कही जायगी। फिर भी शुक्ल जी ही वर्तमान युग के प्रकाण्ड समालोचक कहे जायेंगे। प्रमाणस्वरूप इनका हिन्दी साहित्य का इतिहास ग्रन्थ रक्खा जा सकता है। उन्होंने अपने ढंग की समालोचना का एक पन्थ निर्मित किया था जिस पर चलने वाले समर्थ आलोचक ये रहे हैं :—

१. बाबू श्याम सुन्दर दास।

२. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।

३. विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

४. बाबू गुलाबराय।

५. कृष्णशंकर शुक्ल।

६. रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख।

७. चन्द्रबली पाण्डेय।

८. रमाशंकर शुक्ल।

९. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल।

इनमें बाबू श्यामसुन्दरदासजी, बख्शीजी एवं गुलाबरायजी की समालोचना-साधना विशाल है। आपने विदेशी एवं भारतीय सिद्धान्तों का भली भाँति मनन करके उन पर सर्वसम्मत विचार-तथ्य अपनी समालोचनाओं में रक्खे हैं। इसके लिए श्यामसुन्दर दास जी का **'साहित्यलोचन'** बख्शी जी का **'विश्वसाहित्य'** एवं गुलाबराय जी का **'काव्य के रूप'** तथा **'सिद्धान्त और अध्ययन'** ग्रन्थ हिंदी साहित्य के बड़े महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। ये ग्रंथ विश्व साहित्य-वाङ्मय की साहित्यिक एवं कलात्मक स्थिति, मान्यता एवं व्यापकता को समझने में बड़े सहायक हैं। श्यामसुन्दरदास जी की भाषा-शैली हर प्रकार से सरल रहने में विशेष है, बख्शी जी की भाषा-शैली गम्भीर एवं पाण्डित्यप्रदर्शनपूर्ण है और बाबू गुलाबराय जी की भाषा-शैली में सादगी तथा विषयानुरूप ढल कर चलने की क्षमता परिलक्षित होती है।

इस जिस प्रकार प्रसाद आधुनिक हिन्दी नाट्य परम्परा के स्वयं एक युग रहे हैं इसी प्रकार शुक्ल जी यद्यपि द्विवेदीयुग में ही अवतीर्ण हुए और उसी युग में उन्होंने लिखा पर सरासर वे आधुनिक समालोचना की परम्परा के एक पूर्णयुग रहे हैं। सन् १९३६ तक समालोचना का स्वरूप शुक्ल जी के निर्देशानुसार ही अभिनव रूपाकार में आता रहा किंतु सन् १९३६ के पश्चात् विदेशी रोमान्टिक मनोवैज्ञानिक-मनोविश्लेषणात्मक एवं भौतिक साहित्यक-सामाजिक सँस्कारों का प्रभाव पड़ जाने के कारण सामालोचन ही क्या, यहाँ के साहित्य के प्रत्येक अंग का ढलाव ही कुछ विचित्र हो गया। उसमें अपना अतीत कम, वर्त्तमान अधिक है; उसमें राष्ट्र मूक है, और परराष्ट्र मुखार है; उसमें स्वस्थता क्षीण और कुण्ठा प्रबल है। यही युग प्रगतिवादी युग कहलाया गया। शुक्ल जी की समालोचनात्मक चिताधारा के अनुकूल-प्रतिकूल, इन दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी समालोचना लिखी गई जिसके विषय में हम प्रगतिशील युग के अंर्तगत लिखेंगे।

द्विवेदीकाल के पूर्वाध में विशेषतः उपन्यासों के अनुवाद करने की प्रवृत्ति ही अधिक परिलक्षित होती है। बँगला एवं अंग्रेजी के उपन्यासों के धड़ाधड़ अनुवाद हिन्दी में होने लगे। अन्य प्रांतीय भाषाओं—गुजराती, मराठी आदि के अनुवाद भी सामने आए। साथ ही उर्दू के उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में हुआ।

उपन्यास

बँगला के महान उपन्यासकार शरदचंद्र, बंकिमचंद के उपन्यासों के अनुवाद व्यापक रहे। उपन्यास के अनुवाद क्षेत्र में रूपनरायण वर्मा का योगदान अधिक है।

कुछ अन्य अनुवादों और उनके अनुवादों के नाम इस प्रकार है—

१ गदाधरसिंह द्वारा अनूदित 'बंगविजेता' एवं 'दुर्गेशनन्दिनी'।
२ रामकृष्ण वर्मा द्वारा अनूदित 'चित्तौरचातकी'।
३ बाबू कार्तिकाप्रसाद खत्री द्वारा अनूदित 'इला', 'प्रमिला', 'जया' एवं 'मधुमालती'।

भारतेन्दुकालीन उपन्यास जगत घटना, शैली, भाषा, चरित्र-चित्रण, रोचकता आदि की दृष्टि से अच्छा नहीं बन पाया था। हिन्दी भाषा में, जनप्रिय एवं रोचक जासूसी, ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों का सूत्रपात गहमरी, खत्री एवं गोस्वामी आदि ने किया, जिसका विवरण हम पहले दे आए हैं। घटना, कोतुहल एवं भाषा-सारल्य को छोड़कर ये उपन्यास जीवन के व्यापारों एवं प्रवृत्तियों के चढ़ाव-उतारों की दृष्टि से मूल्यवान नहीं कहे जा सकते। इनके पश्चात् लगभग १९०० से १९१५ तक का समय ऐसा आया जबकि तिलिस्म, जासूसी, ऐय्यारी एवं थोथे-प्रेमप्रधान उपन्यासों की बाढ़-सी आ गई। इसके लिए किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रशेखर पाठक, विशेश्वरप्रसाद वर्मा, हरिकृष्ण जौहर आदि उपन्यासकारों के नाम गिने जा सकते हैं। इनके उपन्यास ठाली समय बिताने के लिये भले ही पढ़े जाँय, किन्तु उपन्यास की मूल प्रवृत्ति एवं परिभाषा के अनुसार इनमें जीवन की बात न होकर, झूठे, काल्पनिक चित्रण ही भरे पड़े हैं। इस सम्बन्ध में 'उपन्यास का विकास' शीर्षक निबंध में श्री शिवदानसिंह जी चौहान का मत जान लेना उत्तम रहेगा। वह लिखते हैं—

"इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जिन प्रेमाख्यानक तथा सामाजिक उपन्यासों की सृष्टि हुई उनका स्तर भी बहुत साधारण है। प्रेमाख्यानक उपन्यासों में काव्य-रीति की श्रृंगार-भावना को अपनाकर नायकाओं के हाव-भावों का रीतिवद्ध वर्णन करने की प्रवृत्ति अधिक है, जीवन की मार्मिक भावनाओं के चित्रण की नहीं।"

(हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, ग्रंथ से)

सन् १९१५ तक ऊपरलिखित केवल मनोरंजन प्रधान उपन्यासों के सृजन का ज़ोर रहा। इसके पश्चात कुछ लेखकों ने ऐतिहासिक-सामाजिक उपन्यासों का सृजन किया अवश्य किन्तु उनमें साहित्यिकता का अभाव एवं सामाजिक कुरितियों तथा ऐतिहासिक विवरणों का इतिवृत्तमय अरोचक वर्णन प्रधान रहा। इसके लिये ब्रजनंदनसहाय का १९१६ में लिखित "लालचीन" मिश्रबन्धुओं का १९१७ में लिखित 'वीरमणि' उपन्यास पढ़े जा सकते हैं। सहसा मु० प्रेमचंद हिन्दी उपन्यास जगत में आए। पहले वह उर्दू में लिखते थे। सर्वप्रथम प्रेमचन्द जी का हिन्दी में 'सेवासदन' उपन्यास शायद सन् १९१८ में छपा। इस उपन्यास के छपते ही जनता मानो निहाल हो गई। भाषा की दृष्टि से प्रेमचंद ने इतनी सरल भाषा प्रयोग की कि ऐय्यारी एवं प्रेम-

प्रधान, घटना-प्रधान खत्री जी आदि के उपन्यासों के पाठक-प्रेमीयों को भी वह अपने टेस्ट की वस्तु प्रतीत हुई। फिर, प्रेमचंद का औपन्यासिक विषय ठेठ सामाजिक एवं सुधार-वादी प्रवृत्ति के अनुरूप रहा। जीवन की वास्तविकताओं के भीतर पैठकर प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों का पात्रसमूह लिया, चरित्र-चित्रण लिया, कथानक लिया। इस प्रकार प्रेमचंद हिन्दी उपन्यास-जगत की एक ऐसी विभाजक रेखा हैं जिसके पीछे देखने पर उपन्यास जीवन का मुखापेक्षी बनने के लिये आतुर दिखलाई पड़ता है और आगे देखने पर लगता है कि हिन्दी उपन्यास का विशाल जीवन-प्रतिबिम्ब प्रेमचंद की भाषा का, शैली का, विषय का एवं दृष्टिकोण का आलिंगन करने को हाथ पसारे है। प्रेमचन्द ने उपन्यास को जीवन का साहित्यिक चित्र बना छोड़ा। सन् १९२०-२१ से लेकर प्रेमचंद ने सन् १९३६ तक बराबर समाज की समस्याओं, मर्यादाओं, नैतिकताओं एवं यथार्थवादी-आदर्शों को अपने कर्मभूमि, रंगभूमि, निर्मला, गवन, कायाकल्प, प्रतिज्ञा आदि उपन्यासों में वाणी प्रदान की। प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास-जगत को जीवन दिया—यह बात सोलह आने सत्य कही जायगी। राजनीति, मानवता, धर्म-संस्कृति, सभ्यता-बंधुता आदि गांधीवादी-समाजवादी दृष्टिकोण को प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में अंकित किया, इसीलिये तो प्रेमचंद हिन्दी उपन्यास जगत के महान सम्राट कहे जाते हैं!

सन् १९३६ में प्रकाशित प्रेमचंद जी की 'गोदान' अंतिम कृति समाजवादी-साम्यवादी व्यवस्था का जीवित चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करती है। देश की, ग्राम और शहरी जीवन की विषमता कितनी बढ़ चली थी, किसान की दशा कैसी लोहित एवं जर्जर हो चली थी, राजनैतिक अन्याय किस मात्रा तक पहुँच चुका था; इन सब बातों का यथातथ्य चित्रण गोदान उपन्यास की विशेषता है। 'होरी' प्रेमचंद के अपने ग्रामीण एवं आभावग्रस्त जीवन का प्रतीक है। 'गोदान' हिन्दी उपन्यास-जगत के लिये एक ऐसी कृति है जिसमें भारत का जर्जर शरीर और आर्दशवादी आत्मा बोलती है। 'गोदान' हमारा भारत है—पिछला, प्रेमचंद युग का, अबका और तबतक का जबतक कि रामराज्य स्थापित नहीं होता। जिसदिन ऐसा समाजवाद एवं साम्यवाद भारत में स्थापित होगा उस दिन 'गोदान' पूजाग्रन्थ होगा—यह निश्चित है।

प्रेमचन्द जी की परम्परा में लिखने वाले प्रमुख उपन्यासकारों के नाम इस प्रकार हैं—जयशंकरप्रसाद, चतुरसैन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी, भगवती-प्रसाद वाजपेई, ऋषभचरण जैन, पाण्डेय बेचैन शर्मा उग्र, निराला, शिवपूजनसहाय, विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक, राधिकारमण प्रसादसिंह, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत आदि। ध्यान रखने योग्य बात है कि प्रेमचन्द के बाद जो उपन्यासकार हुए, वह प्रायः प्रेमचन्द के समय के ही रहे। स्वयं प्रेमचन्द और कौशिक आज अमर होकर भी स्थूलरूप से हमारे समक्ष नहीं है। उनके पश्चात औपन्यासिक सृष्टि में अन्तर इतना

पड़ गया कि फिर उपन्यासकारों का जीवन-दृष्टिकोण सुधारवादी न रहकर विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप अत्यधिक मनोविश्लेषण-प्रधान बनता चला गया। सन् १९३६ के बाद चरित्रप्रधान उपन्यास कम और समस्याप्रधान उपन्यास अधिक लिखे गए। जिसका विवेचन हम वर्त्तमानकाल के अन्तर्गत करेंगे। यहां केवल यही ध्यान रखने योग्य है कि द्विवेदीकाल में प्रेमचन्द का उदय हिन्दी उपन्यास जगत के लिये एक वरदान सिद्ध हुआ।

कहानी

कहानी कला का पूर्ण-विकास प्रेमचन्द एवं प्रसाद के समय से मानना उचित रहेगा। जिन उपन्यासकारों का संक्षिप्त विवेचन और परिचय हम ऊपर लिख आएँ हैं, हिन्दी की कहानियों का क्षेत्र भी इन्हीं के द्वारा विकसित हुआ। कहानी साहित्य का सही रूप में विकास महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादन में चलने वाली 'सरस्वती' मासिक पत्रिका से ही माना जाना ठीक ठहरता है। यों तो हिन्दी खड़ीबोली गद्य की सबसे प्रथम कहानी 'रानी कतेकी की कहानी' कही जाती है, किंतु यह कहा जाना केवल 'कहानी' शब्द तक ही सीमित समझना चाहिये—उसके तकनिकल विधान से इस कृति का कोई महत्व नहीं आँका जा सकता। इसके पश्चात्, बीच में कुछ समय अँग्रेज़ी कहानियों को लेकर, हिन्दी में कहानियों की अनुवाद-छाया दिखलाई पड़ती है। 'सरस्वती' में सर्वप्रथम किशोरीलाल गोस्वामी लिखित "इन्दुमती" कहानी प्रकाश में आई। नहीं कहा जा सकता कि इस कहानी को हिन्दी में सर्वथा मौलिक कहना कहांतक ठीक होगा। इसके पश्चात् सन् १९०६-७ में सरस्वती में, पं० सूर्यनारायण दीक्षित रचित 'चन्द्रहास का अद्भुत आख्यान', और वेंकटेश नारायण लिखित 'एक अशरफी की आत्म कहानी' छपी। इन कहानियों में, कम-से-कम यह कहा जा सकता है कि लेखकों की प्रवृत्ति मौलिक कहानियाँ लिखने की ओर अवश्य बनी। 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के अतिरिक्त प्रसाद जी द्वारा सम्पादित 'इन्दु' पत्रिका में प्रसाद जी की कहानियाँ छपने लगीं। इस पत्रिका द्वारा बँगला की भावात्मक कहानियाँ भी हिन्दी में अनुवाद होकर छपने लगीं। सन् १९०९ में बंग महिला की 'दुलाई' वाली, कहानी छपी, जिसके बारे में यह कहना सर्वथा संदिग्ध है कि यह कहानी हिन्दी की मौलिक कलापूर्ण कहानी है। द्विवेदीकाल में सन् १९१० तक और भी अन्य कहानीकारों—वृन्द्रावनलाल वर्मा, मैथलीशरणगुप्त, रामचन्द्र शुक्ल आदि—की क्रमशः 'राखी की बन्दभाई', 'नकली किला', 'ग्यारह वर्ष का सपना' कहानियां प्रकाश में आई। किंतु इन कहानियों में यहीं खींचतान बनी रही कि मौलिक कितनी हैं? फिर भी इतना अवश्य कहा जायगा कि हिन्दी गद्य में चाव से कहानी छप रही थीं, लिखी और पढ़ी जा रही थीं।

कहानी के क्षेत्र में युगान्तर पैदा करने वाली 'प्रसाद' की 'ग्राम' कहानी कही जा सकती है। यह कहानी सन् १९११ में, 'इन्दु' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई।

इसके पश्चात् प्रेमचन्द ने कहानी-जगत में पदार्पण किया। उनकी कहानी का शीर्षक 'पंचपरमेश्वर' था। ये दोनों कहानियां आधुनिक हिन्दी कहानी प्रवाह की दो ऐसी धाराएँ हैं जिनमें एक आन्तरिक कला एवं अनुभूति की शीतलता दान करती है तो दूसरी वाह्य जीवन के रागद्वेष, ममता-घृणा आदि के सद्-समाधान का सन्तोष प्रदान करती है। पहली धारा के प्रवर्त्तक हैं 'प्रसाद' और दूसरी के प्रेमचन्द। 'प्रसाद' की कहानियाँ कलावादी है और प्रेमचन्द की आदर्शवादी। यों कला और आदर्श के बीच कोई लोह-दीवार का अन्तर नहीं है, किंतु साहित्य की दृष्टि से प्रसाद का कहानी-जगत मानवीय सूक्ष्म स्पंदनों से सुरभित है तो प्रेमचंद का कहानी जगत यथार्थवादी जीवन-चेतना के आदर्श से मांसल है। ये दोनों ही कलाकार हिंदी गद्य-विकास के अलग-अलग युग हैं, युगान्तर हैं! इनके अतिरिक्त राधिकारमरण प्रसादसिंह, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चन्द्रधरशर्मा गुलेरी, उग्र, सुदर्शन, शिवरानी देवी, (प्रेमचन्द की पत्नी) जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, रायकृष्णदास, हीरानन्द वात्सयन अज्ञेय, होमवती देवी, चतुरसैन शास्त्री, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीप्रसाद बाजपेई, पहाड़ी, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि ऐसे कहानीकार हैं जिन्होंने भाषा, विषय, शैली एवं कला की दृष्टि से 'प्रसाद' एवं प्रेमचन्द के कहानी-कौशल को निरन्तर नए ढंग से प्रस्तुत करने की साधना की है। यद्यपि ऐसा करने में उनके ऊपर कहीं मोपासा का प्रभाव है तो कहीं चेखव का। प्रेमचन्द एवं 'प्रसाद' की जैसी मुक्तगामी कथा-चेतना का इनमें संस्कार ढूढ़ने से ही शायद मिल पाए।

पत्र-पत्रिकाएँ

भारतेन्दुकाल में पत्र-पत्रिकाओं का प्रचारात्मक ज़ोर अधिक रहा और संख्या भी आएदिन घटती-बढ़ती रही। किंतु साहित्यि की दृष्टि से इन पत्र-पत्रिकाओं को साधारण स्तर पर ही ठहराना उचित कहा जायगा। द्विवेदी-काल में पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन, विषय-प्रतिपादन एवं साहित्यिक-सामाजिक आलोचन-प्रत्यालोचन सँवरता गया और प्रौढ़ होने लगा। दैनिक पत्रों में भी सुधार आ गया। लोगों की सुलझी हुई रुचि पत्र-पत्रिकाओं के पठन-पाठन की ओर लगी। बाबू बालमुकन्द, पं० अम्बिकाप्रसाद, गणेशशंकर विद्यार्थी, बाबूराव विष्णुराव पराड़कर, अम्बिकाप्रसाद बाजपेई आदि इस काल के बड़े तपस्वी, तेजस्वी, कर्मठ एवं प्रौढ़ सम्पादक-लेखक रहे। फिर प्रेमचन्द एवं प्रसाद जैसे विशुद्ध लेखकों ने भी क्रमशः 'हंस' एवं 'इन्दु' आदि पत्रिकाओं का सद् साहित्यिक सम्पादन-संचालन किया। द्विवेदी जी तो स्वयं में ही एक विराट् सम्पादक थे। उन्हीं का ऐसा तेज फैला कि आगे हिंदी भाषा-साहित्य और उसका पत्रकारिता जगत देदीप्यमान हुआ। अतः उनके विषय में हमने स्वतंत्र रूप से आगामी अध्याय लिखा है; यहाँ अधिक कहना समीचीन नहीं। इस युग की कुछ प्रमुख पत्रिकाओं के नाम इस

प्रकार हैं—

मासिक पत्र

१. सरस्वती। सम्पादक महावीरप्रसाद द्विवेदी। अभी चालू है।

२. इन्दु। सम्पादक जयशंकरप्रसाद। लगभग १० वर्ष चली फिर ठप होगई।

३. हंस। सम्पादक प्रेमचंद जी। यह भी कुछ चलकर बन्द हो गई।

४. प्रभा। एक राजनैतिक मासिक पत्रिका थी। तब यह खूब चली।

५. प्रवासी भारतीयों के हिंदी पत्र। पत्र-साहित्य को इस पत्रिका से बड़ा बल मिला।

इसके अतिरिक्त इण्डियन ओपिनियन, धर्मवीर आदि पत्र भी निकले और ठप हुए। धर्मवीर १९१२ में निकला और यह विदेशी हिंदी प्रचार का अग्रदूत पत्र था। भवानीदयाल जी इसके सम्पादक थे, जिन्होंने डरबन के निकट हिंदी आश्रम खोला था। यह पत्र वहीं से निकला। इसका रूप-विषय काफी ठोस और आकर्षक था।

साप्ताहिक पत्र

१. प्रताप। सम्पादक श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी थे। ये दैनिक पत्र-सम्पादकों के सही अर्थों में पिता कह जाँयगें। इन्होंने इस पत्र द्वारा भारतीय ग्रामीण जनता को जगाने और देश-हित सम्पादन करने में जितना योगदान दिया वह श्लाघ्य है। विद्यार्थी जी का जीवन सच्चे अर्थों में कर्मठ, साधु और पंडित-समाज-सुधारक का जीवन था। वे सदा इसी रूप में स्मरण किये जाते रहेंगे। उनकी वीरतापूर्ण मृत्यु जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ने वाले कर्त्तव्यनिष्ठ सेवक-सैनिकों के लिये चिरस्थाई प्रेरणा है।

२. अभ्युदय। इसके संरक्षक थे मदनमोहन मालवीय जी। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जी ने भी इसका कुछ समय तक, प्रारम्भ में, सम्पादन किया था। यह पत्र कांग्रेसी गरम-नरमदलीय राजनीति को प्रकट करने वाला प्रथम हिंदी पत्र कहा जा सकता है।

३. कर्मयोगी। लोकमान्य तिलक, अरविन्द बाबू एवं लाजपतराय के संरक्षण में यह पत्र प्रयाग से सन् १९०८ में निकला। पहले इसका रूप मासिक-पत्र का था। सरकारी जमानत न देने की ज़िद के फलस्वरूप यह ठप हो गया।

दैनिक पत्र

इस समय केवल दो ही उल्लेखनीय दैनिक-पत्र प्रकाशित हुए—

१. भारत मित्र।

२. कलकत्ता समाचार।

भारत मित्र सन् १९१२ से छपना आरम्भ हुआ और काफी धूमधाम से

जनता में चला। प्रचलन, सामिग्री और प्रभाव की दृष्टि से इस युग का यह दैनिक पत्र बड़ा महत्वपूर्ण रहा। 'कलकत्ता समाचार' सन् १९१४ में कुछ मारवाड़ी लोगों द्वारा निकाला गया लेकिन अधिक न चला और ठप हो गया।

इन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का बड़ा हित-सम्पादन हुआ। सम्पादन का कार्य-विद्वता, अध्यवसाय एवं सजगता से जुड़ गया। समाज, जीवन, भाषा-साहित्य, संस्कृति, शासन और धर्म की सही आलोचना को प्रकाश में लाना ही उन पत्रों और तत्सम्बन्धी सम्पादकों का लक्ष बन गया। अतः समाज का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठा और भारतीय संस्कृति, सभ्यता और साहित्य का मानदण्ड ऊँचा उठता चला गया। निसंदेह इस सबका श्रेय इस समय के पत्र-पत्रिकारिता जगत को ही है।

निकर्षतः सन् १९३५ तक जो कुछ नाटक, निबंध, आलोचना, उपन्यास एवं कहानी के रूप में हिंदी गद्य-साहित्य लिखा गया वह सूक्ष्म दृष्टि से यदि देखा जाय तो एक प्रकार से भाषा की दृष्टि से अपने उत्तरार्ध में प्रयोगशील एवं पूर्वार्ध में कुछ प्रौढ़तायुक्त हो चला था। शैली की दृष्टि से इस अवधि का पूर्वार्ध इतिवृत्त ढंग का आरोचक किन्तु लगनसम्मत रहा किंतु उत्तरार्ध में प्रसाद एवं प्रेमचन्द की रचना ने विषय-शैली का साहित्यिक सुधार कर दिया। उद्देश्य, सरसता, रोचकता एवं कलात्मकता की दृष्टि से इस अवधि में सुन्दर कथा-साहित्य रचा गया। विषय-शैली की दृष्टि से १९२० तक लिखा गया गद्य साहित्य पूर्णतः परिमार्जित, तत्वविषयक, कलात्मक एवं प्रौढ़ नहीं बन पाया, हां उसे प्रत्येक दशा और दिशा से सम्पन्न करने का पूर्ण प्रयत्न लेखकगण प्रारम्भ से ही करते अवश्य रहे, और सफल भी होते रहे। किंतु १९२०-२१ से, जब से कि देश में स्वातंत्र्य-आंदोलन गांधीवादी चिन्ताधारा से प्रभावित हुए, तबसे हिंदी गद्य-साहित्य का विषय समाज एवं जीवनपरक बन गया। व्यवस्थित ढंग से साहित्य में सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांति का भाव प्रकट होने लगा। भारत के हृदय 'अतीत' को मथकर प्रसाद ने जहाँ अपनी कहानियों, नाटकों एवं निबंधों में हमारे सांस्कृतिक ज्वलंत गौरव को हमारे भीतर जगाया वहाँ प्रेमचन्द ने तत्कालीन, देशकालीन तुच्छ राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों की धज्जियां बिखेर कर भारतीय समाज को अपने वास्तविक आदर्श एवं नैतिक संगठन एवं बल को प्राप्त करने की चेतावनी दी। मानव जीवन की सामाजिक महानता के लिये जितना कुछ, और जो कुछ प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों एवं कहानियों द्वारा हमारे देश को प्रदान किया उसे राजनीतिक एवं मानवीय कर्त्तव्य-अधिकार के सिद्धान्त तथा समाज-शास्त्र के पहलू से झुठलाया नहीं जा सकता। उपयोगितावाद एवं कला का एकरूप चित्रण ही प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य है।

हमने १९३६ से प्रगतिशील युग माना है। नहीं कह सकता कि मैं उसके प्रति ठीक हूँ या नहीं। इसके लिये मैं सिर्फ इतना ही कहूँगा कि साहित्य का इतिहास कोई ऐसा इतिहास नहीं होता जिसमें अशोक के राज्य जैसी अवधि की कोई सीमारेखा निश्चित हो कि जो एक दिन भी आगे पीछे हो जायगी तो अनर्थ हो जायेगा। साहित्य के पट-परिवर्त्तन के पीछे और आगे अनेकानेक रचयिताओं का जीवन एक दूसरे से सम्बद्ध रहता है। द्विवेदीयुग के बहुत से लेखक आज भी साहित्य साधना में लगे हुए हैं। ईश्वर उनको दीर्घायु दे। मेरी दृष्टि से साहित्य के इतिहास की सीमारेखा समय एवं समाज की परिस्थितियों के परिवर्त्तन को ध्यान में रखते हुए निर्धारित करनी इस लिये आवश्यक है, क्योंकि कोई भी लेखक इतिवृत्त-इतिहास की तिथि, सन्-सीमा से बंधा न होकर मुक्त होते हुए भी अपने देशकालीन उतार-चढ़ावों एवं उसके सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सभ्यता सम्बन्धी परिवर्त्तनों-परिवर्धनों एवं मूल्यों से पूर्णतः प्रभावित होता है। उदाहरण के लिये गांधीवादी-सुधारवादी नीति से प्रभावित प्रेमचन्द, १९३६ की देशकालीन सूक्ष्म साम्यवादी परिस्थितियों से भी प्रभावित हुए। फलस्वरूप उनकी श्रेष्ठतम कृति 'गोदान' में इस साम्यवादी भावना की झलक परिलक्षित होती है—पर रक्तक्रांति और पैशाचिकता का उसमें लेशमात्र भी आभास नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि सन् १९३६ से, जिसे हमने प्रगतिशील या वर्त्तमान गद्ययुग लिखा है, वह अपने देशकालीन सामाजिक मूल्यों एवं साहित्यक मानों में अपने पूर्व युग से सर्वथा भिन्न होता चला गया है। इस सम्बन्ध में हम आगे लिख रहे है। यहां केवल इतना ही ध्यान देने योग्य होगा कि द्विवेदी-युग के उत्तरार्ध के जो लेखक हमने गिनाए हैं उन में कुछों को छोड़कर शेष सभी, अभी अपनी आयु को वर्त्तमान साहित्य की साधना में लगाए हुए हैं। कुछ उल्लेखनीय नवीन प्रतिभाएँ भी उदय हो रही है; यथास्थान उनके नाम दिये जायंगे।

वर्त्तमान या प्रगतिशील युग (सन् १९३६ से आज तक)

प्रवेश

चूँकि द्विवेदीयुग की परम्परा के ही अधिकांश लेखक आज भी विविध विषयों पर हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं, कुछों का अशुभ निधन भी हो गया है, अतः ऐसे प्रतिनिधि गद्य-लेखकों का संक्षिप्ततम परी य हम वर्त्तमान युग के क्रम में देंगे। यथास्थान हमने प्रमुख लेखकों का साहित्यिक ढंग से कुछ परिचय-संकेत दे भी रक्खा है।

प्रथम यहां हम एक स्थल के पूर्वलिखित अपने शब्दों को फिर दोहराना चाहेंगे—

"सन् १९३६ के पश्चात् विदेशी रोमांटिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, भौतिक, साहित्यक, सामाजिक चिन्ताधाराओं एवं संस्कारों का प्रभाव पड़ जाने के कारण भारतीय समालोचना ही क्या यहां के साहित्य के प्रत्येक अंग का ढलाव

ही कुछ विचित्र हो गया, उसमें अपना अतीत कम, वर्त्तमान अधिक है, राष्ट्र मूक है और परराष्ट्र मुखर है। उसमें स्वस्थता क्षीण और कुंठा प्रबल है। यही युग प्रगतिवादी युग कहलाया गया। हिंदी साहित्य के वर्त्तमान युग का आरम्भ मानव जीवन की अस्तव्यस्त परिस्थितियों एवं पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ है। वर्त्तमान युग के साहित्य में जीवन, व्यक्ति और समाज की एकनिष्ठ हुई भावना-विचार पद्धति का समावेश न हो सका। युग की दिनों-दिन अर्थकाम एवं शासन-मुक्ति की बढ़ती समस्याएँ भारत की आत्मा और उसके शरीर को खोखला करती रहीं। अतः प्रेमचन्द, 'प्रसाद' और उनके समकक्षी साहित्यकारों की भाँति—वैसे साहित्यकार प्रायः अब तक भी वही हैं—वर्त्तमान युग का साहित्यकार समाज-जीवन का अपने साहित्य में कोई सुधारवादी महान ध्येय लेकर न चल सका। फलस्वरूप उसके साहित्य में हम अनेकानेक वादों-प्रतिवादों का संघर्ष एवं अर्थ-काम-जनित कुंठा पाते हैं। जीवन के सत्य एवं यथार्थ की उपयोगता एवं मनोविश्लेषण प्रधान प्रवृत्ति एवं समस्याओं की ओर जितना भी साहित्यकार बढ़ा उतना ही वह बौद्धिकता के मानदण्ड को तर्क पद्धति के अनुसार निर्मित करता चला गया। किंतु किसी सद्-साहित्यिक परम्परा की वह स्थापना अब तक नहीं कर सका। मार्क्स एवं फ्रायड के अर्थ-कामवादी विचार-सिद्धान्त तो वह टटोलता गया, किंतु सरल, शान्ति, एवं आध्यात्म की मुक्तिदायिनी खोज से वह दूर और बहुत दूर होता गया। वर्त्तमान साहित्य की प्रवृत्तियों के विषय में कुछ लिखने से पूर्व हम उचित समझते हैं कि सन् १९३६ विषयक भारत की परिस्थिति एवं वातावरण की युग-जीवन सम्बन्धी विशेषताओं से परिचित हो लें। इससे हम वर्त्तमान युग की साहित्यिक-प्रगतिशील अंतश्चेतना से भली भाँति परिचित हो पाएँगे और उसके मूल अन्तर को भी समझ सकेंगे।

वातावरण

साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी ही तो होता है! जब साहित्यकार अपनी भावना और कल्पना के जगत में लीन होता है तो तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन का सूक्ष्म सत्य उसकी कल्पना और और भावना के द्वारा मूर्त्त रूप पाता है।

सन् १९३५ के बाद देश में चित्रपट के समान कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनका प्रभाव साहित्यकार पर व्यापक रूप में पड़ा। नया विधान लागू हुआ नये मंत्रि-मण्डल बनाए गये, साथ ही कुछ समाज जीवन सुधार सम्बन्धी कानून भी पास हुए। किंतु वह अपने में इतने नाकाफी थे कि यहाँ की जनता में असन्तोष बढ़ता रहा। इसके साथ ही १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के काले-काले बादल विश्व-क्षितिज पर मँडरा गए। भारत पर उसकी वस्तुगत प्रतिक्रिया बहुत अधिक पड़ी, क्योंकि तब यही एक गुलाम देश ऐसा था जहाँ से अँग्रेजों ने जीवन के उपयोग की हर वस्तु लड़ाई की सुविधा के लिए

कचोट कर भेजी। मन्त्रिमण्डल की बिना किसी स्वीकृति के वायसराय ने भारत को युद्ध की भट्टी में झोंक दिया, जिसके विरोध में समस्त देश के मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया। जनता में एक आक्रोश जग उठा और नए आंदोलन की भूमिका बनने लगी। इस भूमिका की प्रतिक्रिया साहित्य में प्रकट हुई और राष्ट्रीय–चेतना से अभिभूत होकर साहित्य लिखा जाने लगा। एक भयङ्कर और साम्राज्यद्रोही भावना का विस्फोट होने लगा। दूसरी ओर द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से आयात-निर्यात के साधन समुचित रूप में न चल सके। देश में कुछ आवश्यक वस्तुओं का अभाव और कुछ आवश्यक वस्तुओं का ह्रास दीखने लगा। कहीं गेहूँ न पहुँच सका तो कहीं वस्त्र न मिल सके —तथा ऐसी ही अन्य जीवनोपयोगी दैनिक वस्तुओं का अभाव मुँह फाड़ कर खड़ा हो गया। तत्कालीन सरकार ने उसके दमन के लिए 'कंट्रोल' का बोझ जनता के पेट और छाती से बाँध दिया। जनता पलपल राहत के लिये साँस तोड़ने लगी। मध्यमवर्ग का जीवन आत्महत्या के कगारे पर खड़ा हो गया। इस समस्या ने इस समय के साहित्यकार के अन्तस्थल में "**मानव मानव एक समाज**" एवं "**राजनैतिक स्थिति साम्यवादी हो**"! ऐसी भावनाओं की ज्वाला फूँक दी। फलस्वरूप दो प्रकार की प्रवृत्तियें साहित्य में फूटीं— एक तो घोर जीवन-संघर्षवादी और दूसरी घोर जग-जीवन के अभावों से पलायन वादी। सन् १९३६ से १९४२ तक इसी प्रकार की चेतना से पूर्ण साहित्य लिख गया। सन् ४२ की क्रान्ति ने फिर से एक नई राष्ट्रीय-चेतना और देश-प्रेम की भावना को गाँधीवादी आदर्शों के अनुकूल बनाया। इस ओर बहुत कुछ लिखा गया किन्तु देशकालीन समस्याओं ने साहित्यकार को अपने प्रगतिशील—जो वस्तुतः भौतिक सुख और संघर्ष का साहित्य के अन्तर्गत एक बुलन्द नारा कहा जायगा—शिकंजे में कसे ही रक्खा। यों इस सम्पूर्ण अवधि में जितना कुछ साहित्य लिखा गया वह प्रगतिवाद, छायावाद, पलायनवाद और न जाने कितने वादों के नाम से प्रचलित है। आज भी इन वादों का चक्कर कम तेज़ी से नहीं घूम रहा·····हर गली का साहित्यकार एक नए वाद का प्रवर्त्तक यदि कह दिया जाय तो ज्यादा अतिशयोक्ति न होगी।

वस्तुतः कहना होगा कि वर्त्तमान युग का गद्य-साहित्य तीन धाराओं के प्रवाह में बहा है।

१. राष्ट्रीय-सामाजिक-राजनीतिक-संघर्ष सम्बन्धी।
२. जग-जीवन के संघर्ष से पलायन सम्बन्धी।
३. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सम्बन्धी।

प्रवृत्यात्मक दृष्टि से साहित्यिक सृजन के दो पहलू रहे—

१. कला अथवा स्वच्छन्दतावादी।
२. जीवन अथवा यर्थाथवादी।

भाषा की दृष्टि से वर्त्तमान गद्य-साहित्य सरस, सुन्दर एवं सुगठित बना। शुद्ध तत्सम एवं तद्भव शब्दों का हिंदी खड़ीबोली में समावेश कर भाषा का प्रयोग कलात्मक एवं गत्यात्मक बनाया गया वर्त्तमान हिंदी भाषा में प्रत्येक विषय के अनुरूप भाव-विचारों को अभिव्यक्त करने की शक्ति पूरी तरह विद्यमान है।

शैली की दृष्टि से वर्त्तमान गद्य-साहित्य व्यक्ति प्रधान बना। प्रत्येक साहित्यकार की अपनी शैली बनी अतः नए-नए सैद्धान्तिक एवं कला सम्बन्धी प्रयोग देखने में आ रहे हैं। इस दृष्टि से आधुनिक गद्य-साहित्य ने श्रेष्ठ मसाला पचाया है। इस प्रकार वर्त्तमान गद्य-साहित्य ने अपने भीतरी एवं बाहरी क्षेत्र को काफी व्यापक एवं परिपुष्ट बना लिया है।

वर्त्तमान युग में नाटक, कहानी, निबन्ध, समालोचना एवं उपन्यास सम्बंधी गद्य-साहित्य के अतिरिक्त अनेक अन्य साहित्यिक विद्याओं का जन्म भी हुआ है। संक्षेप में हम नीचे इन सब का उल्लेख करेंगे।

नाटक:— हिन्दी आधुनिक नाटकों का सफल सृजन 'प्रसाद' की लेखनी कर सकी। हिंदी नाटकों का पिता प्रसाद को ही यदि माना जाय तो सर्वथा सत्य होगा। एकांकी एवं साहित्यिक नाटकों की परम्परा, ऐतिहासिकता एवं राष्ट्रीयता का समन्वय, पौराणिकता एवं आधुनिकता का नाटकीय एकत्व तथा कला और जीवन का रंजक साक्षात्कार 'प्रसाद' ने ही निज नाटकों में स्थापित किया। प्रसाद के पश्चात् निरंतर ऐतिहासिक, पौराणिक, राष्ट्रीय, कलावादी एवं समस्याप्रधान नाटकों का हिन्दी साहित्य में सृजन देखने को मिलता है। हाँ, प्रयत्न इस बात का अवश्य रहा कि नाटक में 'प्रसाद' की गंभीर साहित्यकता को प्रधान न रखते हुए रंगमंच की उपयोगिता कामहत्व बनाया जाय। साथ ही नाटक अभिजात्य वर्ग की सुखान्त सीमा में ही सर्वथा न बँधे बल्कि जीवन के निम्नवर्गीय संघर्ष, पराजय और दुख-सुख के आँसूओं से संयुक्त रहें। पात्र जीवन का स्वतन्त्र अभिनय प्रस्तुत करते रहें। वर्त्तमानकालीन नाटकों में इब्सन एवं बर्नाडशा सम्मत जीवन की सूक्ष्म दृष्टि रखने की प्रधानता बनी है। किन्तु इस दृष्टि का अच्छा विस्तार नहीं हो सका है। वर्त्तमानकाल में कथानक एवं विषय की दृष्टि से विशेषतः चार प्रकार के नाटक लिखे गये हैं।

१. ऐतिहासिक नाटक।
२. पौराणिक नाटक।
३. सामाजिक नाटक।
४. समस्याप्रधान नाटक।

वर्त्तमान उल्लेखनीय नाटक कारों के नाम इस प्रकार हैं—

हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, गोविन्दबल्लभ पंत,

बृन्दावनलाल वर्मा, अभयकुमार यौधेय, उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, चतुरसैन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर आदि।

एकांकीकारों के नाम इस प्रकार हैं—

रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, आदि।

ऊपर लिखित नाटककारों में ऐतिहासिक नाट्य शिल्प-तत्व की सर्वांगीण विशेषता हरिकृष्ण प्रेमी में, पौरिणक नाटक शिल्प की उदयशंकर भट्ट में, सामाजिक-समस्या प्रधान नाटक शिल्प की लक्ष्मीनारायण मिश्र में तथा जीवन्त, कलात्मक संघर्ष सम्बन्धी नाट्य शिल्प की विशिष्टता जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों में पूर्णतः देखने को मिलती है। कुछ अन्य नाटककारों ने भी नाट्य-शिल्प को नई-नई साज-सज्जा देने की सराहनीय साधन की है।

एकांकी नाटक लिखने वालों में रामकुमार वर्मा एवं उपेन्द्रनाथ अश्क के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रयोग की दृष्टि से अन्य एकांकीकारों की प्रगति भी बड़ी तीव्र एवं सन्तोषप्रद चल रही है।

फिर भी नाटकीय विकास के प्रति हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारत में नाटकीय परम्परा जितनी प्राचीन एवं महत्वपूर्ण—पंचमवेद कही जाने की दृष्टि से भी—रही है उतना नाट्य साहित्य सृजन का महत्व रंगमंच के अभाव के कारण नहीं बन पाया। बल्कि कहा जायगा कि जो प्रगति वर्त्तमान नाटकों की चल रही है, रंग-मंच की दृष्टि से तो वह आज से ८०-९० वर्ष पहिले ही अच्छी थी। कम से कम उस समय पारसी कम्पनियों एवं रास-लीला राम-लीला के माध्यम से कोई नाटक सम्बन्धी स्टेज तो खड़ा होता था—और चाहे अश्लील-आसाहित्यिक ही सही, नाकीटय धूम-धाम तो सुनने-देखने में आती थी। इस दृष्टि से, यदि हम नाटक का वस्तुतः विकास चाहते हैं तो हमें सिनेमा के मुकाबले पर अपना नाटकीय रंगमंच तैयार करना होगा। हमारे लिये और हमारी आगामी भारतीय साहित्यिक पीढ़ी के लिए यह एक गौरव की बात होगी। रेडियो विभाग ने इस ओर सराहनीय क़दम उठाया है।

निबन्ध

वर्तमानकाल के निबन्धों में जीवन की व्यापक दृष्टि और सृष्टि का प्रभावशाली अनुभव प्रकट होता लगता है। रामचन्द्र शुक्ल के समय से हिन्दी के निबंध भाषा-शैली एवं विवेचना-वर्णन की विशेषता से पूर्ण लिखे जाने लगे। भाषा का कसाव, विषयों का विस्तार एवं शैली पर व्यक्तित्व की छाप आज के निबंधों की अपनी साख है। फ्राँस के दार्शनिक, मौन्टेन ने सर्वप्रथम "Essay" शब्द का अंग्रेज़ी में उस रचना से अर्थ-आशय प्रकट किया जो भाषा-विवेचना एवं नीति-दर्शन विषयक अपनी परिपुष्ठ महिमा रखती है। इस दृष्टि से

हिन्दी में "**निबंध**" नाम सच कहा जाय तो रामचन्द्र शुक्ल ने ही प्रथम सार्थक किया। वर्तमानकाल में विषयगत् एवं शैलीगत् विचार से निबन्धों के अनेकानेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं और किये गये हैं। किन्तु मेरी समझ से निबन्ध की शैली एक ही विशिष्ट कही जायगी—व्यक्तिप्रधान शैली ! "Style is the man" वाली विचारधारा का साहित्यिक रूपान्तर Essey अथवा निबन्ध में होना अनिवार्य है—यही साहित्य की नई शैली वाली बात कही जायगी। और नई शैली की बात करना-कहना ही एक प्रतिनिधि सफल साहित्य लेखक की सफलता है। निबन्ध प्रभावदेय रोचक एवं साहित्यिक बनें, इसके लिये व्यक्तिप्रधान भिन्न-भिन्न शैलियों का निबन्धों में देखना किसी भी देश के निबन्ध-साहित्य के लिये शुभ लक्षण कहा जाता रहा है। हिन्दी निबन्धों में अभी घिसी-पिटी लकीर चल रही है क्योंकि शैली की नवीनता कम देखने में आ रही है। इस ओर हिन्दी के कतिपय निबंधकारों ने अपनी प्रतिभा एवं बुद्धि का सुन्दर परिचय दिया है। कुछ निबन्धकारों के नाम इस प्रकार हैं—

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', अज्ञेय, डा० नगेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नलिनविलोचन शर्मा, प्रभाकर माचवे, नन्द दुलारे वाजपेई, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, जैनेन्द्रकुमार, बच्चनसिंह, श्री प्रह्लादसिंह 'आराधक', शचिरानी गुर्टू, शिवदानसिंह चौहान, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामवृक्ष बैनीपुरी, महादेवी वर्मा, देवेन्द्र 'दीपक', रघुबीरसिंह, एवं राहुल सांस्कृत्यायन आदि।

इन लेखकों ने विभिन्न साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक, यात्रात्मक, संस्मरणात्मक तथा अन्य अनेकानेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। आज के निबन्ध विशेषतः लेखक की अपनी दृष्टि, अपने अध्ययन एवं अपनी प्रतिष्ठा के आग्रह से ही अधिक लिखे जा रहे हैं, जिससे हिन्दी का निबन्ध क्षेत्र अपनी कोई परम्परा एवं व्यापकता स्थापित करने में असमर्थ हो रहा है। फिर भी वर्तमानकालीन निबंधों में विषय वैविध्य है एवं रोचक वर्णनशैली पनपती जा रही है। जीवन-जगत के विविध पक्षों को निबंधों द्वारा उद्घाटित करने की प्रवृति आज के निबंधकारों में विकसित होती हुई लगती है, यह शुभ लक्षण है।

समालोचना

आचार्य शुक्ल के समय में मिश्रबन्धु एवं पद्मसिंह शर्मा आदि ने 'बिहारी' तथा अन्य 'नवरत्न' आदि कवियों की आलोचना हिंदी गद्य-साहित्य में जोड़ी। बिहारी एवं देव का आलोचनात्मक झगड़ा जो पद्मसिंह शर्मा एवं कृष्ण बिहारी मिश्र के बीच खड़ा हुआ उसने साहित्य के अन्तर्गत आगे गहन तुलनात्मक एवं निर्णयात्मक साहित्यिक आलोचनाओं के लिखने की प्रेरणा का सूत्रपात किया और शुक्ल जी ने इस प्रेरणा को पूरी सफलता के साथ अपनी आलोचना में परिपक्व बनाना चाहा। बाबू श्यामसुन्दरदास ने साहित्यिक विषयों पर गहरी

समालोचनात्मक दृष्टि का परिचय दिया। हिन्दी की समालोचना को सूक्ष्म दृष्टि से पहचान एवं समझ लेने के लिये उनका **"साहित्यालोचन"** ग्रंथ बड़ा ही महत्वपूर्ण कहा जायगा। रामचन्द्र शुक्लजी का **"हिन्दी साहित्य का इतिहास"** बा०श्यामसुन्दरदासजी का **"साहित्यालोचन"**, गुलाबरायजी का **"काव्य के रूप"** एवं बख्शीजी का **"विश्व साहित्य"** ग्रन्थ गहरा अध्ययन एवं परिचय प्रस्तुत करते हैं। भाषा, विचार एवं सिद्धान्त की दृष्टि से ये ग्रन्थ बड़े महत्वपूर्ण कहे जायेंगे। हिन्दी गद्य-साहित्य ने इन ग्रंथों को पाकर अपनी प्रतिष्ठा एवं परिचय की व्यापकता पाई है।

अंततः कहा जायगा कि डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी इस समय के प्रकाण्ड समालोचक हैं। शुक्ल जी के पश्चात् द्विवेदी जी ही ऐसे समालोचक ठहरते हैं जिन्होंने हिंदी समालोचना का आदर्शरूप स्थापित किया है। नन्ददुलारे बाजपेई एवं शांतिप्रिय द्विवेदी जी की समालोचनाएँ सहृदयता, निष्पक्षता एवं सैद्धांतिक-तात्विक निरूपण की दृष्टि से उच्चकोटि की ठहरती है। हिंदी समालोचना को सुन्दर-सत्य और शिव रूप में प्रस्तुत करने के प्रति डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे बाजपेई एवं शांतिप्रिय द्विवेदी जी की साधना महान कही जायगी।

वर्तमान समालोचकों में डा० नगेन्द्रजी की प्रतिभा, उनकी स्टडी और उनकी तार्किकता अधिक प्रभावशाली है किन्तु उस में उनके अपने व्यक्तित्व की प्रधानता अधिक एवं निर्णय की सत्यता कहीं कड़ी ठहरती है। ज्ञान-मान एवं सिद्धान्त की दृष्टि से डा० नगेन्द्र नई पीढ़ी के समालोचकों में विशिष्ट स्थान बना रहे हैं। सर्व श्री शिवदानसिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, प्रकाशचन्द गुप्त, आदि समालोचकों ने भी साहित्य की भौतिक जीवन सम्मत वैज्ञानिक समालोचना को समुन्नत करने का अच्छा प्रयास किया है। इनका दृष्टिकोण विशेषतः भौतिक तत्व-विश्लेषणवादी है। ये आलोचक **'कामायनी'** में भी भौतिकवाद की पराकाष्ठा मानते हैं। किन्तु फिर भी इन समालोचकों के विवेचन के द्वारा हम निबन्ध एवं साहित्य समालोचन-जगत को वस्तुवादी-वैज्ञानिक तत्वों से परिपुष्ठ पाते हैं। भाषा के कलात्मक एवं गतिशील प्रयोग इन समालोचकों के अपने-अपने व्यक्तित्व का अलग-अलग परिचय देते हैं। वर्त्तमान समालोचनाओं में जीवन के सूक्ष्म-स्थूल पक्षों पर काफी प्रकाश डाला जा रहा है। छायावादी-रहस्यवादी तथा मानवतावादी विषयों पर लिखी गई वर्त्तमान समालोचकों की समालोचनाएँ तथा निबन्ध जहाँ एक ओर बौद्धिक खाद्य-सामग्री प्रदान करते हैं वहाँ दूसरी ओर उनके द्वारा हिन्दी खड़ीबोली के गद्य का परिमार्जित स्वरूप देखने को मिलता है। यशपाल जी भी साम्यवादी समालोचना पर अधिक लिख रहे हैं। पी० एच० डी० के लिये लिखे गये आधुनिक विभिन्न साहित्य विषयक प्रबन्ध भी समालोचना क्षेत्र को उर्वर बना रहे हैं। डा० भागीरथ शुक्ल का **'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास'** एवं किरणकुमारी का **'हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण'**

आदि पी० एच० डी० सम्बन्धी ग्रन्थ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समालोचना एवं निबन्ध का वर्तमान दौर काफी विकसित हो रहा है। पर शर्त यह है कि यह विकासक्रम बराबर बुद्धि, विचार एवं भावना का समन्वय करता चले। तब उसका भविष्य किसी भी विदेशी बौद्धिक साहित्य की अपेक्षा कम नहीं रहेगा ; बहुत कम समय में ही।

उपन्यास

हिन्दी के उपन्यासों पर विशेषतः बँगला का एवं मूलतः अंग्रेज़ी का प्रभाव मुन्शी प्रेमचन्द के पश्चात् बढ़ता गया, यह कहने में हमें हिचकना नहीं चाहिये। प्रेमचन्द का अशुभ निधन १९३६ में हुआ। 'गोदान' उनकी अंतिम कृति थी। प्रेमचन्द भारतीय जीवन को अपने उपन्यासों में प्रकट करते रहे। इनके बाद उपन्यासों में शहरी जीवन के सड़े-गले सामाजिक कलेवर का पोस्टमार्टम आरम्भ हुआ। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास द्वारा युगों से भारत ने मानव की जिन असद् प्रवृत्तियों को पराजित किया, वर्तमान उपन्यासों ने उनको पुनः जीवित करने की साध ली। इन उपन्यासों के लेखक पश्चिम के अर्थ-काम की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों एवं समस्याओं को लच्छेदार भाषा में अपने उपन्यासों में चित्रित करने लगे। कला एवं प्रगतिशीलता की ढाल को तर्क के हाथों में लेकर प्रायः ऐसा किया गया है। ऐसे उपन्यासकारों के अग्रणी जैनेन्द्र जी रहे कहे जा सकते हैं। सन् १९३६ में छपा उनका **'सुनीता'** उपन्यास इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। वयः संधि को आत्म-पीड़न का मूलकारण बता कर जिस रुग्ण प्रणय व्यापार की बात उपन्यासों में प्रकट की गई, मैं समझता हूँ वह प्रगतिशील स्वस्थ समाज के लिये हितकर नहीं कही जा सकती। मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी एवं 'अज्ञेय' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह कहना कि बंगला के विश्वविख्यात उपन्यासकार शरत् एवं रवीन्द्र ने भी इन प्रवृत्तियों को अपने उपन्यासों में प्रकट किया है, सर्वथा गलत है। इन उपन्यासकारों ने मूलतः नारी ी पुरुष के समकक्ष में महानता सिद्ध करने एवं पुरुष के पूर्ण एवं विनत आकर्षण को पैदा करने के लिये ही ऐसा सब कुछ किया है ·····हिन्दी के इस धारा के उपन्यासकारों की भाँति नग्न कुण्ठा को ही 'बस' नहीं माना है। कहा जायगा कि **'अज्ञेय'** ने हिन्दी उपन्यास जगत को **'शेखर'** कृति देकर एक दृष्टि दी है, वह दृष्टि है व्यक्ति के आत्मपरक एवं भौतिक मनोविश्लेषणपरक होने की। व्यक्ति की अपनी कुण्ठाओं में समाज की किन निर्बलताओं का अंश विद्यमान है, ····· अज्ञेय ने अपनी औपन्यासिक कृतियों में प्रायः इसी दृष्टिकोण को प्रधानता दी है। वस्तुतः कला एवं विचारों का रोचक, रहस्यमय एवं चिंतनीय कथानक—यद्यपि इस दृष्टि से अधिक सफलता नहीं मिल सकी—अज्ञेय ने हिन्दी उपन्यास को नये ढंग का दिया है। सूक्ष्मतः यद्यपि उसमें पश्चिमी कलावादी प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है। अज्ञेय जी

ने कला एवं अनुभूति की मार्मिकता के माध्यम से पूर्ण 'अहमवादी' व्यक्तित्व का रूप उघारा है। इस में यद्यपि अज्ञेयजी की तत्वदर्शिता औपन्यासिक कलेवर को कम पनपने देती है फिर भी उस तत्व को अहमवादी व्यक्ति के स्वरूप एवं स्वभाव में स्थापित करने में अज्ञेयजी की शैली, भाषा एवं रोचकता प्रायः हिन्दी के आजतक के उपन्यासकारों में अकेली कही जायगी। इसी प्रकार भगवतीप्रसाद वाजपेई ने अपने उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक चरित्र, कुण्ठा एवं अन्तर्द्वन्द को बड़े ही कलात्मक ढँग से चित्रित किया है। हिन्दी उपन्यास जगत में भगवतीप्रसाद वाजपेई वासना के कथानक में भी आदर्श के हामी बने रहकर अभिव्यक्ति एवं औपन्यासिक विशेषता में साफ सफल दिखलाई पड़ते हैं। उनके 'पिपास', 'पतिता' आदि उपन्यास इसी बात की पुष्टि करते हैं।

यशपालजी ने साम्यवादी विचारधारा को यथार्थ रूप में, क्रांतिकारी दृष्टिकोण द्वारा अपने उपन्यासों में प्रकट किया है। इसके लिये उनके 'दादाकामरेड', 'मनुष्य के रूप' एवं 'देशद्रोही' उपन्यास पठनीय हैं।

यशपाल ने हिन्दी उपन्यास जगत को समाज और जीवन की यथार्थ वस्तु-सामिग्री प्रदान की है। बहिर्मुखी समस्याओं के चित्रमय-कथानक को उपन्यासों में सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने वाले हिन्दी के अकेले उपन्यासकार हैं, यशपाल !

उपन्यास को इतिहास के गौरव का सजीव प्रतीक सिद्ध करने वाले उपन्यासकार वृन्दावनलाल जी वर्मा हैं। उनके 'मृगनयनी' एवं 'झाँसी की रानी' उपन्यास संसार के श्रेष्ठतम उपन्यास भंडार में रखे जाने वाले नगीने कहे जा सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल जी वर्मा का स्थान अडिग है। आनन्दप्रकाश जैन ने भी थोड़े समय में ही ऐतिहासिक पृष्ठों की खोजबीन करके अपने कतिपय उपन्यासों में ऐतिहासिक कथानक को सुदन्र ढंगसे जोड़ा है। दिशा विस्तृत है, निरन्तर साधना की गति उनके **'तीसरा नेत्र'** उपन्यास में परिलक्षित होती है।

तरुण ऐतिहासिक उपन्यास लेखक श्री माधोसिंह **'दीपक'** की प्रतिभा भी प्रकाश में आई है। उनकी **"बोलतीं लहरें"** उपन्यास में राजस्थान और वहां की राजपूती आदर्श प्रेम-भावना का चित्रण इतिहास की ठोस भूमि पर होते हुए भी बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। उसे पढ़ कर लगता है कि दीपक जी की प्रतिभा अभी और मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास देगी।

वर्तमान श्रम-सहयोगी विकास योजना एवं उज्ज्वल चारित्रिक-उत्थान की सम्भावना को अपने 'मुक्ति दूत' एवं 'संस्कारों के बंधन' जैसे उपन्यासों में श्री अभयकुमार यौधेय समर्थ-सुन्दर ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं। निसंदेह अभयकुमार यौधेय एवंश्री आनन्द प्रकाशजैन जैसे स्वस्थ उदीयमान कलाकारों की प्रतिभा हिंदी उपन्यास जगत को गौरव

प्रदान करेगी।

श्री योगेशजी गुप्त तरुण उपन्यासकार होते हुए भी भाषा, वस्तु एवं शैली की उत्कृष्टता की दृष्टि से उपन्यास सृजन में प्रगतिशील है। उनकी दृष्टि समाज और व्यक्ति के उस तलातल को देखती है जिसमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, प्रेम आदि विषयक जीवन की प्रवृत्तियाँ क्रीड़ा करती हैं, क्रोध करती हैं। उनके उपन्यासों में अभिव्यक्ति का पैनापन एवं भावों-विचारों की स्वस्थता है। 'उनका छविनाथ' उपन्यास इसका प्रमाण है।

वर्तमान उपन्यासकारों में जिन्होंने कला एवं कथानक की तह में मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण का रोचक एवं तथ्यपूर्ण चारित्रिक चित्रण किया है, वे ये विशेष हैं—

जैनेन्द्रकुमार, वृन्दावनलाल वर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेई, राहुल सांकृत्यायन, धर्मवीर भारती, नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट, अज्ञेय, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क।

कुल मिलाकर वर्त्तनमानकाल में उपन्यास विधा को भीतरी जीवन के अनुकूल बनाया जा रहा है। किंतु खेद है कि ऐसा करने में आज का उपन्यासकार मानव जवीन के बाहरी चरित्र-विकास एवं सामाजिक-सुधार को गौण बनाता जा रहा है। हिन्दी खड़ीबोली भाषा का जनरुचि व्यापक सरल, सुबोध प्रयोग जिन उपन्यासकारों में देखने को मिलता है, इसके लिये गुरुदत्त, कुशवाहाकान्त, आदि उपन्यास लेखकों का नाम उल्लेनीय है, किन्तु इन उपन्यासकारों ने बहुत लिखकर भी उपन्यास की मानव जीवन सम्बन्धी चारित्रिक विशेषता एवं महत्ता का खोखलापन ही गढ़ देने में सफलता पाई है। यह उपन्यासकार, फ्लाइंग लव या उथली राजनीति या राष्ट्रीयता की परख एवं दृष्टि को अंकित करने में ही सफल कहेजा सकते हैं। हाँ धर्मवीर भारती ने अपने, 'गुनाहों के देवता', नामक उपन्यास में विरह एवं काम से रोगिल बीमार प्रेम का काफी मनोरंजक चित्रण किया है। रूमानी, धड़कन को साहित्यिक सरस भाषा में प्रकट कर भारती जी ने उपन्यास को नयापन दिया है, यही बात उल्लेखनीय है। किन्तु इधर गुरुदत्त जी ने अपने उपन्यासों में समाज, इतिहास एवं संस्कृति के तत्वों को लिया है। उनकी पहुँच में गम्भीरता का समावेश हो सका है। लगता है, उनका मार्ग सुन्दर और प्रशस्त है।

कहानी

जीवनानुभव की एवं सूक्ष्मदर्शिता की पैनी, कलात्मक गद्य-अभिव्यक्ति का नाम 'कहानी' है। जीवन में जो घटना मर्म में पैठकर यथातथ्य कलात्मक आवरण ओढ़कर बरबस प्रकट हो जाती है ···कहानी उसका मूर्त्तरूप है।

हिंदी कहानी सन् १९०० से, प्रयाग से प्रकाशित 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा प्रकाश

में आई। इससे पूर्व भी कहानियां लिखीं गईं (भारतेन्दु की अद्भुत अपूर्व सपना, आदि) किन्तु ये कहानियाँ कहानी की तकनीक से अलग केवल समय काटने की 'बातें' कहीं जायगी···असंगत निरुद्देश्य, कलाविहीन ! कहानी का पिछला इतिहास यहाँ दोहराने की इसलिये आवश्यकता नहीं कि हम इस बारे में यथासम्भव लिख आए हैं। वर्त्तमान कहानी, प्रयोग, भाषा, कला, शैली एवं विषय की दृष्टि से बाह्यजगत एवं अर्न्तजगत के घात-प्रतिघात, सौन्दर्य-असौन्दर्य तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति का सुन्दर चेतना-चित्र उपस्थित करती है। कुछ समालोचकों का विचार है कि हिंदी का कहानीकार विदेशी मोपाँसा, तुर्गनेव एवं चेखव आदि के सफल चित्रण की भाँति अपनी कहानी को जीवन के निकट लाने में असमर्थ सिद्ध हुआ है·· ···किन्तु हमारा विचार है कि प्रसाद एवं प्रेमचन्द के युग में ही हमारी कहानी, कला-कल्पना एवं भावना-यथार्थके परों पर उड़कर जीवन के अनकानेक पहलूओं को देख चुकी थी एवं अंतस्थल के घात-प्रतिघातों के भीतर हमारे कहानीकार उतर कर जीवन के कलात्मक एवं मनोवैज्ञानिक सजीव चित्र अंकित कर चुके हैं। क्या प्रसाद की 'आकाशदीप', गुलेरी की 'उसने कहा था', प्रेमचंद की 'आत्माराम' कहानी इस बात की साक्षी नहीं हैं कि हमारी कहानियाँ एवं हमारे कहानीकार केवल यथार्थ एवं वस्तुवादी महान विदेशी कथाकारों—चेखव, मोपाँसा एवं तुर्गनेव आदि से यदि कम कह जा सकते हैं तो इसी बात में कि पश्चिमी भौतिक अश्लीलत्व को वह अपनी कहानियों का सर्वस्व न बना सके। जीवन की कला और कला का आदर्श जितना भारतीय कहानियों (मेरा मतलब है हिंदी कहानियों से) में साकार है उतना विदेशी कहानियोंमें पढ़ने को प्रायः नहीं मिल पाता—हाँ,यहाँ का कहानीकार विदेशी कहानीकार की भाँति सड़-गल यथार्थ के माँसपिण्ड को चीरने वाला सर्जन नहीं बन सका, वह केवल सहानुभूति का आशीर्वाद प्रदान करने वाला दयालु अथवा दयनीय ही बना रहा। यह दोष हमारे कहानीकार का नहीं···हमारे मानववादी भारत का है जो यदि आपने में विश्व भर से महान है तो इसी सिद्धान्त में, इसी दर्शन में, इसी साहित्य-सृजन में। किंतु वर्त्तमानकाल में कहानी का नया दौर पश्चिमी भौतिकवादी परम्परा का भी स्वरूप सामने रख रहा है। 'यशपाल'इस दौर के ओजस्वी कहानीकार हैं। 'पिंजर की उड़ान', 'तुमने क्यों कहा था कि मैं सुन्दर हूँ', एवं 'मंज़िल' आदि उनकी रचनाएँ विदेशी कहानियों के अखाड़े में जीत की बाज़ी लगाने में कम जोरदार नहीं कही जा सकतीं। कहानी की कला को नवीन रूपाकार देने में वर्त्तमान इन कहानीकारों का नाम उल्लेखनीय है—

सर्वश्री जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, पहाड़ी, यशपाल, उपेन्द्रनाथ, अश्क, विश्वभरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, उषादेवी मिश्रा, जनार्दन मुक्तिदूत, मोहन सिंह सेंगर, हंसराज रहबर, विष्णु प्रभाकर, मार्कंडेय, देवेन्द्र सत्यार्थी, अमृतराय। इधरहिंदी के कहानी साहित्यमें श्री रावी ने बहुत कुछ नई अभिव्यक्ति द्वारा

लघु कहानियाँ लिखी हैं। इस व्यस्त युग के वातावरण में उन्होंने कहानी के नाम पर जिन लघु कहानियों को लिखा है वह रोचकता एवं दृष्टि के पैनेपन को देखते हुए बड़ी मौलिक कहानियाँ कही जा सकती हैं। इन कहानियों की प्रतीकात्मकता एवं व्यंग प्रधानता अधिक मार्मिक न होकर भी कहानी-शिल्प के नए प्रयोग की दृष्टि से सराहनीय है। वर्त्तमान युग की यत्र-तत्र बिखरी हुई व्यवस्था के प्रति श्री सन्तोषकुमार जैन ने भी अपनी कलम से जितना कुछ के अर्न्तगत् लिखा है, वह पैना है। उसमें बुरे की पकड़ है तो भले की प्रशंसा है। भाषा की गतिशीलता में नवीन प्रयोग एवं अलंकारिक शैली का समावेश संतोष जी का सफलता से निभता है। वास्तव में उनसे कहानी जगत कुछ नई आशाएँ एवं सम्भावनाएँ रखता है, वे लगे रहे तो वे पूरी होंगी।

इस प्रकार कहानी की विकिसित होती हुई अवस्था को देखकर कहा जायगा कि हिंदी कहानी जगत् भाषा की दृष्टि से परिमार्जित एवं विषयों की दृष्टि से फल-फूल रहा है। हिंदी का नया कहानीकार इस साधना में लग रहा है कि वह मानव जीवन की व्यापक अर्न्तबाह्य स्थितियों को रोचक ढंग से कहानी के सूक्ष्म कलेवर में सजाकर प्रस्तुत करे। विशेषतः पत्र-पत्रिकाओं में बढ़ती हुई कहानी की परम्परा उसके अभिनव विकास का मूल्य निर्धारित करेगी—ऐसा पूरा विश्वास किया जा सकता है!

अन्य विकास शील विधाएं

वर्त्तमान युग में नाटक निबन्ध, समालोचना उपन्यास और कहानी गद्य-साहित्य के अतिरक्त कुछ अन्य विकासशील विधाएँ भी पनप रहीं हैं। इनमें मुख्य इस प्रकार से हैं:—

१. जीवनी
२. संस्मरण
३. भावचित्र
४. गद्यगीत
५. रिपोतार्ज

जीवनी

यों तो आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य में लिखी और प्रथम गिनी जाने वाली जीवनी, स्वामी दयानन्द जी लिखित 'जीवन चरित्र' कही जा सकती है। किंतु 'जीवनी' में जिस रोचकता एवं यथातथ्य वर्णन की प्रभावशाली अभिव्यंजना अपेक्षित होती है वह इसमें नहीं आ पाई। इतिवृत्त को प्रकट करते हुए भी चरित्र की अच्छाई-बुराई का ईमानदारी से रोचकता एवं मार्मिकता के साथ विवरण प्रस्तुत कर देना 'जीवनी' लिखने की विशेषता होती है। व्यक्तित्व का अनावृत्त चित्रण होते हुए भी 'जीवनी' आत्म-प्रभावशालिनी हो, यही उस का महत्वांकन है। 'जीवनी' किसी महान व्यक्ति की उचित ऐतिहासिक-कृति होती है, और

जीवनी ज़िन्दगी को महान बनाने वाली साहित्यिक यथार्थ चित्रकृति भी होती है। इन दोनों विशेषताओं से परिपूर्ण ही सही अर्थों में 'जीवनी' है।

अपने आप लिखित **'जीवनी आत्मकथा'** कहलाती है। हिंदी में आत्मकथा की दृष्टि से सफल लिखी जाने वाली जीवनी गांधी जी की है। गाँधी जी द्वारा रचित उनकी जीवनी भारतीय साहित्य में ही क्या संसार के साहित्य में प्रथम श्रेणी की है। आत्म-संस्कार से लेकर जगत-व्यवहार की 'कु' एवं 'सु' चारित्रिक विशेषता का जितना व्यापक आकलन इस जीवनी में पाया जाता है'' हमारी समझ से गाँधीजी की महानता का वही मूल कारण बना है। डा० राजेन्द्र प्रसाद, पं० जवाहर लाल नेहरू आदि की जीवनियाँ भी साहित्य की मूल्यवान कृतियाँ हैं। बाबू गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' कृति भी जीवनी के अर्न्तगत ली जा सकती है। राहुल सांस्कृत्यायन, बनारसीदास चतुर्वेदी एवं इन्द्रविद्यावाचस्पति ने भी जीवनी कही जाने वाली कृतियाँ लिखी है, किंतु सुसम्बद्ध एवं चरित्र की साँगोपाँग प्रेरणात्मक भाषा-शैली का इन कृतियों में अभाव है। ध्यान रहे कि संस्मरण सम्बन्धी रचनाएँ 'जीवनी' साहित्य के अर्न्तगत सोचना-समझना भारी भूल है। संस्मरण किसी व्यक्ति का स्मृतिजन्य वह प्रभाव-युक्त चित्रण है जिसमें भावना की रेखाएँ एवं कल्पना के रंग होते हैं—यथार्थ उसका सजीव परिचय है। खेद है कि हिंदी गद्य में अभी इस ओर कोई सन्तोषजनक काम न हुआ और न हो रहा है।

कहानी की रोचकता, जीवनी की सच्चाई तथा गद्यगीत की जैसी मार्मिकता का समिश्रित पुट देकर जो रचना लिखी जाती है उसका नाम **'संस्मरण'** है।

'संस्मरण' व्यक्तित्व प्रधान होते हैं। किसी भी व्यक्ति के किसी क्रिया

२. **संस्मरण**:—व्यापार या चरित्र-व्यवहार से प्रभावित होने पर''''''और किन्हीं-

स्मृतिजन्य क्षणों का चढ़ाव आने पर ये संस्मरण प्रायः लिखे जाते हैं। ऐसी अवस्था न होने पर भी जो शब्द 'संस्मरण' समझ कर लिख दिये जाते हैं, वह सफल नहीं कहे जा सकते। यद्यपि हिंदी-गद्य-क्षेत्र में सफल संस्मरण अभी अधिक नहीं लिखे गये, किन्तु फिर भी प्रतिष्ठित कवियत्री महादेवी वर्मा ने अपनी 'अतीतके चल चित्र' कृति में 'सफलतम संस्मरण' लिखे हैं। संस्मरण की वह तमाम विशेषताएँ जो हमने ऊपर लिखी हैं, महादेवी की संस्मरण सम्बन्धी रचनाओं में समाहित हैं। श्री शिवपूजन सहाय, तथा रामवृक्ष बैनीपुरी के संस्मरण भी अच्छे बन पड़े हैं, किन्तु व्यापक एवं मार्मिक अधिक नहीं बन सके। श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की **'भूले हुए चेहरे'** कृति के संस्मरणों में मर्म की पहुँच है, भाषा की कला है और जीवन की चेतना है—और रोचकता इन सबकी परिचयदात्री है। महादेवी के कल्पना बोझिल यथार्थ को 'प्रभाकर' जी ने अपने 'संस्मरणों' में सुलझाने की युक्ति एवं दृष्टि प्रदान की

है। बनारसीदासजी ने 'विशाल भारत' के सम्पादक के रूप में सन् १९३४-३५ में हमारे आराध्य आदि संस्मरणात्म कृतियों से संस्मरण के महान कार्य को अभिनव एवं महत्वपूर्ण रूप दिया है। रामनाथ सुमन की "हमारे राष्ट्रनिर्माता" भी एक महत्वपूर्ण कृति है। दो-चार लेखकों के अतिरिक्त इस रचना कौशल की ओर हिंदी-गद्य में किसी व्यापक प्रतिभा का ध्यान नहीं जा रहा है!

भावना की क्षणिक दीप्ति में कुछ गद्य-पंक्तियों का स्वाभाविक, मार्मिक एवं काल्पनिक चित्रण, वह चित्रण, जो पढ़ने वाले की बुद्धि और हृदय में उतर कर अपना स्वयं ही चित्रांकन एवं मूल्यांकन कर डाले—'भावचित्र' कहा जाता है।

भाव चित्र:— कल्पना की कलित क्रीड़ा एवं अनुभूति की गुलाबी व्रीड़ा इन भाव-चित्रों की जान होती है। बुद्धि, मनोविकार एवं कुण्ठाविहीन उस रचना को हम 'भावचित्र' कहेंगे जो अपने नैसर्गिक लघु आकार में भी गहन चिन्तन एवं रहस्यपूर्ण आत्म-रस-रंजन से हमें तल्लीन बना छोड़ती है। इसके लिये, कम से कम सरस शब्दों में ही 'भावचित्र' का अंकन सफल कहा जायगा। एक उदाहरण देखिए—

"मैंने सौन्दर्य को देखा
तो फल लगा।
छुआ तो पत्थर।
लेकिन जब पूजा
तो हृदय बन गया।"

(लेखक की धरती: आकाश: मनुष्य कृति से)

वर्त्तमानकालीन इस नई विधा में अभी सफलता पूर्वक अधिक नहीं लिखा जा सका। चतुरसैनजी शास्त्री को भावचित्र-रचना-शिलान्यास का श्रेय दिया जाना न्यायसंगत होगा। उन्होंने अपनी "अंतर्नाद" कृति लिखकर भाव-चित्र लिखने की प्रेरणा एवं दिशा देने का सुन्दर काम किया है। श्री ठाकुरदत्त शर्मा 'पथिक' की प्रतिभा के नए चरण इस ओर आशातीत सफलता पा रहे हैं। उनके भावचित्रों में कहीं पर चिन्तन की चेतना है तो कहीं भावना की तरलता और कहीं बुद्धि की दिशा है तो कहीं कल्पना और हृदय के प्रस्फुटित पराग-कण। एक उदाहरण उनकी निरंतर प्रगति का परिचायक होगा —

"चन्दन की सुगन्ध से कीच की गन्दगी कहीं अच्छी है, क्योंकि चन्दन के नीड़ों में साँप पलते हैं, तो कीच की गन्दगी में कमल खिलता है, जिसमें विष नहीं, विभा है, फुंकार नहीं फुहार है!"

विष्णु प्रभाकर, महादेवी वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रभाकर माचवे तथा 'अज्ञेय'

जी की दूसरी रचनाओं में भी भावचित्र यत्र-तत्र बिखरे-बिखराये हुए मिलते हैं, किन्तु उनका स्वतन्त्र अस्तित्व सुरक्षित नहीं पाया जाता। भविष्य में भाव-चित्रों की प्रगति की पूरी आशा की जा सकती है।

गद्य-गीत

हिन्दी गद्य में गद्य-गीतों की परम्परा का आभास हम भारतेन्दु जी के समय से ही पाते हैं। किन्तु इनका विकास प्रसाद की कतिपय रचनाओं में देखने को मिलता है। हिन्दी गद्य-गीत विशेषतया रवीन्द्र की गीतांजली की छाया से अनुप्राणित हैं। रवि बाबू की रचनाओं का प्रभाव भी हिन्दी गद्य-गीतों में परिलक्षित होता है। गद्य-गीत उस रचना का नाम है जो साहित्यिक गीतों की मार्मिक अनुभूति एवं मधुर भाषा के माध्यम से, गद्य-शैली में गिने-चुने शब्दों की सीमा में लिखी जाय। इन रचनाओं में एक संवेदना, एक तीव्रता, एक आवेश एक वृत्ति एवं सौन्दर्यांकन, मनोभावों की ज्योत्सना में निखर उठता है। रहस्य के आवरण से कल्पना एवं भावना की ललचाई आँखें किसी अज्ञात स्वरूप अथवा ज्ञात प्रियतम को निहारते-निहारते जो कुछ अंकित कर पाती हैं, गद्य-गीत का परिचय हम इसी अंकन में पाते हैं। छायावादी-रहस्यवादी कविता की प्रतीकात्मकता इन रचनाओं में विशिष्ट बन जाती है। गद्य-गीत की अंतश्चेतना में आत्मा के बोल होते हैं। अतः इनके लिखने में आत्मविस्मृति एवं आत्मवेदना की स्वरलहरी प्रधान बन जाती है, जिसे हर एक सफलतापूर्वक मुखरित नहीं कर पाता। श्री विश्वम्भर 'मानव' की दृष्टि में:

"गद्य-गीत शब्द ही इस बात का द्योतक है कि यह गद्य और पद्य के मध्य की कोई वस्तु है। गद्य जो अपनी सीमा में नहीं रहा पद्य की ओर बढ़ गया, गीत जो अपनी परिधि नहीं छू सका गद्य की ओर लौट आया ; दोनों मिलकर गद्य-गीत बन गए। गद्य ने पद्य से कुछ स्वीकार किया और पद्य ने गद्य को कुछ दिया ; इस ग्रहण-प्रदान की प्रक्रिया ने हिन्दी में नवीन शैली को जन्म दिया। गद्य ने काव्य से भावुकता ली, रस लिया, पर आन्तरिक मिलन के लिए यह कहा कि छंद के वस्त्र उतारकर आओ।" ('हिन्दी के कुछ गद्य-गीत लेखक' लेख से)

निसन्देह **'मानव'** जी ने गद्य-पद्य के जो पारस्परिक अपनत्व का आदान-प्रदान प्रकट किया है वह गद्य-गीत का विशुद्ध गीत के समकक्ष बड़ा महत्व रखता है। गीत सम्भवतः हृदय से प्रस्फुटित हुए हर्ष-पीड़ामय निर्झर का संगीत है किन्तु गद्य-गीत हृदय एवं चिन्तना के मेल से बनाया गया चित्रकार का संगीत मुखरित करने वाला जैसे एक गद्य-रेखाचित्र है। गीत अपनी संगीत की सीमा में सफल है तो गद्य-गीत उस संगीत की प्रेरणा भर देने में। विशुद्ध गीत में कला प्रकृत है एवं गद्य-गीत में कला साधना की वस्तु है। इसीलिए गद्य-गीत लेखक को प्रथम, प्रधानतः शब्द-शिल्पी बनना आवश्यक है और गीतकार के लिए प्रथम अनुभूति का प्राण बनना

अनिवार्य है। गद्य-गीत एवं गीत परस्पर भावना एवं कल्पना की पहुँच में बराबर गतिशील रहते हैं यही उनका साम्य है और विकास का कारण भी। हिन्दी में सफल गद्य-गीतकारों में रायकृष्णदास सबसे पहले रचयिता कहे जायेंगे। रवीन्द्र की गीतांजली की भावमयता एवं रहस्यात्मकता का पुट आपकी 'साधना' एवं 'छायापथ' कृतियों में पढ़ने को मिलता है।

एक उदाहरण पढ़िए—

..... "तब तुमने मृदंग के घोष से मेरी हृदय-गाथा सुना-सुनाकर मुझे मोह लिया है। जब शान्तिवसना कुमुद मालिनी प्रकृति पर चंदा अमृत बरसाता है और मैं विशाल दृगोचर की ओर देखता हूँ ·· अपने ज्ञात विचारों में अज्ञात हो जाता हूँ तब तुमने मुझे अपनी बन्सी की तानों में मोह लिया है।"—वर्त्तमान गद्य-गीतकारों में हीरानंद-वात्सायन अज्ञेय का स्थान विशेष है। उनके गद्य-गीत आत्म-धरातल से स्थूल-धरातल पर उतरकर नारी एवं पुरुष के चिर आकर्षण को अभिव्यक्त करने में अधिक सफल हुए हैं। भाषा, चिन्तना, कल्पना, भावना एवं सरसता की दृष्टि से 'अज्ञेय' के गद्य-गीत काफी मांसल कहे जा सकते हैं·····यद्यपि उनमें 'अहंवाद' की संकुचितता का स्वर भर्रा गया है····· जैसे,

"·····मेरे उर में जिस भव्य आराधना का उपकरण हो रहा है, तुम उसके लक्ष्य, मेरे आराध्य, नहीं हो।··· ··

तुम ? तुम हो उस आराधना के आरती-दीप, मेरे सहयोगी, मेरी उपासना को दीप्ति देने वाले, मेरे प्रज्वलित प्राण ! पर मेरे उर में जिस भव्य आराधना का उपकरण हो रहा है, तुम उसके लक्ष्य, मेरे आराध्य नहीं हो।" ('एकायन से')

इसी प्रकार श्री ठाकुरदत्त शर्मा 'पथिक' भी यद्यपि अभी पूर्ण साधना सम्पन्न नहीं लिख पाए किन्तु यत्र-तत्र उनके द्वारा गद्य-गीत का अच्छा विकास देखने को मिलता है—

"मेरे मानसरोवर की हंसनी, जब से तुमने इस तट को सूना किया है, यहाँ मोती बनने ही बन्द हो गये हैं।

भले ही तुम न आओ, पर एक बार उड़ते हुए इस छोर पर अपनी परछाईं तो डाल जाओ।"

माखनलालजी चतुर्वेदी के गद्य-गीत निष्छल भावना एवं अलौकिक प्रतीकात्मक रोमान्स की अभिव्यक्ति करते हैं। इनके गद्य-गीत 'साहित्य देवता' एवं 'मुरलीधर' में संकलित हैं। पूजात्मक एवं रहस्यात्मक भावावेश चतुर्वेदी जी के गीतों में मात्रा से अधिक देखने को मिलता है,अतः दुरूहता का आ जाना स्वाभाविक है। भाषा भी सहज ग्राह्य नहीं बन पाती फिर भी गद्य-गीत की परम्परा में आपके गीत बहुत ऊँची श्रेणी

के कहे जायेंगे। इधर श्री जगदीश जी के गद्य-गीत 'द्वाभा' में संकलित हैं। अधिक निराशावाद का स्वर इन गीतों में काफी मिठास एवं आवेग ले आया है। श्री बुद्धदेव जी के 'निशीथ' एवं राजनारायण के 'रजनीश' गद्य-गीत संग्रहों में आराधना की भावना बड़ी रम्यता से अभिव्यक्त हो सकी है। श्री शिवचंद नागर के **'प्रणयगीत'** संग्रह में प्रवाह एवं भाषा का अलंकारिक रूप बड़ा मनमोहक बन सका है। देखिए—

"तुम बन्दी हो, मेरे जीवन में पलकों में, नयनो में, प्राणों में, लहरों में, गानो में—अच्छा होता यदि मैं बन्दीगृह होती।"

'गद्य गीत' लिखने की स्वस्थ्य प्रवृत्ति लेखकों में प्रतीत हो रही है। केवल रहस्यवादी भावना को ही नहीं, आज लौकिक, प्रेमवादी-वासना को भी इन गद्य-गीतों में बड़ा ही मधुर एवं भावपूर्ण, छोटा से छोटा स्वरूप प्रदान किया जा रहा है। यह विकास का लक्षण है। श्री वियोगी हरि, चतुरसैन शास्त्री, सियारामशरण गुप्त, दिनेश-नंदिनी डालमिया, भगवतीचरण वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, अज्ञेय, रामप्रसाद विद्यार्थी, जगदीश, ब्रह्मदेव, राजनारायण महरोत्रा, ठाकुरदत्त शर्मा 'पथिक', शिवचंद्र नागर एवं स्वयं लेखक, गद्य-गीत विधा का समुचित विकास एवं वैशिष्ट्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। नारीयोचित अनुभूति का मार्मिक एवं छोटा प्रकाशन दिनेशनंदिनी डालमिया ने अपने गद्य-गीत संकलन 'मौक्तिक माल' **'शारदीया'**, **'उन्यन'** तथा **"दुपहरिया के फूल"** में किया है। डालमिया जी की भाषा में मेल-जोल अधिक है। अतः सात्विकता तथा साहित्यिकता कहीं-कहीं पर भाषा की दृष्टि से बिखर जाती है। सूफियाना अभिव्यक्ति होने के कारण आपके गीतों में प्रायःअश्लीलता भी आ जाती है।

रिपोतार्ज

हिन्दी गद्य की नई विधाओं के अन्तर्गत 'रिपोतार्ज' शब्द मूलतः फ्रांसीसी भाषा से सम्बन्ध रखता है। संवाददाताओं की रिपोर्टें जब अपनी शैली में कुछ साहित्यिकता का समावेश कर लेती हैं तब वह 'रिपोतार्ज' कहलाती है। रिपोर्ट का कुछ साहित्यिक संस्कार 'रिपोतार्ज' कहा जाता है; यह भी कि पत्रकारिता को साहित्य के निकट लाने वाला साधन 'रिपोतार्ज' के नामसे अभिहित किया जाता है। यथार्थ का रोचक वर्णन अथवा किसी सत्य घटना का जन-प्रभावशाली चित्रण रिपोतार्ज का विशेष गुण है। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि किसी घटना का इस प्रकारसे चित्रण करना कि उसकी सत्यता पढ़ने वाले की बुद्धि एवं उसके हृदय को एकदम प्रभावित कर डाले, 'रिपोतार्ज' लिखने की सफलता का सबूत है और प्रभावित करने के लिये साहित्य की कल्पना एवं उसके कौतुहल का आधार लेना 'रिपोतार्ज' लेखक को बड़ा आवश्यक होता है। लेखक की सफलता इसी में है कि वह अपने घटना-उद्देश्य को कम से कम पंक्तियों में शाब्दिक कौशल द्वारा अंकित कर दे। अधिक बड़ा 'रिपोतार्ज' अधिक सफल नहीं कहा जा सकता। कहानी का कुतूहल

एवं निबन्ध का तथ्य 'रिपोतार्ज' का निरूपण ग्रहण करता है। 'रिपोतार्ज' लिखने में लेखक का सामाजिक एवं नैतिक उत्तरदायित्व प्रधान हुआ करता है। अतः 'रिपोतार्ज' लेखक को अपने मानसिक संतुलन को बनाए रखकर जहां एक ओर अपने दृष्टिकोण में तटस्थ रहना अनिवार्य है, वहां उसकी रोचकता के लिये साहित्यिकता के दावे को भी अपनाना उसका एकमात्र ध्येय रहता है।

हिन्दी गद्य-क्षेत्र में 'रिपोतार्ज' का उदय बंगाल के अकाल के समय से हुआ। वहां की दयनीय एवं हृदय-द्रावक दशा के प्रति कुछ साहित्यिकों ने **'रिपोतार्ज'** लिखे। फिर आजाद हिंद सेना, भारत-विभाजन एवं काश्मीर-समस्या पर 'रिपोतार्ज' लिखने की कला का विकास बढ़-चढ़ कर हुआ। हिन्दी में 'रिपोतार्ज' लिखने की सफलतम साधना श्री कन्हैयालालजी मिश्र 'प्रभाकर' की कही जायगी। उनके 'रिपोतार्ज' अपनी रोचक शैली, जनमय भाषा एवं तीखी सामयिक पकड़ को लेकर पाठक के लिये जहां एक ओर मानवीय प्रगति की दशा-दिशा का संकेत देते हैं, वहां दूसरी ओर उनसे हमें अपनी नैतिकता, सामाजिकता पवं परिस्थितियों-समस्याओं की सामयिकता को परखने-परखाने की अनुप्रेरणा भी मिलती है। हिन्दी में मिश्र जी के 'रिपोतार्ज' आजके समर्थ लेखकों को प्रेरित करने की दृष्टि से सफल कहे जायेंगे। 'रिपोतार्ज' के स्वरूप को पहचानने के लिए 'प्रभाकर' जी लिखित एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"नेहरू सबका प्यारा क्यों" शीर्षक से वे लिखते हैं—

एक बोले—**'क्यों जी, कांग्रेस की हकूमत टूटने पर जवाहरलाल क्या करेगा ?"**

दूसरे बोले—**"करेगा क्या, बैठे-बैठे किताबें लिखेगा और याद करेगा इन दिनों की शान को !"**

दल के नेता ने बहते प्रवाह को एक झटका दिया—**"ना, ना, कांग्रेस हार गई और कोई दूसरी पार्टी जीत गई तो वह भी प्रधान मंत्री जवाहरलाल को ही बनाएगी।"**

एक साहब गुर्राकर बोले—**"क्यों, दूसरी पार्टी नेहरू को प्रधान मंत्री क्यों बनाएगी भला ?"**

उपरोक्त उदाहरण से साफ़ जाहिर है कि रिपोतार्ज में रोचकता होना उसका पहला गुण है। जन-उद्देश्य एवं प्रभाव का होना दूसरा तथा साहित्यिकता का पुट होना उसका तीसरा गुण है और प्रधान है 'रिपोतार्ज' का समाचारयुक्त होना।

इस ओर प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव अमृतराय एवं श्यामलाल **'अख्तर'** का कार्य भी कुछ अच्छा चल रहा है। वर्तमान समाचारी एवं समस्याई युग की हल-चल में 'रिपोतार्ज' साहित्य के गद्य-प्रचार का सहज साधन बनेगा, इसकी पूरी आशा की जा सकती है।

उपरोक्त विवेचन को पढ़कर हम यह सहज ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वर्त्तमान गद्य के सोपान-साहित्य, भाषा, विषय, शैली एवं स्वरूप की दृष्टि से निरंतर किस प्रकार बनते गये हैं। हिंदी-गद्य का प्राचीनतम साहित्य राजस्थानी अपभ्रंश भाषा में प्रायः लिखा गया जिसमें अस्तव्यस्तता भरपूर है। तत्पश्चात

निष्कर्ष

ब्रजभाषा गद्य लिखा गया जो टीकाओं एवं वर्त्ताओं की भक्ति-परम्परा में ही जकड़ कर रह गया—साहित्यिकता का उसमें कोई महत्व प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। तत्पश्चात चार महारथी एवं दो राजों तथा ईसाइयों द्वारा हिन्दी खड़ीबोली गद्य का स्वरूप सामने आया जो उर्दू-फ़ारसी भाषा के संघर्ष से काफी आहत किया गया। स्वामी दयानन्द, श्रद्धाराम फिल्लोरी आदि हिन्दु संस्कृति एवं हिन्दी भाषा के प्रतिष्ठापकों तथा सामर्थकों ने हिन्दी गद्य को कुछ प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्रदान किया और आधुनिक गद्य के निष्ठावान प्रचारक तथा साहित्य साधक 'भारतेन्दु' का उदय हुआ और यहीं से साहित्यक खड़ीबोली गद्य के वर्त्तमान नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास एवं समालोचना के अंकुर विकासशील अवस्था में प्रतिफलित हुए। भारतेन्दु युग यद्यपि हिन्दी वर्त्तमान गद्य परम्परा का पहला छोर कहा जायगा तथापि इस युग की भाषा अप्रौढ़ एवं उसके विषय संकुचित सामाजिकता, राष्ट्रीयता, पौराणिकता एवं एतिहासिकता की परिधि से बाहर नहीं आ सके। फिर भी इस युग के लेखकों मे जातीय गौरव तथा स्वाभिमान ज्वलंत रहा। साथ ही साहित्यिक गद्य लिखने की प्रवृत्ति अवश्य व्यापक बनी रही। भाषा एवं साहित्य के परिष्कार-परिमार्जन की दृष्टि से द्विवेदी युग अपना 'कसौटी' का महत्व बनाता रहा। इतिवृत्त साहित्य के सृजन का दृष्टिकोण प्रधान हुआ तो विषय निरुपण में बौद्धिकता एवं सूक्ष्म दर्शिता का महत्व बनने लगा। द्विवेदीयुग में पत्र-पत्रिकाओं का चलन व्यापक बना। 'सरस्वती', 'इन्दु' एवं हंस आदि पत्रिकाओं के प्रकाशन ने गद्य-साहित्य सृजन को प्रभाव, प्रचार एवं दिशा-दृष्टि की तीव्रता प्रदान की। इस युग के प्रतिनिधि लेखकों ने (प्रसाद, प्रेमचंद, मैथली शरण गुप्त आदि) साहित्य में जीवन दृष्टि एवं कला सृष्टि का स्वरूपांकन किया। निरन्तर बढ़ते हुए औद्योगिक, राष्ट्रीय, सामाजिक, जनवादी आन्दोलन एवं संघर्षों ने मानव जीवन के पहलूओं को वस्तु जगत के विश्लेषण एवं वैज्ञानिक तथ्यपूर्ण विचारों की ओर झुका दिया। फलतः यथार्थवादी साहित्य का सृजन आरम्भ हुआ। भीतरी जीवन के क्षोभ, अभाव एवं उत्थान के भाव-मनोभाव उग्र होने लगे। साहित्य के बाहरी-भीतरी क्षेत्रमें इनका प्रभाव पड़े बिना न रहा सका। अतः अनेकानेक वादों-प्रति वादों ने जन्म लिया। प्रगतिवाद ने वस्तु जगत की क्रांति एवं नवीन जीवन मूल्यों का आवाहन किया तो छायावाद—रहस्यवाद ने हृदय की जन भीरू, पलायन वृत्ति का परिचय दिया। मानव की बढ़ती हुई जीवन-अपेक्षाओं ने आदमी की दृष्टि इन्द्रिय

तुष्टि प्रधान कर दी। साहित्य में इसकी प्रतिक्रिया जहाँ एक ओर मार्क्सवादी, रोटी-कपड़ा की तीव्र माग को लेकर अभिव्यक्त हुई वहाँ दूसरी ओर युग-फ्रायड की अंर्त्तमन की काम-कुण्ठा सम्बन्धी विकृत एवं विकलांग इच्छा-ईष्साएँ भी साहित्य में लम्बे पाँव पसारने लगीं। इन सबकी हलचल हम द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अपने साहित्य में भली प्रकार प्रकट हुई पाते हैं। और इसका एक बड़ा महत्व यही कहा जायगा कि हमारे हिंदी गद्य साहित्य की नई-नई अभिव्यंजनाएँ, मान्यताएँ, स्वरूप-स्थापनाएँ तथा रंग-बिरंगी तकनिकल प्रयोगशालाएँ इन हलचलों की ही देन हैं। विदेशी साहित्य के गम्भीर सिद्धान्तों एवं शैलियों का प्रभाव भी हमारे साहित्य पर पड़ा। नई विधाओं-संस्मरण, रिपोतार्ज, गद्यगीत, भावचित्र एवं जीवनी आदि—का जन्म पाश्चात्य साहित्य का स्वरूपदर्शन-मनन-चिंतन का परिणाम कहा जायगा। हमें यह कहते गर्व होता है कि हमारे गद्य साहित्य का आज चर्तुमुखी विकास हो रहा है। पत्र-पत्रिकाओं का विशेष प्रचलन आज घर बैठे हमें चित्र-विचित्र महत्वपूर्ण एवं जीवन-दर्शन सम्बन्धी साहित्य का परिचय दे रहा है। समाज शास्त्र, इतिहास, कला, संस्कृति यात्रा, भाषा विज्ञान, राजनीति, संस्कृति एवं सभ्यता सम्बन्धी गद्य साहित्य की दिनों-दिन वृद्धि इस बात का विश्वास प्रदान करती है कि वह दिन दूर नहीं जब हमारी खड़ीबोली के गद्य का अंतिम सोपान हमें उस उच्चतम् स्थान पर लेजाकर खड़ा करेगा जहाँ से हम विश्व साहित्य का सम्पूर्ण दर्शन कर सकेंगे एवं विश्वजनीन साहित्य प्रतिभाओं को अपनी सद्-प्रेरणा एवं साधना का अवलम्बन प्रदान करेंगे।

———

दूसरा अध्याय

व्युत्पत्ति और व्याख्या

नाट्य विवेचन

मानव के चरित्र का उत्थान-पतन अनुकरण से बहुत कुछ सम्बन्ध रखता है। अनुकरण की चेष्टाएँ मूर्त्त रूप में 'अभिनय' कहलाती हैं। 'अभिनय' से मनुष्य के संस्कार, भाव एवं चरित्र का जीता-जागता परिचय हमें प्राप्त होता है। 'अनुकरण' की वृत्ति शाश्वत है। हम 'अनुकरण' उन्हीं बातों का करना चाहते हैं जो हमारे सुख-संवेदना आनन्द एवं चरित्र-विकास को बढ़ाने में सहयोगी हुआ करती हैं। 'अनुकरण' की प्रवृत्ति का सूक्ष्म आभास हम पशु-पक्षियों तक में पाते हैं। चिड़िया का बच्चा उड़ने की लालसा में पंख फड़फड़ाता है, चुगा-चुगने के लिए अपनी चोंच नीचे करता है यह सब किस लिये ?—इसलिए, क्योंकि वह अपने माता-पिताओं एवं अन्य विहंगम सम्प्रदाय को वैसा करते हुए पाता है। स्वभावतः यह 'अनुकरण' हमें प्रिय बन जाता है उसके देखने मात्र से हम आत्मविभोर हो उठते हैं। अन्य अनुकरणों की बात छोड़ कर हम नाटकीय 'अनुकरण' की बात यहाँ लिख रहे हैं। कहा जा सकता है कि कलात्मक भावना से जब हम किसी 'अनुकरण' की अवस्था का साहित्यक आयोजन करते हैं तब वह नाट्य रचना का उत्कृष्ट बनता है। जब वह नाट्य रचना अपने विधानों को जन-साधारण के सामने प्रस्तुत करती है, तो वह प्रस्तुतीकरण 'अभिनय' कहलाता है। 'अनुकरण' की अभिव्यक्ति को कलात्मक उपकरणों पात्र, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण कथावस्तु, देशकाल, उद्देश्य, शैली, आदि से सजाकर एवं जन-साधारण के भावों को उस अभिव्यक्ति के रस में डुबाने की प्रेषणयीता पैदा कर जब हम जनता के रंगमंच पर जिस सृष्टि को उपस्थित करते हैं वह सृष्टि नाटकीय सफल सृष्टि कहलाती है। कहना होगा कि नाटक साहित्य की वह विधा है कि जिसकी कीर्ति के स्तंभ अभिनय एवं 'अनुकरण' हैं। कथानक, पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपथन एवं उद्देश्य आदि का समन्वय तो उपन्यास में भी देखने को मिलता है। किंतु जो चीज़ उपन्यास

में नहीं है, और जो चीज़ उपन्यास से नाटक में बढ़कर है वह है, 'अभिनय' का कौशल एवं 'अनुकरण' की कला। इस दृष्टि से उपन्यास की पहुँच पढ़ने वालों तक ही सीमित है किन्तु नाटक पढ़ने वालों एवं देखने वालों के बीच अपना व्यापक एवं प्रभावदेय, एवं रोचक महत्व-सेतु रखता है। वह दृष्य-काव्य इसीलिये कहा जाता है कि उसका 'रस' सामान्य जन-समूह के मानस-धरातल पर रिमझिम करते हुए सावन के मेघ जैसा बरसता हुआ प्रतीत होता है। नाटक की कथा, भाषा, शैली, पात्र एवं अन्य सभी प्रधान-गौण वृत्तियाँ जन-अभिनय में अपना महत्व एवं मूल्य रखती हैं जब कि उपन्यास का मूल्य एवं महत्व प्राय- पाठक की रुचि एवं पहुँच तक ही सीमित है। हाँ चरित्र-चित्रण के घात-प्रतिघातों का—कल्पना, भावना, मनोविश्लेषण अथवा चिंतन सम्बन्धी चित्रण करने में उपन्यास नाटक से कहीं अधिक सफल एवं स्वतन्त्र होता है। किन्तु जहाँ तक नाटक की आदि एवं अंतिम सफलता की बात है, उसके लिए निश्चय ही कहा जायगा कि उसे 'अभिनय' (रंगमंच) एवं 'अनुकरण' (स्वाभाविक चरित्र-वृत्तियों) के प्रेषण के सर्वथा अनुकूल होना चाहिये। इसी तथ्य का समर्थन विलियम हैनरी हडसन (William-Henry-Hudson) ने उपन्यास एवं नाटक की तुलना के प्रसंग में इस प्रकार किया है—

"The novel is self-contained; that is, it provides within its own Compass everything that the writer deemed necessary for the Comprehension and enjoyment of his work. The drama, on the other hand, when it reaches us in the form print, and when we read it as literature, in the same way as we read a novel is not in this sence self-Contained. It implies everywhere the Co-operation of elements outside itself, and for the moment these elements are lacking. What we read is, in fact, little more than a bare outline which the play wright intended to be filled in by the art of the actor and the "**business**" of the boards a literary basis for that stage representation upon which he calculated for the full execution of the design"' For this reason, the Comprehension and enjoyment of a play as a piece of literature must always make immeasurably greater demands upon us than the Comprehension and enjoyment of a novel. We have to supply for ourselves the external Conditions from which it derives much of its life, and the whole machinery of actual performance; in countless cases of detail where had we been spectators, we should have relied upon the '**reading**' of the acter, we must as students have recourse to our own powers of apprehension and interpretation; our imagination must be so alert that every

scene may be conceived as if it were passing before us in action." (From—An introduction to the study of literature. Page 173.)

हडसन के उपरोक्त उद्धरण से जहाँ हम भली भाँति इस बात का समर्थन पाते है कि उपन्यास की गति इतिवृत्त (Matter of fact) घटनाओं एवं समस्याओं आदि को लेकर चलती है वहाँ नाटक की गति पात्रों के सजीव चरित्र-चित्रण को रंगमंच (stage) पर रंजित ढंग से उतारने में सफलता की शोध करती रहती है। साथ ही "scene" अर्थात् नाटकीय दृश्य की चरम सफलता यही है कि जब हम अनुभव करें मानो "action" अर्थात् कार्यानुकरण सर्वथा अपने अभिनय में खरा उतर गया है। 'रस' अर्थात् climax का आनन्द इसी स्थिति में प्राप्त होता है, नाटक की पूर्णता यहीं मानी जाती है। इस सबके निष्कर्षस्वरूप नाटक की, मेरी समझ से, यह परिभाषा कुछ अंशों तक अधिक स्पष्ट रहेगी कि साहित्य के अंर्त्तगत नाटक वह विधा है जिसमें मानवी जगत सम्बन्धी प्रकृत अनुकरण एवं उसका कलात्मक अभिनय पात्रों के कथोपकथन एवं चरित्र-चित्रण द्वारा सर्व-साधारण के लिए रोचक ढंग से अभिव्यक्त हो। जिसकी अभिव्यक्ति में मानव समाज अपने को कुछ समय के लिए उसी स्थिति में लिप्त पाकर आत्मविभोर हो उठे। उसके भाव-मनोभावों, घात-प्रतिघातों में अपने जीवन का ऐसा प्रतिबम्ब देखे, जैसा किसी दर्पण में दर्शित होता है। अभिनय, स्वरूप एवं उसके साथ अन्य उपकरणों की अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए भरत मुनि ने नाटक की लोक उपयोगिता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है -

"नाना भावोंपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।"—

अर्थात् नाना भावों से सम्पन्न, नाना अवस्थाओं के चित्रण से संयुक्त, लोक-वृत्त का अनुकरण नाट्य है।

वह वाह्य वेषभूषा, अवस्था, क्रिया-व्यापार एवं अभिनय के सर्वथा अनुकूल हो—भरत मुनि आगे लिखने हैं—

"वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो
वेषानुरूपश्च गति प्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥"

भारतीय दृष्टिकोण से ही नहीं, पश्चात्य मान्यता के अनुरूप, नाटक में सफल अभिनय, अनुकरण एवं जीवन के वास्तविक प्रतिबिम्ब का होना भी अनिवार्य है।—निकिल का मत प्रस्तुत है—

Drama is a copy of life, a mirror of coustom, a reflection of turth." (Theory of Drama.)

इस प्रकार नाटक लिखने की प्रवृत्ति एवं उसके खेले जाने का कौशल विशेषतया अनुकरण एवं अभिनय-तत्वों से अधिक घनिष्ट है। कहा भी है—'**-अवस्थानुकृति नाट्यम।**"

प्रवेश

पहले अध्याय में हम गद्य की प्रचलित विधाओं—नाटक उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना, जीवनी, संस्मरण, भाव-चित्र, रिपोतार्ज की प्रवृत्तियों और उनके विकास का विवेचन काल-क्रम से कर आये हैं। यहाँ हमें संक्षेप रूप में उनके स्वरूप और सिद्धांतों के विषय में भी जाने लेना उपयुक्त रहेगा।

व्युत्पत्ति और परिभाषा

नाटक की व्युत्पत्ति और परिभाषा के विषय में प्राचीन-काल से गम्भीर विवेचन होता चला आया है। उसकी व्युत्पत्ति, साहित्य की दृष्टि से, आज से सैंकड़ों वर्ष पुरानी है। हमारे नाटक को पंचम वेद कहा गया है और भरत मुनि का यह श्लोक नाटक की प्राचीनतम् उत्पत्ति और उसकी उपयोगिता का एक ज्वलन्त उदाहरण है—

"न संयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पाणि कर्माणि विविधानि च॥"

विदेशों में भी नाटक की उत्पत्ति प्राचीनकाल से ही हुई मानी गई है।

नाटक शब्द का एक प्राचीन नाम 'रूपक' भी है, जिसके विषय में कहा गया है—**"रूपारोपात्तु रूपकम्।"**—वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नाटक की उत्पत्ति मानव की मनोरंजनात्मक अभिनय वृत्ति का परिणाम है। इसीलिये उसमें मनुष्य को अहम् से संतुष्ट और स्निग्ध करने की क्षमता है। शायद तभी उसे कहा गया है—**"काव्येषु नाटकम् रम्यम्।"**

रूपक के माध्यम से नाटक के तत्वों के विषय में कुछ इस प्रकार भी कहा जा सकता है—

कथानक नाटक का स्थूल होता है, चरित्र-चित्रण उसका प्राण, कथोपकथन उसके पाँव, भाषा-शैली उसका श्रंगार, रंगमंचीय अभिनय उसका सांफल्य और उसका उद्देश्य, पूर्णत्व, आनंद या लक्ष्य है—'रस'।

भारतीय दृष्टि से इसके तीन तत्व हैं—वस्तु, पात्र और रस। और इसके अतिरिक्त, हमारे यहाँ अभिनय तत्वों की भी विशद विवेचना आचार्यों ने अलग से की है। विदेशी मनीषियों ने उसके छः तत्व माने हैं—कथा-वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, उद्देश्य तथा शैली। मूलतः भारतीय तीन तत्वों में विदेशी छहों तत्व अन्तर्भूत हो जाते हैं। वस्तु में कथावस्तु तथा देशकाल स्थान, पात्र में कथोपकथन, रस

में उद्देश्य निहित है। इसके साथ ही हमारे यहाँ के अभिनय-उपकरणों के अंतर्गत पाश्चात्य 'शैली' का विधान लिया जा सकता है।

कथावस्तु

कथावस्तु के दो भेद हैं—पताका तथा प्रकरी। कथावस्तु के विकास में पाँच अवस्थाएँ (Five Stages of Development) मानी गई हैं—प्रारम्भ, विकास, चरम सीमा, उतार और अन्त। इन्हीं को भारतीय ढंग से—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति तथा फलागम कहते हैं। कथावस्तु को रस में निमज्जित करने वाली, उसकी ओर बढ़ाने वाली और उसके प्रयोजन को सिद्ध करने वाली पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ (Five elements of Plot) निर्धारित की गई हैं—बीज (Germ), बिन्दु, पताका (Episode), प्रकरी (Incident) और कार्य (Denouement)।

प्रकृतियों और अवस्थाओं में संयोग देने का कार्य **'संधियाँ'** (Juncture) करती हैं। ये पाँच हैं—मुख संधि, प्रतिमुख संधि, गर्व संधि, विमर्श संधि, उपसंहार संधि। अभिनय के अनुरूप कथावस्तु को गम्य बनाने के लिये पाँच अर्थोपेक्षक निर्धारित किये गये हैं—विष्कम्भक, चूलिका, अंकाश्य, अंकावतार और प्रवेशक।

कथावस्तु को तीन प्रकार से उपार्जित माना है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित।

इस प्रकार नाटकीय कथावस्तु का पूर्वीय और पाश्चात्य विधान खड़ा किया गया है। संक्षेप में यहाँ नाटकीय वैधानिक तत्वों को जान लेना आवश्यक है।

वस्तु या कथावस्तु—नाटककार के लिये कथावस्तु का सद-चुनाव करना बड़ा अनिवार्य होता है। प्लाट अथवा कथावस्तु का अस्त-व्यस्त अथवा असंगत होना असाफल्य और हास्य का सूचक है।

अधिकारिक कथावस्तु (Main Plot)

यह कथावस्तु धारावाहिक रूप से नाटक के अंत तक चलती है। रस किंवा उद्देश्य की जननी इसी को कहा जा सकता है। जैसे रामचरित सम्बन्धी किसी भी नाटक में राम की कथा अधिकारिक कथावस्तु कहलाएगी।

प्रासंगिक कथावस्तु (Sub-Plot)

मूल कथावस्तु के साथ उसकी सहायिका के रूप में प्रासंगिक कथावस्तु चलती है। इसका उद्देश्य मूल कथावस्तु को अधिक प्रोज्जवल, अधिक साधारणीकृत और अधिक प्रेषणीय बनाने का होता है।

पताका (Episode)

वह प्रासंगिक कथावस्तु, जो मूल कथा के साथ मिलकर प्रायः अंत तक चले,

'पताका' कहलाती है।

प्रकरी (Incident)

वह कथावस्तु जो मूल कथा के साथ चार क़दम चलकर संचारी-भाव की तरह विलीन हो जाये, 'प्रकरी' कहलाती है।

प्रारम्भ (Exposition or introduction)

कथावस्तु का एकदम खुलता हुआ रूप 'प्रारम्भ' कहा जाता है।

विकास या प्रयत्न (Conflict or Rising action)—कथावस्तु के अंतर्गत नायक एवं खलनायक के संघर्ष के उपक्रम का नाम 'विकास' या 'प्रयत्न' है।

चरम सीमा या प्राप्त्याशा (Climax or Crisis)—कथावस्तु के संघर्ष की अन्तिम सीढ़ी का नाम 'चरम सीमा' है।

उतार या नियताप्ति (Falling Action)—कथावस्तु के लक्ष्य या "रस" के निश्चित साफल्य का जहाँ से आभास हो, उसे उतार या 'नियताप्ति' कहते हैं।

अन्त या फलागम (Denouement or Castastrophy)—जहाँ कथा-वस्तु के अंतिम लक्ष या रस का उद्घाटन हो जाता है, वह अंत या फलागम कहलाता है। प्रायः विदेशी नाटक 'दुखान्त' (Tregedy) प्रधान होते हैं। किन्तु भारतीय प्राचीन नाटक परम्परा में प्रायः दुखान्त नाटक नहीं लिखे गये ; 'सुखान्त' (Comedy) प्रधान ही लिखे गये। इसका प्रधान कारण पूर्वीय एवं पाश्चात्य जीवन का कुछ भिन्न सांस्कृतिक दृष्टिकोण रहा। हमारे यहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का समन्वित कर्म, जीवन के अंतिम लक्ष 'आनन्द' का सर्वस्व माना गया है। और दुख वहाँ माना गया है जहाँ शुभ कर्मों का शैथिल्य है, और शैथिल्य का नाम जीवन नहीं। अतः जीवन के रूपक 'नाटक' में हमारे प्राचीन भारतीय नाट्यकारों ने आदर्श जीवन का अभिनय ही श्रेयस्कर माना और ऐसे ही नाटक लिखे गये। किन्तु विदेशों में भौतिकवादी दृष्टिकोण प्रधान रहा और वहाँ के आदि नाटकों का अभिनय और सृजन भी उन लोगों द्वारा हुआ जिनका जीवन जंगली जानवरों के शिकार-संघर्ष में जन्मा और पला। संक्षेप में, हमारे प्राचीन मनीषियों का दृष्टिकोण जीवन के प्रति आस्थावादी, आदर्शवादी एवं पूर्ण आनंदवादी रहा। अतः नाटकों में भी उसी की अभिव्यंजना हुई और नाटक सुखान्त लिखे गए। किन्तु विदेशी लोगों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण संदेहवादी, संघर्षवादी और सर्वथा भौतिकवादी रहा और तदनुरूप वहाँ दुखान्त नाटक लिखे गए। किन्तु हिन्दी वर्तमान नाटकों में जीवन का दुखान्त पक्ष भी पनप रहा है।

विन्दु—प्रासंगिक 'प्रकरी' कथा को प्रस्तुत करने वाली स्थिति 'विन्दु' कहलाती है। इसका कार्य मूल कथा को बल प्रदान करना होता है।

पताका—इसके द्वारा मूल कथा का प्रासंगिक कथा के साथ निरन्तर चलने

वाला सम्बन्ध जुड़ता है। जैसे शकुन्तला नाटक में विदूषक की लम्बी कथा है।

प्रकरी (Incident)—प्रासंगिक कथा और मूल कथा के आकर्षण को दृढ़ बनाने में कुछ समय तक 'प्रकरी' का अस्तित्व स्थापित होता है।

कार्य (Denouement)—नाटक के अंतिम लक्ष्य की सिद्धि का नियोजक इस '**कार्य**' को कह सकते हैं।

मुख-संधि—पहले रस सृष्टि की प्रतिच्छाया मुख्य संधि प्रगट करती है।

प्रतिमुख-संधि—नाटक के विकास की आभा-जनक स्थिति को व्यक्त करने वाली प्रतिमुख संधि होती है।

गर्भ-संधि—इसके द्वारा नाटक की साधना-सिद्धि पाने की सूचना मिलती है।

विमर्श-संधि—इसके द्वारा नाटकीय कथा-वस्तु का घनत्व प्रकट होता है।

उपसंहार-संधि—इस संधि में नाटक का फल या प्रयोजन सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

दृश्य-कथा—नाटक की उस कथा का नाम 'दृश्य कथा' है जिसका रंगमंच पर स्पष्ट अभिनय होता है।

सूच्य—रंगमंच पर बहुत-सी न दिखायी जाने वाली कथा-वस्तु 'सूच्य' कहलाती है। किन्तु किसी भी प्रकार से किसी पात्र अथवा साधन द्वारा उस कथा की सूचना दे दी जाती है।

सूचना देने वाले साधन '**अर्थोपेक्षक**' कहलाते हैं।

विषकम्भक—विचित्र नीच-वर्ग के पात्रों द्वारा नाटक के प्रारम्भ में अथवा दो अंकों के मध्यस्थल में कथा की संक्षिप्त सूचना भर दी जाती है।

चूलिका—जो सूच्य कथा पट के भीतर से अथवा नेपथ्य से दी जाती है उसे 'चूलिका' कहते हैं।

अंकास्य—आगत अंक की कथा का संक्षिप्त सार कुछ बाहरी पात्रों द्वारा दिया जाता है। गत अंक की आगत अंक के साथ इसके द्वारा तारतम्यता जुड़ती है।

अङ्कावतार—पहले अंक के पात्र ही पुनः भीतर से बाहर आकर घटना-क्रम की सूचना देते हैं और सूच्य कथावस्तु का प्रतिपादन करते हैं।

प्रवेशक—विषकम्भक की भाँति दो अंकों के मध्य में एक पात्र आने वाली घटनाओं को कह जाता है।

प्रख्यात कथावस्तु—वह कथावस्तु जो पौराणिक, ऐतिहासिक एवं वर्त्तादिक पृष्ठ-भूमि पर आधारित होती है।

उत्पाद्य—कल्पना पर आधारित कथावस्तु।

मिश्र—प्रख्यात और उत्पाद्य मिश्रित कथावस्तु।

कथावस्तु के तत्वों में अर्थ-प्रकृतियों, संधियों, अर्थोपेक्षक, आदि का कोई विशेष महत्व आज स्वीकृत नहीं। आज के नाटकों की कथावस्तु और उसकी विकास-क्रिया नाटककार की स्वच्छन्द-वृत्ति का परिणाम है। किन्तु हाँ, उसे यह तो ध्यान रखना ही होता है कि कथावस्तु का चुनाव लोकसम्मत हो, उसका विकास व्यस्थित हो।

अंक-विभाजन (Division of Act)

नाटकीय कथावस्तु की व्यवस्थितता के निमित्त अंक-विभाजन का नियम है। अंक-विभाजन के द्वारा अभिनय सम्बन्धी घटनाओं को या कथावस्तु को समय, स्थान एवं कार्य की एकता में बांधा जाता है। विदेशी (Three unities--time, place and action) 'संकलनत्रय' का निर्वाह इस अंक-विभाजन के अन्तर्गत आ जाता है। 'संकलनत्रय' के विषय में संक्षिप्त विवेचन हम आगे दे रहे हैं। अनेकानेक दृश्यों, वातावरणों, गीतों-वाद्यों की सुखद योजना, अंक-विभाजन के द्वारा सम्पन्न की जाती है। 'अंक-विभाजन' का मूलोद्देश्य यह होता है ताकि नायक का चरित्र महान, अनुकरणीय और स्पष्ट हो और अंततः 'रस' की निष्पत्ति हो, भाषा सरल हो, कथा एक वर्ष से अधिक की एक अंक में न हो। कार्यों का प्रदर्शन यथासमय हो, देशकाल, वातावरण और स्थान का असन्तुलन न हो, अशुभ अश्लील दृश्य न हों। यह स्पष्ट है कि इस अंक-विभाजन के द्वारा हमारे यहाँ के आचार्यों ने विदेशी 'संकलनत्रय' के नियम को तो अपने में अंर्तभूत कर ही लिया है साथ ही उसमें विदेशी त्याज्य यथार्थ का समावेश न कर आदर्शोन्मुखी यथार्थ का प्रतिपादन किया है। अंक-विभाजन इस प्रकार है—

पहले सामान्य अंक के अतिरिक्त—१. गर्भाङ्क २. अंकावतार ३. अंकमुख ४. विष्कंम्भक।

गर्भाङ्क—जो 'अंक' बीच ही में शामिल हो जाय और जिसमें फल (कार्य) एवं बीज का पूर्वाभास मिले।

अंकावतार—पहले अंक के अंत में उसी के पात्रों द्वारा दूसरे अंक के सूचनोपरान्त जो आगे का अंक प्रस्तुत होता है, उसे **'अंकावतार'** कहा जाता है। जैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत 'चन्द्रावली नाटक' का दूसरा अंक है।

अंकमुख—वर्त्तमान अंक के किसी पात्र द्वारा अंत में उसी अंक की कोई बीती कथा का आने वाला आगामी परिचय सम्बन्धी स्थल **'अंकमुख'** कहलाता है।

विष्कंभक—इसका अस्तित्व अंक के प्रारम्भ में होता है। यह अतीत और आगत की कड़ी जोड़ता है। नीच वर्ग के पात्र ही इस अंक में कार्य करते हैं। इसके द्वारा कथा सम्बन्धी कार्य, समय और स्थान का प्रबोध होता है। यही संकलनत्रय का सूत्रधार कहा जा सकता है।

पात्र

नाटक का प्रमुख पात्र 'नायक' होता है, उसका विरोधी 'खल-नायक' और फिर विभिन्न नायिकाएँ अथवा स्त्रियाँ होती हैं। इधर-उधर के पात्रों को भी नाटक में स्थान मिलता है। जिन्हें हम 'भाड़े के पात्र' कह सकते हैं। नायक के चार भेद किये गये हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशांत, धीरोद्धत। इनके अतिरिक्त चार भेद और भी हैं—अनुकूल नायक, दक्षिण नायक, धृष्ट नायक और स्पष्ठ नायक। यह चारों भेद केवल शृंगारिक नाटकों में ही देखे जा सकते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध विभिन्न प्रकार की नायिकाओं से होता है। नायिकाओं के चार भेद किये गये हैं—दिव्या, नृपतिनार, कुलस्त्री और गणिका। तत्पश्चात इन्हीं के अनुसार नायिकाओं के नवीन तीन भेद और किये गये हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या।

धीरोदात्त नायक – धीरोदात्त नायक का व्यक्तित्व महान् और सात्विक होता है, उसके गुण हैं–औदार्य, विनम्र नीति-आदर्श-वीरत्वमय दृढ़-प्रतिज्ञ, संयमी आदि। इसके लिए भगवान राम जैसे पात्र लिये जा सकते हैं।

धीरललित—इस नायक के गुण हैं, शृंगार, कला, कोमलता, सुख, ऐश्वर्य, भोग और सौंदर्य सम्बन्धी। इसके लिये दुष्यन्त जैसे पात्र लिए जा सकते हैं।

धीरप्रशांत—धीरप्रशांत नायक के गुण हैं—दया, संतोष, शांति एवं सुख-दुःख समत्व सम्बन्धी। इसके लिए गाँधी जी जैसे महापुरुष लिये जा सकते हैं।

धीरोद्धत नायक—इस नायक में दोष की संख्या प्रधान होती है—छल, अहम्वादिता, उद्दण्डता, अभिमान, क्रूरता का इसमें प्राधान्य होता है। इसके लिये रावण जैसे पात्र लिये जा सकते हैं।

अनुकूल नायक—यह नायक दृढ़, स्वकीया-प्रेमी होता है। आदर्श प्रेम करना इसका लक्ष्य होता है। भगवान राम इसी प्रकार के नायक कहे जा सकते हैं।

दक्षिण नायक—यह सभी स्त्रियों का समान प्रेमी होता है। रसिकता का इससे विशेष लगाव होता है। इसके लिये कृष्ण जैसे नायक लिये जा सकते हैं।

धृष्ट नायक—ये क्रूर, उद्दण्ड, आत्माभिमानी और निर्लज्ज होता है। रावण का व्यक्तित्व इसका प्रमाण है।

शठ नायक—यह छलिया नायक होता है। सभी स्त्रियों से प्रेम कपट-द्वारा लाभ उठाता है और सामान्यतः छिप-छिपकर दुष्ट कार्य करता है। हार्डी के नाटक 'मेयर आफ केस्टरब्रिज' में 'सारजन्ट ट्राय' एक ऐसा ही पात्र है।

नायिका—नाटक में प्रमुख नारी का पाठ नायिका द्वारा सम्पन्न होता है। स्वकीया नायिका नायक की पत्नी होती है, जैसे सीता जी। परकीया नायिका दूसरे की पत्नी या क्वाँरी युवती भी हो सकती है। जैसे—राधा। समान्या नायिका का चरित्र

पतित होता है। प्रायः गणिकाएँ और रूपाजीवाएँ सामान्या नायिका कही जा सकती हैं।

भाड़े के पात्र—इसके अन्तर्गत विदूषक, खल-प्रतिनायक आदि आते हैं। नौकर-चाकर आदि पात्र भी इसी कोटि में आते हैं।

इसके अतिरिक्त विदूषक एवं खल या प्रतिनायक का भी बड़ा महत्व है।

विदूषक—अपनी विचित्र भेष भूषा द्वारा यह दर्शकों के हास्य-मनोरंजन का साधन तो होता ही है, साथ ही यथावसर नायक को उचित परमार्श भी देता है। इससे नाटक ऊबात्मक नहीं बन पाता।

खल या प्रतिनायक—नायक की उद्देश्य सफलता में यह अवरोध डालता है। नाटक में घात-प्रतिघात उत्पन्न करने की दृष्टि से इसका चरित्र भी महत्वपूर्ण होता है।

चरित्र-चित्रण

पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रायः इस प्रकार प्रस्तुत होता है—कथोपकथन द्वारा स्वगत् कथन या आत्मभाषण (Syliloqy) द्वारा और कार्य-कलाप द्वारा। किन्तु आजकल स्वगत या आत्म-भाषण का महत्व नहीं रहा।

कथोपकथन—कथोपकथन द्वारा पात्रों का आन्तरिक चरित्र-पक्ष उद्घाटित होता है, इससे उनके सद्-असद् विचारों का भान होता है।

स्वगत् कथन—स्वगत् कथन द्वारा पात्रों के चेतन-अवचेतन मन की गुत्थियाँ स्पष्ट होती हैं।

कार्यकलाप—इसके द्वारा पात्रों का वाह्य क्रियात्मक रूप स्पष्ट होता है। चिरत्र-चित्रण का यह प्रकार महत्वपूर्ण है।

कथोपकथन—इसके तीन भेद हैं—नियतिश्राव्य, सर्वश्राव्य और अश्राव्य।

नियतिश्राव्य—यह कथोपकथन सर्व-साधारण के सुनने का नहीं होता। अतः रंगमंच के पात्र विशेष पात्रों से परस्पर वार्तालाप करते हैं, जो श्रवणगोचर नहीं होता। इसके दो भेद हैं—अपवारित और जनांतिक।

अपवादित—जिन पात्रों से मुँह फेरकर दूसरे पात्र कुछ बात करते हैं, वह अपवारित होता है।

जनांतिक—तीन उँगलियों की ओट से कहा-सुना गया कथोपकथन जनांतिक कहलाता है।

सर्व श्राव्य—यह कथोपकथन सर्व साधारण के सुनाने के लिये ही होता है, इसे बहुत महत्वपूर्ण कहा जायेगा।

अश्राव्य—यह कथोपकथन अपने आप ही कोई पात्र विशेष करता है। इसे स्वगत-आत्मगत् कथन भी कहा जा सकता है।

देश-काल तथा वातावरण

नाटक-रचना के अन्तर्गत यह अनिवार्य है कि कोई भी नाटक अपने देश की परिस्थितियों और उसके वातावरण के अनुकूल हो, प्रतिकूल नहीं। नाटक का चारित्रिक चित्रण, उसके साधन-प्रसाधन, उसके पात्र, उसकी कथा-वस्तु, उसका उद्देश्य और उसका विधान, निर्धारित कालक्रम की सीमा का अतिक्रमण न कर दे, ऐसा होना भी नाटक में अनिवार्य है। जैसे एक अंक के पश्चात् दूसरे में १०० वर्ष आगे की कथावस्तु न हो, भारत का पात्र चीन की भाषा और वहाँ के कार्य-कलाप प्रकाशित न करे। नाटक का वातावरण मुगल-कालीन हो, किन्तु उसके स्थान, साज-सज्जाएँ गुप्तकालीन न हों। इससे नाटक की स्वाभाविकता मारी जायगी।

संकलनत्रय

नाटक की सुव्यवस्था को बनाये रखने के लिए 'संकलनत्रय का विधान सर्व-प्रथम ग्रीस से उदय हुआ था। ग्रीस के प्रचीन कालीन-नाटकों में प्रायः समय की एकता Unity of time) कार्य की एकता(Unity of action)तथा स्थान की एकता (Unity of place) का बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। ग्रीस से बढ़कर इसका प्रभाव इटली और फ्राँस में फैला और फिर सवर्त्र यह कहा-सुना जाने लगा। ग्रीस में समय की एकता की दृष्टि से नाटक की अभिनय-अवधि पूरे दिन-दिन और रात-रात भर की होती थी। पूरे चौबीस घण्टों के कार्यों का अभिनय वहाँ के नाटकों में होता था। फिर फ्राँस में यह अवधि बढ़ाकर तीस-तीस घण्टे कर दी गई। इस प्रकार अभिनय की अवधि के अनुकूल कार्य की एकता स्वतः जुड़ी रही और इन दोनों के संयोग से स्थान की एकता भी इसलिए बनी रही क्योंकि ग्रीस निवासी अपने नाटकों में अभिनय अपने ही इर्द-गिर्द के क्रियाकलापों का किया करते थे। अतः स्थान की एकता का स्थापन स्वभाविक रूप से अनिवार्य होगया। स्पष्टतः कार्य की एकता (Unity of action) का अर्थ हुआ, दिन भर के कार्यों की एकसूत्रता का अभिनय। समय की एकता (Unity of time) का अर्थ हुआ, जिन कार्यों की जितनी अवधि में सम्पन्नता हुई, उसकी सीमा। और स्थान की एकता (Unity of place) का अर्थ हुआ, जिस स्थान पर दिन भर के कार्य हुए उसी स्थल पर उनका अभिनय।

इस प्रकार संकलन-त्रय का विधान ग्रीस, इटली एवं फ्राँस के प्राचीन नाटकों की तत्कालीन स्थिति, वृत्ति और सीमा के अर्न्तगत मान्य हुआ। वहाँ इसके मान्य

हो जाने का मुख्य कारण यह था, क्योंकि तब नाटकों के अभिनय और सृजन की कोई कलात्मक रूपरेखा और परम्परा नहीं थी। वहाँ का सामाजिक जीवन विशृंखलित था। अतः हर परिवार मनोरंजनार्थ अपने दिनभर के आखेटादि जैसे कार्यों का भद्दा प्रदर्शन भेड़-बकरों की खालें ओढ़कर ही करने योग्य था। किसी भी प्रकार से निम्न-कोटि का मनोरंजन प्राप्त करने का साधन उनका नाट्यअभिनय था। अतः, कालान्तर में, विकसित होते हुए नाट्य-शिल्प में तत्कालीन संकलन-त्रय का विधान उसी प्रकार से स्वीकृत न हुआ और न वह लागू रह सका। आज संकलन-त्रय के विषय में आचार्यों की धारणा का परिवर्तित पहलू यह है कि वे उसे नाटक के अनुरूप, किसी निश्चित समय, कार्य और स्थल के समन्वय का पर्यायवाची मानते हैं। तात्पर्य यह है कि अब संकलन-त्रय उस नाट्य-विधान का नाम समझा जाता है जिससे नाटक की कथावस्तु और उसका व्यापार निश्चित समय और कार्य की एकता के अनुरूप हो। दूसरे शब्दों में नाटक का अभिनय, कथावस्तु, कार्यव्यापार, देशकालगत वातावरण की दृष्टि से पूर्णतः सफल ठहरे। उसमें कहीं कोई अतिक्रम या अव्यवस्था दिखलाई न पड़े। संकलन-त्रय क्या, हमारे यहाँ का भारतीय नाट्य-विधान अपने आप में ही इतना पूर्ण है कि उसमें संकलन-त्रय स्वतः अर्न्तभूत रहता है।

उद्देश्य या रस

नाटक रचना का उद्देश्य क्या है, इसके प्रति पाश्चात्य एवं पूर्वीय मनीषियों का दृष्टिकोण, सामाजिक और साहित्यक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए, भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। विदेशी आचार्य मूलतः नाटक-रचना का उद्देश्य उसके द्वारा सामाजिक यथार्थ स्थिति का चित्रण करना मानते हैं। जीवन के हर पहलू का—विशेषतः दुखान्त घटना का—प्रभावशाली चित्रण करना ही वह नाटक रचना का मुख्य ध्येय मानते हैं। अर्न्तजगत की सद्-असद् प्रवृत्तियों और संस्कारों का घात-प्रतिघात नाटक के अभिनय में उतार कर रख देना ही उनके नाट्य-उद्देश्य की सफलता है। किन्तु इसके विपरीत भारतीय आचार्यों ने नाटक-रचना का एक मात्र उद्देश्य "**रसाभिव्यक्ति या रसानुभूति**" कराना माना है। हमारे आचार्यों ने नाटक को समाज के आचार-विचारों को स्वच्छ बनाने वाले दर्पण के रूप में देखा है। नाटक-रचना के उद्देश्य की महत्ता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने उसे पंचम वेद तक कह दिया है। जहाँ उसके कलापक्ष या रसपक्ष की श्रेष्ठता में उन्होंने "**काव्येषु नाटकं रम्यम्**" कहा है, वहाँ उसकी उपदेयता के पक्ष में यहाँ तक कहा है—

"न संयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृष्यते।
सर्वं शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानिच॥"

हमारे यहाँ नाटक को जाग्रत, पुनीत जीवन का "**रूपक**" माना गया है। उसमें

सारी कलाएँ, सारे शास्त्र और सारे कर्म समाहित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय नाट्य-रचना का उद्देश्य ऐहिक जीवन का ही अभिनय मात्र प्रस्तुत करना नहीं, उसका उद्देश्य समुन्नत जीवन के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का आलोक बिखेरना है। और उसी आलोक में दिव्य-जीवन का 'रस' या आनन्दामृत प्राप्य कहा गया है। संक्षेप में, जहाँ तक विदेशी नाट्य-सर्जन का उद्देश्य जीवन की व्याख्या-समस्त है, वह ठीक है। किन्तु जीवन की व्याख्या में जो मनुष्य की जघन्यताओं और निर्बलताओं का पक्ष है उसका उद्घाटन श्रेयस्कार नहीं। वरन्, उसके स्थान पर जीवन के आलोकित-पक्ष का उद्घाटन ही कल्याणकारी है। हमारे यहाँ जीवन के आलोकित-पक्ष को ध्यान में रखकर ही जीवन की व्याख्या नाटकों में प्रगट हुई है। रसों, विभावों, अनुभावों और संचारीभावों के माध्यम से भारतीय आचार्यों ने नाट्य-उद्देश्य की गम्भीर विवेचना की है। यह ठीक है कि आदर्शवादी देश और दृष्टिकोण होनेके कारण हमारे प्राचीन भारतीय नाटककारों ने अपने नाटकों में अभिजात्य अथवा उच्च, आदर्श-वर्गके जीवन का 'रूपक' ही प्रस्तुत किया है जिससे उनका दर्शन (Virin) आज के जैसे सामान्य वर्ग के जीवन-संघर्ष से बहुत दूर पड़ गया है और साथ ही उसमें भौतिक जगत की अनिवार्य आवश्यकताओं का आकलन भी नहीं हो सका है किन्तु इसकी वजह उस समय की नैसर्गिक शाँतिपूर्ण, सुखमय स्थितियाँ भी रही होंगी। पर आधुनिक हिंदी-नाटकों में इस कमी की पूर्ति होती दिखलाई पड़ती है। इसी क्रम में यह भी जान लेना होगा कि विदेश में विशेषतः तो दुखान्त-और प्रायः सुखान्त नाटकों का वर्गीकृत सर्जनात्मक दृष्टिकोण किस लिये बना और इसके विपरीत हमारे प्राचीन भारतीक नाट्य-सृजन में सुखान्तता अथवा रसानन्द की ही अभिव्यक्ति क्यों प्रधान रही। बात यह है कि विदेशों में नाटकीय परम्परा का छोर यूनान और रोम की परम्परा से बंधा रहा। यूनान यद्यपि रोम के आधीन हुआ किंतु कहाँ की साँस्कृतिक चेतना रोम के ऊपर आच्छादित हुई। प्रारम्भ में यूनानी नाटकों का सृजन धार्मिक कृत्यों-उपलक्षों के अन्तर्गत हुआ। प्राचीन धार्मिक मान्यताएँ, विशेषतः मानव के भय और कल्याण कीं, द्वंद्वात्मक प्रवृतिजनित थीं। डाइयोनिसस (Deonyses) देवता के भय और आघात को शमन करने के लिये और उसकी खुशी के लिए भोले-भाले वहाँ के लोग वर्षारम्भ में नाच-नाचकर वीभत्स भाव-मुद्रा द्वारा रात-रात भर गीत गाया करते थे। मृत्यु की भयानकता के कारण उन लोगों से करुणा-भय के गम्भीर भावों का प्रस्फुटन प्रभावशाली होता था। और जब इस प्रकार वह अपने काल-देवता के प्रसन्न हो जाने की अनुभूति पा लेते थे तब वे सुखान्त नाट्य-नृत्य-गीत-उत्सव भी मनाते थे। इस प्रकार प्रारम्भ में विदेशी नाटकों और उनके अभिनय का सूत्रपात हुआ। यूनान से रोम और रोम से सारे योरोप में यह परम्परा बढ़ती गई। आगे चलकर पादरियों के धार्मिक प्रभाव से भी इस प्रकार के नाटकों का प्रसार बढ़ा। आगे चलकर शेक्सपीपर ने इस प्रकार के

नाटकों से कुछ आगे बढ़कर काम किया। किन्तु Tragedy, Terror, Mist तथा Miracle आदि के तत्व बराबर रहे ही जिनका बहिष्कार रेनेसांस एवं रोमांटिक युग में हुआ। विवेक युग में यह परम्परा जर्जर हो चली और इब्सन,तथा शा आदि के द्वारा एक नई जीवित-जाग्रत-स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात्र हम विदेशी नाट्य-सृजन में पाते हैं। भारत में प्राचीन संस्कृत के नाटक दुखान्त नहीं रहे। कारण यह था कि हमारे यहाँ मानव जीवन को ईश्वर का अमित वरदान माना गया है। यदि उसके कर्म अच्छे हैं, उसका चलन अच्छा है, तो दुःख कहाँ ? जीवन का दुःख कर्म-पतित होने का प्रमाण है। महान् पुरुष घटनाओं और दुर्भाग्य (Nemisis) से प्रभावित नहीं होते। उससे साहस के साथ संघर्ष करते हैं और लोक-समाज को निश्रेयस की विजय का आदर्श-पाठ पढ़ाते हैं। एहिक जीवन की समस्याएँ हमारे यहाँ तुच्छ मानी गई हैं। उसके साथ पारलौकिक तत्वों का ही मूल्य महान् है। महारे यहाँ **"तमसोमा ज्योतिर्गमय"** को जीवन का महामंत्र माना गया है। ऐसी दशा में दुःख की एकांत सत्ता का नाटक में किस भाँति प्रतिपादन या अभिव्यंजन होता ? कुछ इन्हीं धारणाओं से संस्कृत के नाट्यकारों ने अपने नाटकों को दुखान्त होने से बचाया। आदर्श रूप में यह बात शुभ कही जायगी। किन्तु नाटकीय दृष्टि से इस बात ने कुछ शैथिल्य भी पैदा किया। वह यह कि सामान्य जीवन के घात-प्रतिघात, उलझी हुई समस्याओं का समाधान और वास्तविकता का उद्घाटन यहाँ के नाटकों में न हो सका। वे सांस्कृतिकता के स्वयं ज्योति-स्तंभ बनकर ही रह गये। जीवन के तले के अन्धकार को वह दिग्दर्शित न कर सके। किन्तु आधुनिक काल में यह कमी पूरी हो रही है और लगता है कि बहुत शीघ्र ही हमारे यहाँ के नाटक भी पश्चात्य नाटकों की तरह जीवन-जगत की वास्तविकताओं को श्रेष्ठ रूप में प्रकट करेंगे और उनमें वह तत्व भी समाहित रहेंगे जो भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति को अमरता दिये रहे हैं— वह तत्व हैं, पावन जीवन के तत्व, महानन्द के तत्व, महासंकल्प के तत्व !

अभिनय

नाटकीय सृष्टि के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने अपने **'नाट्य शास्त्र'** में **'अभिनय'** को नाटक का एक विशेष तत्व माना है। वस्तुतः जब हम **'रूपक'** अथवा 'नाटक' शब्द के अर्थ को समझते हैं तभी उसकी अभिनयात्मक अनिवार्यता हमें सहज ही ज्ञात हो जाती है। अँग्रेजी के 'प्ले' या 'ड्रामा' शब्द से भी नाटक के अभिनयमय होने का सीधा या तिरछा बोध हमें अनिवार्यतः होता है। रूपक, नाटक, प्ले या ड्रामा कहने से यह साफ प्रतीत होता है कि रूपक रचने की महत्ता इसी में है कि विचित्र आकृति का प्रदर्शन हो, नाटक का प्रादुर्भाव **'नट्'** धातु से हुआ जिससे यह सहज बोध होता है कि किसी अनोखी कला का प्रेषण होगा, प्ले का अर्थ भी किसी मनोरंजक खेल-क्रीड़ा के प्रदर्शन

के साथ जुड़ा है। और हो न हो, ड्रामा शब्द की व्युत्पत्ति भी कभी ढोल (Drum) बजाने, उछलने-कूदने आदि के प्रदर्शन के फलस्वरूप ही हुई हो। पर इतना तो अवश्य है कि नाटक के साथ अभिनय का अन्तरंग और बहिरंग सम्बन्ध सूक्ष्मतः माना गया है, और है। इसी तथ्य की पुष्टि के लिये सम्भवतः 'नाट्य शास्त्रकार' ने लिखा है—

"आंगिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्विकस्तथा।
ज्ञेयसावभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः॥"

यों अभिनय के चार अंग हुए—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

१ **आङ्गिक**—नाटक के पात्र किसी विशेष अभिव्यक्ति के प्रदर्शन के हेतु शारीरिक चेष्टाएँ करते हैं, इसीका नाम आङ्गिक अभिनय है। हँसना, मुँह चिढ़ाना, हाथ-पाँव पीटना आदि आङ्गिक अभिनय के ही प्रकार हैं।

२. **वाचिक**—वाचिक अभिनय से मतलब है किसी आंतरिक भाव को वाणी के द्वारा प्रदर्शन करना। जैसे-हे राजन्, हाय-हाय, ओ-हो-हो आदि। सम्बन्ध एवं विस्मयादिबोधक शब्दों का कहना, बोलना, टेरना आदि वाचिक अभिनयान्तर्गत हैं। वेद-पाठ, व्याकरण, छंद-शास्त्र तथा अन्य प्रकार के संगीतादि सम्बन्धी विषय इसी वाचिक अभिनय से सम्बधित हैं।

३. **आहार्य**—शारीरिक नाटकीय वेषभूषा सम्बन्धी प्रदर्शन आहार्य अभिनय के अन्तर्गत आता है। जाति, वर्ण, रंग-व्यवस्था, मुकुट, शाल-दुशाले, उत्तरीय तथा समुचित प्रदर्शनीय आभूषणों का विधान आहार्य अभिनय के अन्तर्गत ही आता है। जैसे हम राम को नाटक में जिस रामोचित वेष-भूषा में देखेंगे—उनका मुकुट, धनुष-बाण, उनके वस्त्र अलंकारादि—वह सब आहार्य अभिनय के उपकरण होगे और उनका प्रस्तुत प्रदर्शन कहलाएगा आहार्य अभिनय।

४. **सात्विक**—सात्विक अभिनय एकमात्र विशुद्ध भावों के प्रदर्शन का कारण कहा जायगा। वाचिक या आङ्गिक अभिनय में तो कुछ कृत्रिमता होती है किन्तु सात्विक अभिनय में स्वाभाविकता ही महत्वपूर्ण होती है। विशेष परिस्थिति एवं वातावरण के प्रभावस्वरूप जो स्वेद, रोमांच, कम्प, अश्रु पात्रों के प्रकट होते हैं वे स्वभाव-जन्य प्रतीत होते हैं। और वास्तव में इस प्रदर्शन का प्रभाव भी दर्शकों और सामाजिकों पर पूरा पड़ता है, वे रसमय होते हैं। एक प्रकार से नाटकीय अभिनय में इस तत्व की निपुणता का अर्थ है नाटक को अधिक से अधिक साधारणीकृत बनाना, रस की सृष्टि के अनुकूल सामर्थ्यवान बनाना। सफल पात्रों का परिचय भी सात्विक अभिनय के द्वारा ही प्राप्त होता है।

रंगमंच

नाटक का व्यापक सम्बन्ध अभिनय से है और अभिनय के लिये जिस उचित

स्थान का स्थापन अथवा चुनाव किया जाता है उसका नाम 'रंगमंच' है। हमारे यहाँ नाट्य-सृष्टि के पहले आचार्य भरत ने अपने नाटय-शास्त्र ग्रंथ में रंगमंचीय विशेषता और उपयुक्तता को ध्यान में रखते हुए नाट्यशालाओं का वर्गीकरण किया है।

यह तीन प्रकार का है—

१. **व्यस्त**—यह त्रिकोणाकार रंगमंच होता है। यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना गया। इसमें मामूली कोटि का अभिनय एवं कुछ सामान्य लोगों के निमित्त प्रदर्शन ही अभीष्ट होता है।

२. **विकृष्ट**—इस रंगमंच का स्थापन महत्वपूर्ण है। इसकी लम्बाई, चौड़ाई से दुगनी होती है। इसके तीन भाग बतलाए गए हैं—नेपथ्य, रंगशीर्ष और रंगपीठ। रंगमंच पर जिन घटनाओं को न दिखाकर सूचित भर किया जाता है वह स्थान कहलाता है नेपथ्य, अर्थात् परदे के पीछे का भाग। नेपथ्य के पास का सजा-धजा, अभिनय की सामिग्री से पूर्ण भाग रंगशीर्ष कहलाता है। यहाँ पात्रों का बनाव-शृंगार सम्पादित किया जाता है। रंगशीर्ष के आगे का भाग होता है रंगपीठ और यही नाटक के अभिनय का, जनता के रस लेने का प्रमुख भाग है। इसे अंग्रेजी में 'स्टेज' कहा जाता है।

चतुरस्र—इस नाट्यग्रह की लम्बाई-चौड़ाई समान होती है और यह वर्गाकार ढंग का बना होता है। इसका महत्व बड़े पैमाने पर है। किन्तु सामान्यतः इस प्रेक्षाग्रह का उपयोग नगण्य ही कहा जायगा।

रंगमंच को अधिक उत्तम, आकर्षक एवं उपयोगी बनाने के लिये अनेकानेक उपकरणों-प्रसाधनों का संग्रह भी वांछित होता है, जिसकी व्यवस्था अनिवार्य होती है। वास्तव में रंगमंच की उत्तमता-उपयोगिता नाटक के अभिनय को प्रभावशाली बनाने के लिए ही अनिवार्य है। बिना अभिनय की उत्कृष्टता के नाटक रस-सिद्धान्त की दृष्टि से निम्नकोटि का ही कहा जायगा। हिंदी के नाट्य-सृजन में सफलता का जो अभाव रहा है उसका कारण रंगमंचीय शैथिल्य है। इसी कारण 'प्रसाद' के श्रेष्ठ नाटक भी अबतक अपना उच्चपद पाने में असमर्थ रहे हैं। यदि हिन्दी के रंगमंच का विकास हो तो नाटकीय सृष्टि में अभिनयात्मक तत्वों का शनैः-शनै सामाहार होता जायगा और हिन्दी-साहित्य के लिए यह एक शुभ बात होगी। वैसे आज हमारे देश में अनेक बड़ी-बड़ी साहित्यिक संस्थाएँ काम कर रही हैं। यदि वे चाहें और हिन्दी रंगमंच की ओर समुचित ध्यान दें तो निश्चय सफलता मिल सकती है। बहुत पूर्व, पारसी कम्पनियों के रंगमंच का यहाँ खूब बोलबाला था। चाहे कैसी भी भावना से क्यों न हुआ किन्तु लगन के परिणाम स्वरूप पारसी कम्पनियों का रंगमंच उत्तम रहा यद्यपि उनके नाटकों में सद्-साहित्यिकता का पूरी तरह अभाव रहा। इन कम्पनियों

का उद्देश्य व्यवसाय था। अतः, रंगमंचीय कला का विशुद्धरूप न निखर सका, वह अस्वभाविक रहा। इधर कुछ धार्मिक सभा-संस्थाओं में रंगमंच के साधन जुटे किन्तु वह उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों के अनुकूल नहीं कहे जा सकते। सिने-जगत ने यद्यपि कोई नाटकीय रंगमंच का निर्माण नहीं किया तथापि उसे देखकर हम रंगमंच निर्माण करने की तकनीक सीख सकते हैं। सिनेमा जगत की यह देन यदि हम स्वीकार करें और उस पर चलें तो निश्चय ही हिंदी नाटकों के अनुकूल रंगमंच का निर्माण किया जा सकता है। संक्षेप में, आज देश की सरकार शिक्षा-संस्थाओं और साहित्यक—सांस्कृतिक संस्थाओं को मिलकर हिंदी रंगमंच के निर्माण का कार्य सम्पादन करना चाहिये, इसी में श्रेय है।

वृत्तियां

नाटक का अभीष्ट है रसानुभूति कराना। समस्त नाटकीय विधान इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए रचाया जाता है। नाटक की रस-गति-विधि विषयक बातें **'वृत्तियाँ'** कहलाती हैं। रस का सम्बन्ध वृत्तियों से घनिष्ट बतलाया गया है—

'शृङ्गारे कौशिकी वीरे सत्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्र च वीभत्से, वृत्ति सर्वत्र भारती ॥"

अर्थात्, शृङ्गार रस में कौशकी, वीर रस में सात्वती, आरभटी रौद्र और वीभत्स रस में। किन्तु सभी रसों में भारती वृत्ति का प्रयोग होता है। पात्रों की चेष्टाएँ, उनकी वेशभूषा, कथावस्तु का चुनाव-विस्तार आदि इन्हीं के द्वारा नियोजित एवं संचालित होता है। और फिर होती है अभीष्ट इष्ट की सिद्धि—रसनिष्पत्ति ! इसी महत्व को ध्यान में रखते हुए भरत मुनि ने वृत्तियों को नाटक की माता कह दिया—**'एता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्य मातरः"**—ये वृत्तियाँ चार हैं—

१ **सात्वती वृत्ति**—यह वृत्ति बड़ी महत्वपूर्ण है। इसके अंतर्गत जीवन का वीरतत्व समाया होता है। दान, शोर्य, दया एवं दाक्षिण्य का भावरस प्रदर्शन ही इसका ध्येय है। वीर एवं अद्भुत रस का इसी में परिपाक विशेष होता है। उसी के अनुकूल नाटक के पात्र, अभिनय और कथावस्तु का विधान रचा होता है।

२ **कौशिकी वृत्ति**—शृङ्गार रसराज की महत्ता का प्रदर्शन इसी वृत्ति के गर्भ से होता है। नृत्य, गीत हास-विलास के उपकरण इसी वृत्ति के अंतर्गत जुट जाते हैं। पात्र, कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, अभिनय आदि का कोमल विधान कौशिकी वृत्ति के अंतर्गत ही सम्पादित होता है। स्त्री पात्रों की प्रधानता होती है।

३ **आरभटी वृत्ति**—अद्भुत एवं रौद्र रस के उपकरण, पात्र, चरित्र-चित्रण, अभिनय, कथावस्तु, वेशभूषा वातावरण आदि का विधान इसी वृत्ति के अंतर्गत होता है। कौतूहल, संघर्ष, छल-छद्म आदि का प्रदर्शन ही इसमें प्रधान होता है।

४ **भारती वृत्ति**—नाटक के सभी रसों के लिए इस वृत्ति का उपयोग कहा गया है। विशेषतः यह पुरुषपात्रों से सम्बन्धित है, स्त्रियों का इसमें निषेध है। वीभत्स अद्भुत और करुणरस के लिए यह विशेष महत्वपूर्ण है। नाटक में जो आरम्भिक कार्य-आयोजन होते हैं उनका सम्बन्ध इस वृत्ति से जुड़ा होता है। संस्कृत वाणी प्रधान होती है।

यों इन चारों वृत्तियों की नाटक में प्रधानता इसलिए निर्धारित की गई ताकि नाटकीय सृजन में एक व्यवस्थित दृष्टि बनी रह सके और उसके अभीष्ट तथा अभिनय का सुलझा हुआ मानदण्ठ नाटककार के दिमाग में चढ़ा रहे। इन वृत्तियों का विधान कहा गया है कि मधुकैटभ से युद्ध करते हुए विष्णु द्वारा स्थापित हुआ है। उद्भट आदि आचार्यों ने न्यायवृत्ति, फलसंविति, अन्यायवृत्ति आदि का विधान-विभाजन भी किया है। किंतु प्रमुख ऊपर की चार ही हैं।

रूपक : उपरूपक

हमारे यहाँ 'नाट्य' शब्द ही व्यापक रहा है। फिर उससे गौण रूपक और रूपकों से भी गौण है नाटक। 'नाटक', जिसे आज हम साहित्यिक विशेष विधा मानते-समझते हैं वह तो 'नाट्य' या 'रूपक' का ही एक भेद मात्र है। 'नाट्य' को हमारे यहाँ इतना व्यापक और विशिष्ट माना गया है कि उसे 'शास्त्र' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। नाट्य-शास्त्राकार ने 'नाट्य' के अंतर्गत दो भेद निर्धारित किये—१—**रूपक**, २—**उपरूपक**। इनमें भी रूपकों के १० भेद हैं जिनमें 'नाटक' प्रथम और प्रधान है, बाकी गौण। उपरूपकों के १८ भेद हैं जिनका आज या पूर्वकाल में भी कोई स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित न हो सका।

दस रूपक ये हैं—

१. **नाटक**—यह आज व्यापक अर्थ में नाटकीय सृष्टि के लिये मान्य है। इसे आज हम सम्पूर्ण नाट्य सृष्टि का विधायक कह सकते हैं। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक किंवा पौराणिक होती है। पांच अंक होते हैं। इसमें चार वृत्तियां, पांच संधियां, धीरोदात्त नायक और शृंगार, वीर या करुण रस प्रधान होते हैं। शकुन्तला ऐसा ही नाटक है। किन्तु यह ध्यान रखने वाली बात है कि आज के नाटक या Drama शास्त्रीय ढँग से निर्धारित साँचों के अनुसार नहीं लिखे जा रहे। लिखे भी नहीं जा सकते। क्योंकि आज का युग, वातावरण, समस्याएँ, जीवन की मान्यताएँ और घटनाओं के मूल्य-मोड़ बदल चुके हैं। नवीन दृष्टिकोण पुरानी परिभाषाओं-परम्पराओं के सर्वथा अनुरूप चल नहीं सकता। उसे नए साँचे चाहियें, नई कसौटी चाहियें। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि प्राचीन सिद्धान्त अनर्गल है। हाँ, उनमें नवीनता को भी जोड़ना होगा।

२. **प्रकरण**—इसका विधान भी 'नाटक' जैसा ही होता है। किन्तु इसकी कथा-वस्तु कल्पित एवं प्रधान रस शृंगार ही होता है। नायक प्रायः ब्राह्मण, वैश्य या मन्त्री होगा और वह होगा धीरललित या धीरप्रशान्त। 'मृच्छकटिक' ऐसा ही नाटक है।

३. **भाण**—यह हास्य रस प्रधान होता है। इसकी कथा कल्पित एवं उसमें एक ही पात्र की प्रधानता होती है। इसमें आकाशोन्मुख कथन होता है। यह 'भेद' कुछ आधुनिक एकांकी नाटकों के कोटि का कहा जा सकता है। भारतेन्दु जी का "विषस्य-विषमौषधम्" नाटक 'भाण' रूपक है।

४. **व्यायोग**—इसमें एक अंक और केवल एक ही प्रधान कथा होती है जो इतिहास एवं पुराण सम्मत हुआ करती है। पुरुष पात्र प्रधान होते हैं, स्त्री चरित्र नगण्य। वीर रस प्रधान एवं रौद्र गौण होता है। भारतेन्दु रचित **'धनञ्जय विजय'** नाटक इसका उदाहरण है?

५. **वीथी**—**'लीला मधुकर' 'वीथी'** रूपक का उदाहरण है। इसका कथानक कल्पित होता है और इसमें व्यायोग की भाँति एक अंक होता है। किन्तु पात्र दो भी हो सकते हैं। रस शृंगार प्रधान होता है, वीर समकक्षी।

६. **समवकार**—इसका कथानक इतिहास सम्मत होता है तथा तीन अंक में यह विभाजित होता है। इसमें शृंगार रस प्रधान होता है तथा बारह नायक रहते हैं। देव-दानव का संघर्ष दिखाना कथानक का अभीष्ट होता है किन्तु विजय देवों की ही दिखलाना शुभ माना जाता है। वैसे हर प्रकार का नायक अपने कृत्य के अनुकूल फल-कुफल प्राप्त करता है। इस प्रकार का भास रचित **'पंचरात्र'** रूपक कहा जा सकता है।

७. **प्रहसन**—यह प्रसिद्ध हास्य रस प्रधान रूपक होता है। **'भाण'** एवं 'प्रहसन' की बहुत अंशों में साम्यता रहती है। इसके भी तीन भेद हैं—शुद्ध प्रहसन, विकृत प्रहसन, और संकर प्रहसन। इस नाटक का उद्देश्य व्यंग्य-हास्य द्वारा किसी सामाजिक-धार्मिक आदि अनीति-परम्परा पर कुठाराघात करना होता है। इसमें एक ही अंक होता है। इसे हम आधुनिक एकांकी नाटकों का पूर्व रूप कह सकते हैं और यह भी कह सकते हैं कि एकांकी नाटक हमारे यहाँ विदेशी देन नहीं। हमारे यहाँ भी पहले इसी प्रकार के नाटक लिखने की अपने ढंग की परम्परा थी। भारतेन्दु के बहुत पूर्व लिखे **'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति'** एवं **'अन्धेर नगरी'** प्रहसन इसका प्रमाण है।

८. **अङ्क**—इसकी कथा सामान्यतः इतिहास प्रसिद्ध होती है। एक अंक एवं करुण रस प्रधान होता है। किंतु वीर एवं रौद्र रस का भी समावेश होता है। 'शर्मिष्ठा-ययाति', रूपक इसी भाँति का है।

९. ईहामृग—इस रूपक का कोई उदाहरण तो उपलब्ध नहीं किन्तु इसमें कोई जन-प्रचलित किवां ऐतिहासिक कथा का आधार होता है। अंक चार होते हैं। नायक-प्रतिनायक के पारस्परिक संघर्ष के मध्य से कथानक उठान पाता है। इस प्रकार के से प्ले विदेशों में लिखे देखे जाते हैं जिनमें करुणा एवं भय (Terror and pity) के भाव प्रधान होते हैं। वीर एवं करुण रस प्रधानता से अनुभव होते हैं।

१०. डिम—यह रौद्र रस प्रधान रूपक होता है। अद्भुत रस भी गौण रूप में विद्यमान हुआ लगता है। इसमें सभी टाइप के—छली, दैव, प्रेत, मानव आदि—पात्र होते हैं। किंतु नायक उच्च कोटि का होता है। कौतूहल, रहस्यादिबोधक वातावरण की सृष्टि इस रूप में खूब हुई मिलती है। चार अंक होते हैं।

उपरूपक—इनकी संख्या १८ है। उपरूपक के भेदों का विषय आलोचना के उपयुक्त नहीं। अतः यहाँ उनके नाम ही जान लेना पर्याप्त होगा—१. नाटिका। २. गोष्ठि। ३. त्रोटक। ४. सट्टक। ५. काव्य। ६. प्रेङ्खण। ७. रासक। ८. उल्लाप्य। ९. संलापक। १०. श्रीगदित। ११. नाट्यरसिक। १२. शिल्पक। १३. दुर्मल्लिका। १४. विलासिका। १५. हल्लीश। १६. प्रकरणिका। १७. भणिका। १८. प्रस्थानक।

एकांकी

हिंदी में एकांकी नाटक लिखने की कला नवीन है गो कि संस्कृत साहित्य में अंक, भाण, व्यायोग, प्रहसन आदि रूपक के भेद आधुनिक एकांकी नाटकों से थोड़ा-बहुत साम्य रखते प्रतीत होते हैं। किंतु जिसे हम आज सफल श्रेणी का एकांकी कहते हैं उसका शिल्पविधान पाश्चात्य प्रभाव और परिणाम का द्योतक है। आधुनिक एकांकियों में भाण, व्यायोग, प्रहसन और अंक आदि के अंग, रस, पात्र और सन्धियों का उपयोग नहीं देखा जाता। एकांकी नाटक की कथावस्तु अनिवार्यतः न तो परम्परागत होनी चाहिये न ऐतिहासिक न काल्पनिक वरन् उसे तो जीवन या समाज में जो कुछ घटनामय कहने को है, उसी के अनुरूप व्यक्त होना होता है। एक अंक में, कम से कम पात्रों में, कम से कम शब्दों में और अधिक से अधिक प्रभाव को व्यक्त करने में जो एकांकी सफल हैं, वह सफल हैं। बड़े नाटकों का विधान बड़ा होता है। एकांकी नाटकों का विधान साधारण होता है। किंतु बड़े नाटक में विवरण-प्रदर्शन और आयोजन अतिरिक्त रूप में भी खप सकता है किंतु एकांकी में ऐसी माँफी नहीं। वह एकांकीकार की भारी असफलता कहलाती है। वास्तव में एकांकीकार को नाटककार से अधिक शिल्प-सिद्ध होना चाहिये और अधिक सूक्ष्म दृष्टा भी! एकाकी नाटकों में उपकरणात्मक संकेत, सजावट, पात्र, स्थान, काल, प्रवेश, स्थिति आदि का परिचय निपुणता से देना होता है। इसके अभाव में एकांकी का सुन्दर

अभिनय सम्भव नहीं। एकांकी नाटकों की सबसे अधिक साधनीय-रीति है उसकी संवाद-शैली। एकांकी के संवाद भाषा की दृष्टि से जनोपयोगी, प्रभाव की दृष्टि से सूक्ष्म और उद्देश्य सिद्धि की दृष्टि से पैने होने चाहिए। बड़े नाटकों की भाँति यदि एकांकी का एक भी संवाद अंश बड़ा हो गया तो एकांकी की सामर्थ्य समाप्त हो जायगी। एकांकी नाटक का बड़े नाटकों की तुलना में वही स्थान होता है जैसा उपन्यास की तुलना में लघु कहानी का। कहानी में कौतुहल और चमत्कार जिस प्रकार तीव्र होता है इसी प्रकार एकांकी में भी होना चाहिये। इसके लिये एकांकीकार को बड़ा विचारक और मननशील होना होता है। जब उसका प्रत्येक शब्द चमत्कारमय होगा, प्रत्येक पंक्ति प्रभावशाली होगी, प्रत्येक पात्र दर्शक-सामाजिक का संगी होगा और उसकी प्रतिपाद्य घटना बिजली की तरह उसके मन से स्पर्श होगी--तभी किसी एकांकी का महत्व होगा। संकलन-त्रय का ध्यान रखना एकांकी लिखने वाले को अनिवार्य होता है। एकांकी की कथा सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, काल्पनिक, ऐतिहासिक आदि सभी प्रकार की हो सकती है। किंतु एकांकीकार की वैयक्तिक मनीषा का प्रकाश होना आवश्यक है।

निस्संदेह आधुनिक हिंदी एकांकी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि उसमें हमारी कुछ भी देन या मौलिकता नहीं है। रस, कथावस्तु पात्र आदि उपकरणों में हमारी सांस्कृतिक चेतना विद्यमान मिलती है।

एकांकी नाटकों का आज हमारे यहाँ खूब प्रचलन है। इन नाटकों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इनमें कम समय, कम साधन और कम संलापादि के द्वारा मनोरन्जन एवं किसी प्रकार की जनशिक्षा का भी उद्देश्य सम्पादन सुचारुता से हो जाता है। हमारे हिंदी में एकांकी लिखने की परम्परा भारतेन्दु द्वारा कुछ बनी। किंतु भारतेन्दु और उनसे आगे के लेखकों के एकांकी रंगमंच के अनुकूल कम रहे। उनमें संस्कृत के प्रहसन, भाण आदि रूपकों के तत्व ही अधिक हैं। उदाहरण के लिए भारतेन्दु का 'विषस्य विषमौषधम्',माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' आदि। किंतु प्रसाद का 'एकघूंट' नाटक एकांकी शिल्प की दृष्टि से सफल कहलाई जाने योग्य पहली कृति है। फिर रामकुमार वर्मा ने तो हिंदी एकांकी नाटकों की शिल्प-श्रीवृद्धि में उत्कृष्ट कोटि का योगदान दिया। श्री जगदीशचंद्रजी माथुर आधुनिक एकांकीकारों में उच्चकोटि का स्थान रखते हैं। उन्होंने जैसे एकांकी नाटकों का प्रणयन किया है वह अपने शिल्प-विधान में अनूठे हैं और उनमें प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा आधुनिक प्रगति भावना का समन्वित भाव-दर्शन है। निस्संदेह उनकी देन आधुनिक हिंदी एकांकी जगत को एक वरदान है जो युगों तक आनेवाली एकांकी

कारों की पीढ़ी को दिशा-दर्शित करती रहेगी। गत एक युग से हिंदी एकांकी सृजन की आशातीत प्रगति देखने को मिली है। सर्व श्री हरिकृष्ण प्रेमी, भुवनेश्वर प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, देवराज दिनेश, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि एकांकीकारों ने इस ओर अमूल्य योगदान दिया है। इधर इन एकांकियों के प्रदर्शन और उन्नयन को व्यापक बनाने के लिए कालिजों, साहित्यिक संस्थाओं एवं रेडियो विभाग ने काफी सहयोग दिया है। उसके अनुकूल रंगमंच भी स्थापित हो रहे हैं, यह शुभ बात है।

हिंदी आधुनिक एकांकी नाटकों पर पाश्चात्य नाटककार इब्सन फिर बर्नाडशा फिर गार्लसवर्दी का प्रभाव विशेष है। न केवल एकांकी वरन सम्पूर्ण आधुनिक भारतीय नाटक जगत में शायद इब्सन और उनके अनुयायी विदेशी लेखकों का प्रभाव पड़ा हुआ है। यह कला की दृष्टिसे शुभ है। किंतु सांस्कृतिक दृष्टि से प्रतिकूल भी है। आधुनिक नाटक विशेषतः जीवन की मूलप्रवृत्तियों एवं यथार्थ समस्याओं का चित्रण करते हैं। बेशक उनमें प्रभाव और शिल्प-साधन खूब है, किंतु 'रस' नहीं। विद्रोह भावना का इन नाटकों में प्राधान्य है, निर्माण चेतना कम। फिर भी स्वाभाविकता, युग की मान्यता एवं जीवन की अंतरिक अभिव्यक्ति इन नाटकों में सफलता पूर्वक हुई लगती है। इब्सन से पूर्व विदेश में भी एकांकी का यह रूप देखने को नहीं मिलता जैसा हम आज वहाँ-यहाँ देखते हैं। पहले ग्रीक फिर सारे योरोप भर में, मध्यकाल के अर्न्तगत-जिसका समय ४ वीं १५ वीं शताब्दी हैं,—एकांकी शैली से मिलते-जुलते भाव-नाटक लिखे गए। फिर १८ वीं शताब्दी में इसकी प्रगति कुछ अधिक हो गई। और एकांकी नाटकों का प्रदर्शन बड़े नाटकों से पूर्व करने की परम्परा-सी पड़ गई। तत्काल में जेकोबी का "बंदर का पंजा" एकांकी इतना जनप्रिय बना कि उससे यह सिद्ध हो गया कि एकांकी में बड़े नाटक की अपेक्षा अधिक मनोरंजन मिल सकता है। इस समय तक एकांकी लिखने का उद्देश्य केवल दर्शकों का नाटक से पूर्व खाली समय को मनोरंजन के साथ बिताना भी था। इब्सन एवं बर्नार्डशा ने एकांकी रचना-शिल्प उद्देश्य में एक क्रांति पैदा कर दी, उसे पूर्णतः जन-जीवन सम्मत बना दिया दिया। लोग उनसे प्रभावित हुए और कलान्तर में वह प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में लोकव्यापी हो गया। एकांकी नाटक को अधिक सफल बनाने के लिए अनेक सुधार अपनाए गए। जगह-जगह घूम-घूमकर प्रचार कार्य किया गया। फलतः आज बड़े नाटकों की तुलना में एकांकियों का महत्व व्यापक है। एकांकी में जन-समाज के महत्व और उसकी मान्यताओं का मूल्य साफ़ प्रकट होता है। जनता उसके इसी गुण पर आकर्षित है।

सिनेमा

आधुनिक युग में सिनेमा (टाकीज) का प्रचार व्यापक है। आज के जन-मनोरंजन का सर्वाधिक साधन सिनेमा है। सम्भवतः किसी भी युग और देश में 'नाटक' ही

क्या, कोई भी मनोरंजन का साधन इतना लोकप्रिय नहीं रहा जितना आज सिनेमा है। सिनेमा एक प्रकार का नाटक ही है। किन्तु वास्तविक नाटक की तुलना में उसका साफ़ अन्तर यही है कि जहाँ नाटक की कथावस्तु का चयन किसी विशेष सार्थकता पर आधारित होता है वहाँ सिनेमा की कथावस्तु का चयन प्रायः अर्थ-उपार्जन को ध्यान में रखते हुए केवल आम मनोरंजन के धरातल पर किया जाता है। जिसके फल-स्वरूप नाटक की कथावस्तु की भाँति यह किसी उच्च आदर्श की स्थापना में सफल नहीं हो पाता गोकि उसके लिए अब आवाज उठ रही है, पर देखें क्या होता है। इसके अतिरिक्त नाटक के पात्र, उसके संवाद, उसका रंगमंच, उसका भाषाशैली-विन्यास आदि का तात्विक संगठन सिनेमा की अपेक्षा कहीं अधिक साहित्यिक, कहीं अधिक सांस्कृतिक और कहीं अधिक रसात्मक होता है। किन्तु इतना होने पर भी नाटक का अभिनय सिनेमा की अपेक्षा कहीं शिथिल , और रहा है। सिनेमा के दृश्य, उसकी साज-सज्जा, उसका कथासंगत वातावरण, ये सब बातें नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक एवं सुचारु ढंग से नियोजित होती हैं। फिर अच्छे नाटक के अभिनय के लिए समय-साधन की आवश्यकता अधिक होती है। साथ ही उसके प्रति उच्चकोटि की सांस्कृतिक-सामाजिक जनता का तथा जन-मनका उसकी ओर ध्यान होना भी आवश्यक है जिसके प्रति कोई शुभ प्रगति अबतक नहीं रही। फिर नाटक की सम्पन्नताके लिए अच्छी-खासी अर्थ-व्यवस्था भी अनिवार्य है; और नाटककारों को भी उसके प्रति लगन और साधना करने की अवधि-सुविधा मिलनी अनिवार्य है। कुछ इन्हीं कारणों से नाटक की प्रगति वांछित रूप में नहीं हो सकी। दूसरी ओर सिनेमा का निर्माण, उसका प्रसार और उसका आयोजन व्यवस्थित, सम्पन्न कम्पनियों के अंतर्गत है। जनता और सरकार का सहयोग भी उसे प्राप्त है। इसके अतिरिक्त उसका जन-टेक्स भी पाँच आने से आरम्भ हो जाता है जिसे मामूली दरजे का व्यक्ति भी झेल सकता है और मजे में तीन घण्टे नृत्य, गीत, कथा का लुत्फ पर्दे की छायाओं से भोग सकता है। सिनेमा की भाषा, उसके वार्तालाप, उसकी घटनाएँ सरल एवं सुबोध होती हैं। कौतूहल और चमत्कार भी विद्यमान होता है। इन सब कारणों से आज सिनेमा की धूम है और नाटक ठप है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि जो वस्तु हम नाटक में पा सकते हैं और सिनेमा में नहीं, वह है वास्तविक 'रस' की अनुभूति! नाटक सजीव जीवन का सजीव पात्रों द्वारा अभिनय है जबकि सिनेमा देखते हुए बूदम-से-बूदम भी यह नहीं भुला सकता कि वह परछाईयाँ देख रहा है। 'राम' का सजीव अभिनय करने वाला पात्र स्वयं राम के आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु वैजयन्तीमाला में शकुंतला का चरित्र—मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक-कारणों के अनुकूल—सच्चाई से रसमय होकर खप जायागा और जिसे देखकर सामाजिक आत्मलीन हो जायेंगे, यह हर्गिज़ नहीं कहा जा सकता। यह नहीं कि सिनेमा के दृश्यों में मनको प्रभावित करने

वाला गुण न हो, वरन् उसमें मन से भी आगे आत्मा को अभिभूत करने वाला स्थाई गुण नहीं मिलता। वह गुण, जो नाटक में मिलना अवश्यमेव है। सिनेमा एक नशा है, नाटक अनुष्ठान हैं। नशा आम है, अनुष्ठान विशेष है।

रेडियो नाटक

रेडियो के प्रचार से 'रेडियो नाटक' का प्रसार भी खूब हुआ है। सिनेमा और नाटक अभिनय प्रधान होता है किन्तु रेडियो नाटक की विशेषता यह है कि ध्वनि-आधार पर उसके अभिनय की अनुभूति करादी जाती है। रेडियो नाटक एक प्रकार से श्रव्य-काव्य ही होता है। घटना, पात्र, समय, वेषभूषा, अनुभाव, भाव आदि का विधान और नाटकीय दृश्य-चित्र केवल संकेत से जतला दिये जाते हैं। विशुद्ध नाटकों की भाँति रेडियो नाटक पेचीदा नहीं होते। उनमें समय की पाबन्दी और साधन की कमी विशेष होती है। फिर भी विशुद्ध नाटक की भाँति रेडियो नाटक में मनोरंजन और आनन्द का पूर्ण प्राचुर्य नहीं होता। चूँकि रेडियो घर में ही सुना जा सकता है और नाटक देखने के लिए पूरा आयोजन, स्थान और समय लगाना आवश्यक है इसलिए रेडियो नाटक की अपूर्णता भी हमें उस में आनन्द लेने के लिए विवश करती है। रेडियो नाटक के अलावा रेडियो-रूपक भी आज खूब सुनने को मिलते हैं। इन्हें अंग्रेजी में Feature कहते हैं। यह कथोपकथन की एक-सूत्रता (Narration) पर चलते हैं। इनमें वाचिक चमत्कार और मनोरंजन खूब रहता है। फीचर में पात्र अधिक नहीं होते किंतु उनका रंगढंग, संवाद और व्यंग्य-हास-परिहास अनूठा होता है। रेडियो कलाकारों ने इस ओर सराहनीय काम किया है। श्री चिरंजीत, भारतभूषण अग्रवाल विष्णुप्रभाकर, दुष्यन्त कुमार, अश्क, उदयशंकर भट्ट, प्रभाकर माचवे राजेन्द्रकुमार शर्मा आदि ने रेडियो नाटक एवं रूपक लिखने में सराहनीय सफलता पाई है जिससे जनता की नाट्य वृत्ति विकसित हो रही है। होगी भी, यह कहा जा सकता है।

आधुनिक युग में भाव नाट्य-कृतियाँ भी लिखी जा रही हैं। उनकी रचना पद्यमें ही प्रायः होती है। इनका उपयोग भी अभिनय के अनुकूल नहीं केवल रेडियो में ध्वनि-संगति के अनुसार किया जाता है। इनमें भावावेश के सहारे कम से कम पात्र कथावस्तु का सम्पादन करते हैं। श्री सुमित्रानन्दन पंत की 'ज्योत्सना' इसी ढंग की सफल कृति है।

विशेष—'**हिन्दी गद्य के सोपान**' अध्याय में कालानुक्रम से हिन्दी-नाटक का विकास पठनीय है।

उपन्यास-विवेचन

परिभाषा

उपन्यास जीवन-जगत के किसी विचित्र घटनाक्रम का वह अलबम है जिसका प्रति-पन्ना खोलते हुए हमें उन सजीव चित्रों का परिचय मिलता है जो हमसे अपने चरित्र की आप व्याख्या करते प्रतीत होते हैं।

परिचय सचमुच, उपन्यास में जो कुछ सत्य है, वह कौतुहलमय है, कलात्मक है, कल्पनाजन्य है। किन्तु वह हमें छूता है, अभिभूत करता है, किसी ओर प्रेरित करता है। मु० प्रेमचंद ने उपन्यास की जो ये परिभाषा की कि **"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझता हूँ। भाव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसको खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"**—वास्तव में, यह परिभाषा उपन्यास क्या है, इसी की नहीं, वरन् उसके रचात्मक उद्देश्य की है—विशेषतः प्रेमचन्द जी की। डा० श्यामसुन्दरदास जी ने कहा कि **"उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"** यह परिभाषा भी उपन्यास क्या है, इसकी परिभाषा में इस लिए अपूर्ण है क्योंकि वास्तविक जीवन की काल्पनिक-कथा का कोई महत्व या अर्थ प्रतिपादित नहीं होता। जीवन तो ठोस अर्थ-आधार पर अपनी महत्ता रखता है, हवा में नहीं। उपन्यास क्या है, इसके लिए बाबू गुलाबराय जी की ये परिभाषा-अर्थपूर्ण और स्मरणीय है—

"उपन्यास कार्य-कारण शृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।"

सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि उपन्यास वह रचना है जिसे कोई लेखक उस ढंग से लिखता है जिस ढँग से वह जीवन और समाज के किसी विशेष पहलू को देख-समझ पाता है। जीवन में बहुत कुछ टूटा-फूटा भी है, कुछ अनकहना भी है, कुछ अस्पष्ट भी है। इसके लिये उपन्यासकार कल्पना का सहयोग लेता है, उसके द्वारा वह उपन्यास के कथानक को पूर्ण करता है। इस प्रकार कल्पना से यथार्थ को सुन्दर बनाना उसे पूर्णता देना, उपन्यासकार का अधिकार है। वह जो कुछ अस्पष्ठ है, अनकहना है उसे मनोवैज्ञानिक तरीके से स्पष्ट बनाता है, कहता है। इसलिए उपन्यास के कथ्य में गाम्भीर्य और चिंतन-दर्शन भी आ जाता है। उपन्यास बीती घटनाओं की पुर्नस्मृति दिलाता है। कुछ विवरण भी देता है, अतः वह इतिहास से भी मित्रता रखता प्रतीत होता है। मनोरंजन देना तो सम्पूर्ण साहित्य-सृष्टि

का लक्ष्य है अतः इस मनोरंजन को प्रदान करने के लिये उपन्यास में काव्य की कल्पना, भावुकता और वर्णनात्मकता भी स्वतः आ जाती है।

प्रादुर्भाव और व्युत्पत्ति

उपन्यास रचना का प्रादुर्भाव संसार के साहित्य कुछ में नवीन है। पूर्वकाल में, मुख्यतः नाटक, कविता, जीवनी, इतिहास एवं वार्ता-कथा आदि साहित्यांग रचे जाते थे। किंतु इस ढंग की कोई विशेष रचना नहीं जिसे आज हम औपन्यासिक रचना कहते हैं, उसकी समीक्षा करते हैं। भले ही पूर्वकाल में आज के जैसे उपन्यास न लिखें गये किंतु यह मानना होगा कि कथात्मक-प्रवृत्ति, जो उपन्यास की जननी है, मनुष्य में तब से रही आई है जब से वह जीवन में घटी घटनाओं को मन खोल कर, स्मृति के बल पर कहने के लिये लालायित हुआ। हम देखते हैं कि बालक चाहे कविता या नाटक या अन्य साहित्यांगों को सुनने-समझने में जी न लगाए किंतु अपने बड़े-बूढ़ों तथा दादी-दादा से कोई मनोरंजक कहानी—राजा-रानी की, बंदर मगरमच्छ की, देवी-देवता की—सुनने को सदा समुत्सुक रहता है। मनोविज्ञान का आधार लेकर हम यह खोज कर सकते हैं कि मनुष्य की कथा सुनने वाली प्रवृत्ति उसकी अज्ञात, उत्सुक और जिज्ञासु भावना का परिणाम है। स्वयं ये जीवन और इससे परे का जीवन भी अपने में एक रहस्यमय कथा-सूत्र है। सुनते हैं चीन में तो आज से हजारों वर्ष पूर्व जिस साहित्य की परम्परा मिलती है वह कथा-साहित्य की ही है। हमारे यहाँ संस्कृत के साहित्यिकों, कवियों ने भी कथात्मक साहित्य लिखा है उदाहरण स्वरूप कादम्बरी, दशकुमारचरित, स्वप्नवासवदत्ता, पंचतंत्र, बौद्ध जातक कथाओं आदि के ग्रंथ मौजूद हैं। कादम्बरी, वासवदत्ता आदि रचनाओं की कहानियाँ तो अपने आकार में इतनी वृहद् हैं कि उन्हें हम आज के औपन्यासिक कथानक की श्रेणी में ले सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपन्यास के मूलतत्व 'कथासूत्र' की परंपरा का बीज पुराना है। वह तब से है जब से मनुष्य में अपनी अपबीती को सुनाने की प्रबल इच्छा पैदा हुई। हाँ, उपन्यास तब नहीं रचे गये। आधुनिक उपन्यास का सृजन, सभ्यता, सामाजिकता और बौद्धिकता-साहित्यिकता की परिपक्व अवस्था का रूप है। पुराने कथा-साहित्य में जो कुछ मिलता है वह बहुत सूक्ष्म, बहुत पेचीदा, बहुत काल्पनिक और बहुत अस्तव्यस्त-सा है। उसमें उपन्यास के तत्वों का खोज लेना सम्भव नहीं। मुंशी प्रेमचंद के गोदान और गोर्की के मदर उपन्यासों में जो कुछ है वह हम प्राचीन चीनी कथा-साहित्य में नहीं पा सकते और नहीं पचतंत्र में, नहीं दशकुमारचरित में। प्राचीनकाल में उपन्यास नहीं रचे गए। कथा-साहित्य के नाम पर मनगढ़ंत वह कहानियाँ-क़िस्से लिखे गये जिनका उद्देश्य मनोरंजन था, जिनका लक्ष प्रतीकों के सहारे किसी आदर्श की ओर संकेत भर कर देना था।

उनमें न तो जीवन संघर्ष के पात्र रहे, न युग समाज की ज्वलंत समस्या-कथा, न कोई गूढ़ आदर्श ! हाँ, कौतुहल उनमें खूब था जिसका स्थान आज मनोवैज्ञानिक-दर्शन और जीवन दर्शन ने ले लिया है। संक्षेप में, यद्यपि उपन्यास का प्रादुर्भाव बीज रूप में– कथा सूत्र की भावना से—उसी समय हो गया जब मनुष्य का शिशुमन किसी ऐसी बात को सुनने के लिये लालायित हुआ जो उसका मनोरंजन कर सके या तब, जब मनुष्य ने किसी विचित्र घटना को सुनाने वाले संकल्प को शब्द दिये। किंतु वह सब कुछ आधुनिक उपन्यास की कोटिका नहीं बना। निश्चय ही आधुनिक उपन्यास अपने सृजन में नवीन है, उसकी नवीनता है चरित्र-चित्रण, वर्णन, कथा-वस्तु शैली और उद्देश्य की नवीनता जो मनोरंजन एवं जीवन-दर्शन दोनों से सम्बन्धित है।

उपन्यास शब्द की यदि संस्कृत विषयक व्युत्पत्ति सोची-समझी जाय तो समालोचकों की प्रचलित-उद्धरित ये उक्तियां **"उपन्यास प्रसादनम्"** या 'उपपत्ति कृतो ह्यर्थः उपन्यास प्रकीर्तितिः, रक्खी जा सकती है। किंतु इन उद्धरणों से किसी अर्थ की ऐसी प्रतीति नहीं होती जो आधुनिक **'उपन्यास'** की व्युत्पत्ति को खुलासा कर सके। इन उक्तियों का सारांश यही निकलता है कि किसी बात को ठीक प्रकार से कहना ही उपन्यास है (**उपपत्तिकृतोह्यर्थः**) या प्रसन्न कर देने वाली रचना को उपन्यास कहते हैं (**उपन्यास सकीर्त्तितः**) किंतु प्रसन्न करना या कुछ ठीक-ठीक या स्पष्टता से कहना तो किसी भी साहित्यांग का गुण है, उसकी व्युत्पत्ति की परिभाषा नहीं। पर इन उक्तियों से यह साफ प्रकट होता है कि उपन्यास रचना के उद्देश्य के प्रति हमारे यहाँ सोचा गया है, और सम्भवतः यह भी कि उस प्रकार की रचना करने का भी विचार किया गया हो जो उपन्यास कहलाई जाने योग्य हो सके क्योंकि उपन्यास में प्रसन्न करने और चरित्र-चित्रण का ठीक-ठीक वर्णन करने का तरीका विशेष होता है। अमरुक के श्लोक से **"नियतिः धनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनैः"** उपन्यास का अर्थ यही लग सकता है जो आधुनिक हिंदी के **'वक्तृता'** एवं **'व्याख्यान'** का है। जो कुछ भी हो प्राचीनकाल में कोई भी उपन्यास नहीं लिखा गया, अतः इन उद्धरणों के आधार पर उपन्यास की व्युत्पत्ति का साम्य बिठलाना उचित नहीं। उपन्यास रचना-शिल्प नवीन है, अतः उसकी व्युत्पत्ति भी नवीन है। अँग्रेजी में उपन्यास के लिये Novel शब्द प्रयुक्त होता है। अँग्रेजी के Novel शब्द का अर्थ **'नया'** सर्वज्ञात है। लगता है वहां का नॉविल शब्द साहित्य की उस नई रचना के लिये प्रयुक्त हुआ जैसी पहले कभी न लिखी गई हो, उसकी कोई पूर्व परम्परा न हो और जो अपने उद्देश्य, चित्रण-शैली में भी नवीन हो। फ्रांसीसी लेखक एबेल ने कहा, "a fiction prose of a certain extent" अर्थात् उपन्यास कुछ निश्चित सीमा में गद्यमय आख्यान

है। वस्तुतः M. Abel Chevelley की इस उपन्यास विषयक परिभाषा में जैसे आधुनिक उपन्यास शिल्प-सृजन की सारभूत परिभाषा समाई हुई है। **'आख्यान'** का अर्थ है कोई कल्पित कहानी और वह लिखी कही गई हो गद्य में। और निश्चित सीमा से अर्थ यह कि उपन्यास की कहानी में सीमित विस्तार के साथ मनोरंजन, उद्देश्य और घटना चक्र एवं चरित्र-चित्रण की सिद्धि होती हो। नए ढंग की इस कथात्मक सिद्धि का नाम ही नॉविल है। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि एबेल ने उपन्यास में आख्यान या कथानक तत्व को बड़ा महत्व दिया है जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। इधर जब उपन्यास शब्द के हम खण्ड करते हैं तो उप+न्यास दो शब्दों का साफ़ योग पाते हैं। उप का अर्थ है समीप एवं न्यास का अर्थ है स्थापन या रखना। दोनों के योग से साहित्य की जिस विधा का हम बोध पाते हैं उससे मतलब है कि वह विधा जो निकट-स्थापना करती है। इसका मतलब यही निकलता है कि उपन्यास वह नवीन विधा है जिसमें कोई कथानक बड़े 'उप' या समीप रूप में हमारे सामने स्थापित किया जाता है या रचकर प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ **'निकट'** शब्द का अर्थ गूढ़ हो जाता है। उपन्यास में निकट क्या रखा जा सकता है?—केवल उसका कथानक, वह कथानक जो जीवन के समीप हो और जो अपनी स्थापना में नवीन लगे, वह लगेगा भी। अतः साहित्यिक दृष्टि से घूम फिर कर **'उपन्यास'** की व्युत्पत्ति हमें नवीन प्रतीत होती है और है भी उपन्यास आधुनिक काल में ही लिखी गई नई रीति-शैली की कथात्मक-रचना। स्पष्ट रूप में कह सकते हैं कि उपन्यास शब्द की व्युत्पत्ति गद्य की उस नवीन कथा प्रधान रचना के लिये हुई जिसमें नए ढंग से कुछ नई साहित्य-सामिग्री या जीवन जनित कथावस्तु रक्खी जाय, स्थापित की जाय।

तुलना

उसन्यास रचना का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उपन्यास में बाहरी-भीतरी जग, जीवन का प्रत्येक सत्य, प्रत्येक स्वप्न और उसकी प्रत्येक कल्पना एक सीमा तक सिमट कर व्यक्त हो सकती है। नॉविल की महत्ता पर 'The Study of Prose Fiction' लेख में हडसन ने बड़े उपयुक्त शब्दों द्वारा यों प्रकाश डाला है :—

"The novel owes its existence to the interest which men and women everywhere and at all times have taken in men and women and in the great panorama of human passions and actions" (Page 129)

सचमुच उपन्यास का क्षेत्र मानव-जीवन, समाज-विधान, संस्कृति-चेतना और इतिहास-दर्शन की सीमाओं तक फैला हुआ है, पर तभी कि जब उपन्यासकार की मनीषा में बल हो। अस्तु—

उपन्यास और नाटक

उपन्यास और नाटक का सादृश्य यह है कि दोनों में ही कथानक, पात्र, एवं कथोपकथन की योजना बहुत कुछ समान होती है। किंतु नाटक और उपन्यास में असादृश्य यह है कि नाटक अभिनय प्रधान होता है, उसकी सफलता-असफलता का मानदण्ड सुन्दर और असुन्दर अभिनयमय होने में है जबकि उपन्याल केवल पठनीय होता है ; एकदम अभिनय रहित। और जहां भी उसका वर्णन-विवरण अभिनयात्मक हुआ कि वह अस्वभाविक हो जायगा, उपन्यास का महत्व मर जायगा। नाटक में पात्र और उनका चरित्र अधिक प्रखर होता है। किंतु उपन्यास के पात्र और उनका चरित्र काफी संजीदा होता है। नाटक का उद्देश्य 'रस' पर आधारित है, उपन्यास का उद्देश्य जीवन की सार्थकता पर ! नाटककार का व्यक्तित्व नाटक में लोप रहता है और उपन्यासकार का व्यक्तित्व और जीवन ही उसके उपन्यास में व्यक्त होता हुआ लगता है। नाटक का प्रभाव उपन्यास की अपेक्षा तीव्र होता है। नाटक में साधारणीकरण का महत्व है, उपन्यास में कौतुहल का ! नाटक शिल्पमय अधिक होता है उपन्यास सीधा-साधारण एवं वर्णनमय होता है। हडसन के शब्दों में नाटक Compound Art है और उपन्यास Pocket Theatre !

उपन्यास और कहानी

उपन्यास और कहानी दोनों ही कथा-सम्मत साहित्यांग हैं। दोनों में बहुत कुछ सादृश्य होते हुए भी मूल अंतर यह है कि कहानी का कथानक आदि से अंत तक एक और द्रुतगामी होता है, छोटा होता है, अधिक प्रभावशाली होता है जबकि उपन्यास का कथानक अंत तक अनेक उपकथाओं से जुड़ा, मंदगामी, विशालकाय और खूब मनोरंजक होता है। कहानी अंततः उद्देश्य प्रधान हो या न हो, यह कोई बात नहीं। वरन् उसकी सफलता तो अब यही मानी जा रही है कि वह अंततः जिज्ञासा पूर्ण अवस्था में ही पाठक को छोड़कर समाप्त हो जाय। किंतु उपन्यास में अंततः किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्त्ति होना अनिवार्य होता है। संक्षेप में, उपन्यास मानव जीवन के किसी पहलू का संश्लिष्ट, सजीव, चरित्रमय चित्रण होता है जबकि कहानी किसी विशेष जीवन-घटना को चमत्कृत करने वाली सर्च लाइट होती है।

उपन्यास : इतिहास और जीवनी

उपन्यास इतिहास और जीवनी में सादृश्य यह है कि इनमें घटनाओं का उल्लेख कम अधिक रूप में कुछ एकसा रहता है। इनमें दूसरा सादृश्य यह भी है कि इन्हें पढ़कर पाठक के हृदय को जीवन के किसी अज्ञात आदर्श, अनौखे प्रेरण से

है। वस्तुतः M. Abel Chevelley की इस उपन्यास विषयक परिभाषा में जैसे आधुनिक उपन्यास शिल्प-सृजन की सारभूत परिभाषा समाई हुई है। 'आख्यान' का अर्थ है कोई कल्पित कहानी और वह लिखी कही गई हो गद्य में। और निश्चित सीमा से अर्थ यह कि उपन्यास की कहानी में सीमित विस्तार के साथ मनोरंजन, उद्देश्य और घटना चक्र एवं चरित्र-चित्रण की सिद्धि होती हो। नए ढंग की इस कथात्मक सिद्धि का नाम ही नॉविल है। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि एबेल ने उपन्यास में आख्यान या कथानक तत्व को बड़ा महत्व दिया है जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। इधर जब उपन्यास शब्द के हम खण्ड करते हैं तो उप+न्यास दो शब्दों का साफ़ योग पाते हैं। उप का अर्थ है समीप एवं न्यास का अर्थ है स्थापन या रखना। दोनों के योग से साहित्य की जिस विधा का हम बोध पाते हैं उससे मतलब है कि वह विधा जो निकट-स्थापना करती है। इसका मतलब यही निकलता है कि उपन्यास वह नवीन विधा है जिसमें कोई कथानक बड़े 'उप' या समीप रूप में हमारे सामने स्थापित किया जाता है या रचकर प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ 'निकट' शब्द का अर्थ गूढ़ हो जाता है। उपन्यास में निकट क्या रखा जा सकता है ?—केवल उसका कथानक, वह कथानक जो जीवन के समीप हो और जो अपनी स्थापना में नवीन लगे, वह लगेगा भी। अतः साहित्यिक दृष्टि से घूम फिर कर 'उपन्यास' की व्युत्पत्ति हमें नवीन प्रतीत होती है और है भी उपन्यास आधुनिक काल में ही लिखी गई नई रीति-शैली की कथात्मक-रचना। स्पष्ट रूप में कह सकते हैं कि उपन्यास शब्द की व्युत्पत्ति गद्य की उस नवीन कथा प्रधान रचना के लिये हुई जिसमें नए ढंग से कुछ नई साहित्य-सामिग्री या जीवन जनित कथावस्तु रक्खी जाय, स्थापित की जाय।

तुलना

उसन्यास रचना का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उपन्यास में बाहरी-भीतरी जग, जीवन का प्रत्येक सत्य, प्रत्येक स्वप्न और उसकी प्रत्येक कल्पना एक सीमा तक सिमट कर व्यक्त हो सकती है। नॉविल की महत्ता पर 'The Study of Prose Fiction' लेख में हडसन ने बड़े उपयुक्त शब्दों द्वारा यों प्रकाश डाला है :—

"The novel owes its existence to the interest which men and women everywhere and at all times have taken in men and women and in the great panorama of human passions and actions" (Page 129)

सचमुच उपन्यास का क्षेत्र मानव-जीवन, समाज-विधान, संस्कृति-चेतना और इतिहास-दर्शन की सीमाओं तक फैला हुआ है, पर तभी कि जब उपन्यासकार की मनीषा में बल हो। अस्तु—

उपन्यास और नाटक

उपन्यास और नाटक का सादृश्य यह है कि दोनों में ही कथानक, पात्र, एवं कथोपकथन की योजना बहुत कुछ समान होती है। किंतु नाटक और उपन्यास में असादृश्य यह है कि नाटक अभिनय प्रधान होता है, उसकी सफलता-असफलता का मानदण्ड सुन्दर और असुन्दर अभिनयमय होने में है जबकि उपन्याल केवल पठनीय होता है ; एकदम अभिनय रहित। और जहां भी उसका वर्णन-विवरण अभिनयात्मक हुआ कि वह अस्वभाविक हो जायगा, उपन्यास का महत्व मर जायगा। नाटक में पात्र और उनका चरित्र अधिक प्रखर होता है। किंतु उपन्यास के पात्र और उनका चरित्र काफी संजीदा होता है। नाटक का उद्देश्य 'रस' पर आधारित है, उपन्यास का उद्देश्य जीवन की सार्थकता पर ! नाटककार का व्यक्तित्व नाटक में लोप रहता है और उपन्यासकार का व्यक्तित्व और जीवन ही उसके उपन्यास में व्यक्त होता हुआ लगता है। नाटक का प्रभाव उपन्यास की अपेक्षा तीव्र होता है। नाटक में साधारणीकरण का महत्व है, उपन्यास में कौतुहल का ! नाटक शिल्पमय अधिक होता है उपन्यास सीधा-साधारण एवं वर्णनमय होता है। हडसन के शब्दों में नाटक Compound Art है और उपन्यास Pocket Theatre !

उपन्यास और कहानी

उपन्यास और कहानी दोनों ही कथा-सम्मत साहित्यांग हैं। दोनों में बहुत कुछ सादृश्य होते हुए भी मूल अंतर यह है कि कहानी का कथानक आदि से अंत तक एक और द्रुतगामी होता है, छोटा होता है, अधिक प्रभावशाली होता है जबकि उपन्यास का कथानक अंत तक अनेक उपकथाओं से जुड़ा, मंदगामी, विशालकाय और खूब मनोरंजक होता है। कहानी अंततः उद्देश्य प्रधान हो या न हो, यह कोई बात नहीं। वरन् उसकी सफलता तो अब यही मानी जा रही है कि वह अंततः जिज्ञासा पूर्ण अवस्था में ही पाठक को छोड़कर समाप्त हो जाय। किंतु उपन्यास में अंततः किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्त्ति होना अनिवार्य होता है। संक्षेप में, उपन्यास मानव जीवन के किसी पहलू का संश्लिष्ट, सजीव, चरित्रमय चित्रण होता है जबकि कहानी किसी विशेष जीवन-घटना को चमत्कृत करने वाली सर्च लाइट होती है।

उपन्यास : इतिहास और जीवनी

उपन्यास इतिहास और जीवनी में सादृश्य यह है कि इनमें घटनाओं का उल्लेख कम अधिक रूप में कुछ एकसा रहता है। इनमें दूसरा सादृश्य यह भी है कि इन्हें पढ़कर पाठक के हृदय को जीवन के किसी अज्ञात आदर्श, अनौखे प्रेरण से

साक्षात्कार होता प्रतीत होता है। वह अपने जीवन में उसकी संगति खोजता-टटोलता है। किंतु इन तीनों में पारस्परिक असादृश्य यह है कि उपन्यास में घटना जड़ बनकर नहीं रहती। उसमें जाग्रत जीवन की धड़कन रहती है जब कि जीवनी या इतिहास में घटना जड़ होती है, केवल मृत तिथि-सम्वत्, स्थान, वातावरण की समाधि के रूप में। उपन्यास के पात्र काल्पनिक होकर भी हमारे संगी-से हमें लगते हैं किन्तु जीवनी या इतिहास के पात्र हमारे लिए अतीत बने रहते हैं। इतिहास के शिवाजी या जीवनी के बापू हमारे लिए गोदान के होरी नहीं हो सकते, हाँ, वे हमारी प्रेरणा के प्रतीक बन सकते हैं। इतिहास में साहित्य की कल्पना का अंग बहिष्कृत होता है, उपन्यास में वह रस-बसा रहता है। संक्षेप में, उपन्यास एक प्रस्तुत मधुर दृष्य है और इतिहास या जीवनी अतीत का मधुर स्वप्न है। फिर भी उपन्यास में जीवन चरित और इतिहास के तत्व निहित रहते हैं और उनकी सत्यता का प्रदर्शन उपन्यासकार कल्पना के प्रकाश में किया करता है।

उपन्यास और युगजीवन

चूँकि उपन्यास-रचना आधुनिक साहित्य में नवीन है और आधुनिक साहित्य का मूल्य-मानदण्ड, युगजीवनके अनुकूल, प्राचीन साहित्य की अपेक्षा बहुत कुछ बदला हुआ है अतः यह जान लेना भी अनिवार्य है कि उपन्यास रचना का सम्बन्ध युग-जीवन से कहाँ तक और कैसा है। आज का युग और जीवन प्राचीन कालीन युग और जीवन की अपेक्षा अधिक समस्या प्रधान और जटिल है। प्रत्येक जीवन में जैसे युग की बदलती हुई सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक हलचल मौजूद है। वैज्ञानिक उन्नति ने नई-नई सभ्यता एवं प्रगति-अवनति की चिन्ताधारा को जन्म दिया है। इधर काम-कुण्ठाओं तथा अर्थ-व्यवस्थाओं ने जन-मन विश्लेषणकारी दृष्टिकोण पैदा किया है। फलस्वरूप उपन्यास का आज जो कुछ भी प्रस्तुतीकरण हम देख रहे हैं वह युगजीवन के अनुकूल है, उसे होना भी चाहिए। मुन्शी प्रेमचन्द से पूर्व हमारे यहाँ की औपन्यासिक उपलब्धि हवाई थी। देवकीनन्दन खत्री एवं गहमरी आदि उपन्यासकारों ने सही अर्थों में उपन्यास नहीं लिखे, "अलिफलैला" जैसे अनगॅल किस्से गढ़े हैं। प्रेमचंद जी ने सर्वप्रथम उपन्यास सर्जक के उद्देश्य को समझा, युग जीवन और उपन्यास के पारस्परिक सम्बन्ध को जाना। उन्होंने उपन्यास को जीवन से अलग नहीं समझा। अतः उनके उपन्यासों में युग-जीवन इस प्रकार बोलता है जैसे ग्रामोफोन का रिकार्ड बोलता हो। उनके पश्चात् युगजीवन का उपन्यास से सम्बन्ध अधिक सूक्ष्म और गहरा जुड़ता चला गया। प्रेमचंद ने प्रायः बाह्य जीवन की यथार्थ समस्याओं को आदर्श का अमृत उडेलते हुए अपने उपन्यासों में प्रकट किया। किंतु यह उपन्यास के विकास की एक दिशा थी। उनसे आगे श्री जैनेन्द्र और इलाचंद्र जोशी

के उपन्यासों में जीवन की अतृप्त वासनाओं का भीतरा-पुरुष बोलउठा तो श्री चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, के उपन्यासों में जीवन का स्वर्णिम इतिहास गा उठा। श्री यशपाल जी के उपन्यासों में जीवन का यथार्थ और अर्थ गरज उठा और श्री अज्ञेय जी का 'शेखर' जीवन के मनोविज्ञान और कल्पना की ग्रन्थियाँ जोड़ने-खोलने लगा। अन्य प्रतिभाओं ने भी जीवन के राष्ट्रीय, प्रगतिशील, प्रेमातुर स्पंदनों को अपने उपन्यासों में व्यक्त किया। श्री उदयशंकर जी भट्ट ने अपने उपन्यासों में युगजीवन की यथार्थ स्थितियों का व्यापक विश्लेषण करते हुए मानवी उच्च आदर्श की स्थापना की है। वे ऐसे उपन्यासकार हैं जो अपने उपन्यासों में युगजीवन के कल्याण को लाने का पूरा व्रत स्थापित करते हैं।

श्री गुरुदत्त ने जन-जीवन की सामान्य रोचकता बनाये रख कर अपने उपन्यासों द्वारा बहुतसी अतीत-नवीन युगजीवन की समस्याओं को प्रकट किया है और सराहनीय योगदान दिया है। श्री भगवती चरण वर्मा ने युग-जीवन के विविध मानव-मोड़ों को अपने उपन्यासों में इंगित कर समाज का मार्ग-दर्शन किया है तो उपेन्द्रनाथ अश्क ने सामाजिक सम-विषम वर्गवादी विभीषिकाओं पर कुठाराघात किया है। अंचल जी ने भी युग-जीवन की प्रगति को अपने उपन्यासों में वाणी देने का सफल प्रयास किया है। श्री आनंदप्रकाश जैन ने इतिहास की नई परिभाषा को अपने उपन्यासों में सजाकर युग-जीवन की प्रगति की दिशा बतलाई है। यौधेय जी ने अपने उपन्यासों में आदर्श युग-जीवन के स्वर्णिम चित्र अंकित कर अपने उपन्यासों के माध्यम से जैसे मानवी अनुष्ठान की आहुतियाँ दी हैं। श्री माधवसिंह दीपक ने राजस्थान के मरुथल में वीर-जीवन के बिखरे रक्त का तिलक जैसे युग जीवन के भाल पर लगाने का आह्वान आपने उपन्यास में किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद जी और उनके पश्चात् के उपन्यासकारों ने युग-जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन अपने उपन्यासों में किया है। आज हम युग-जीवन के अतिरिक्त उपन्यास की परिभाषा कहीं अन्य नहीं पा सकते। जैसा युग-जीवन है और एक सीमा में यदि उसकी अभिव्यक्ति उपन्यास में है तो वह सफल उपन्यास कहा जायगा। यदि नहीं, तो वह उपन्यास का उपहास कहलाया जायगा। निस्संदेह उपन्यास और युग-जीवन की तुलना उनको व्यापक अर्थ में एक ही सिद्ध वाली करने बात होगी। उपन्यास युग-जीवन के किसी अंग विशेष का प्रभावशाली दर्शन है, यह भी कहा जा सकता है।

उपन्यासकार का व्यक्तित्व

साहित्य के भिन्न अंगों के रचियता प्रायः अपना-अपना भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व रखते हैं। एक कवि के व्यक्तित्व में भावुकता झलकती है, तो एक समालोचक के व्यक्तित्व में गम्भीरता इसी प्रकार और औरों के प्रति कहा जा सकता है। इसका कारण

है भिन्नमानव स्वभाव ! प्रायः स्वभाव से ही कोई कवि होता है कोई समालोचक और कोई कुछ और। इसी प्रकार उपन्यासकार का भी अपना एक व्यक्तित्व होता है। उपन्यासकार की सामाजिक पैठ-पकड़ गहरी होती है अतः उसके व्यक्तित्व में प्रतिभा की पूरी छाप साफ प्रकट होती है। प्रतिभा प्रत्येक साहित्य रचियता में होती है किंतु उपन्यासकार की प्रतिभा उसके मौन-गम्भीर मुख पर प्रत्येक पल में झाँकती प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार के व्यक्तित्व रप भी युग-जीवन के प्रत्येक पहलू के अध्नयन की जिज्ञासा छाई रहती है। उसकी आँख और मनीषा उसकी प्रत्येक स्थिति में केन्द्रित दीखती है। उपन्यासकार के व्यक्तित्व के साथ हम देख सकते हैं एक चलती-फिरती हुई वह संवेदनशीलता जो प्रत्येक दुखी को दिलासा देने रुक जाती है, प्रत्येक आतंक से खौल उठती है। संक्षेप में, सच्चे उपन्यासकार का व्यक्तित्व उसके हृदय-मस्तिष्क का सीधा, सरल, सहज परिचय होता है।

औपन्यासिक तत्व

साधारणतः उपन्यास के छः-सात तत्व निर्धारित किए गये हैं। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि हर उपन्यास में ये निर्धारित तत्व होते ही हैं, या होने ही चाहिये या इतने ही होते हैं वरन् इससे अभीष्ट यही है कि सामान्यतः हम किसी उपन्यास की विवेचना इन तत्वों के आधार पर कर-समझ लें। नीचे इन तत्वों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है। ये छः इस प्रकार हैं—१. **कथानक, २. पात्र एवं उनका चरित्र, ३. संवाद या कथोपकथन ४. देशकाल एवं वातावरण, ५. शैली, ६. अभीष्ट या या उद्देश्य।**

इनका विवेचन इस प्रकार है—

कथानक उपन्यास का सबसे प्रधान तत्व है। अस्तव्यस्त जीवन की परिस्थितियों और घटनाओं पर विचार करते हुए बहुत से विचारकों का मत है कि उपन्यास में कथानक-तत्व कोई आवश्यक नहीं है। किन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि जब तक कोई घटना या बात सिलसिलेवार कहने को हमारे पास न होगी तो हम अपने अभीष्ट को किस भाँति प्रकट या सिद्ध करेंगे। केवल वर्णमाला सीख लेने का मतलब यह नहीं कि हम अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर पाएँगे। उस वर्णमाला का उपयोग एकशृंखला के द्वारा ही सम्भव है। जो महत्व भाव-विचारों के प्रदर्शन में शब्द-शृंखला का है वही महत्व उपन्यास के अभीष्ट अर्थ के प्रकटीकरण में कथानक का है। फिर उपन्यास किसी कथा को नए, रोचक और औत्सुक्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने वाला सांचा है। यह ठीक है कि युग-जीवन की घटनाएँ बहुत सारी होती हैं, वह पगपग पर बिखरी बिखराई भी होती हैं किन्तु क्या वे सभी ऐसी होती हैं जो एक-दूसरे से कतई न जुड़ सकें, या उनमें से कुछेक की संगति, उनका मेल, उनकी इयत्ता

जीवन को प्रभावित न कर सके। बच्चे लकड़ी के रंगीन अस्तव्यस्त टुकड़ों को जोड़ कर भी बड़ा अच्छा-आकर्षक महल बनाकर खड़ा कर देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भले ही युग-जीवन की बहुत-सी घटनाएँ छोड़ी जाती हैं किन्तु उपन्यास लिखने के लिए उन कुछ घटनाओं को चुनकर कथानक खड़ा करना परमावश्यक है जो अर्थ पूर्ण है, स्मरणीय है, उपादेय है। निश्चय ही कथानक के अभाव में उपन्यास के नाम पर जो कुछ भी लिखा जाना संम्भव होगा वह कोरा प्रलाप होगा। किन्तु यदि कथानक का चुनाव असंगत हुआ तो वह उपन्यासकार के श्रम-सृजन का मर्सिया बन सकेगा, उससे अधिक कुछ नहीं। कथानक का चुनाव उपन्यासकार की परिपक्व प्रतिभा की माँग रखता है। यह चुनाव इतिहास, दर्शन, पुराण, समाज, व्यक्ति, परिवार मनोविज्ञान और राजनीति आदि के किसी भी पहलू से किया जा सकता है। इसके आधार पर हम किसी भी उपन्यास को ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक, पौराणिक, व्यक्तिपरक, पारिवारिक, मनोवैज्ञानिक और राजनैतिक प्रकार का कहते हैं। कथानक के चुनाव में उपन्यासकार को सबसे पहले यह ध्यान रखना होता है कि उसका विषय युग-जीवन की किस सीमा तक अनुकूल है। कहीं ऐसा न हो कि उसका विषय है सामाजिक और वह कर रहा है कि संसार की साँस्कृतिक सीमा का अतिक्रमण। इससे उपन्यास की गति शिथिल और उलझी-पुलझी हो जायगी। कथानक के चुनाव में दूसरी बात यह ध्यान में रखनी जरूरी है कि उसका कथानक युग-जीवन के मूल्य और उसकी मान्यताओं को ध्वस्त न कर दे, झुठला न दे। जैसे उपन्यासकार का विषय है भारतीय आदर्श-प्रेम का और वह चित्रण कर रहा है पाश्चात्य क्लब में चलने वाले डान्स का। इससे उपन्यास की स्वाभाविकता तथा उसकी वास्तविकता घुटकर रह जायगी। कथानक के चुनाव में तीसरी मुख्य दृष्टि इस ओर रखना आवश्यक है कि जिस कथानक का वधान बाँधा जा रहा है कहीं वह अनर्गल घटनाओं से तो नहीं जकड़ा जा रहा है। जैसे कथानक का अभीष्ट तो है अनमेल विवाह की बुराइयाँ प्रदर्शित करना और उसके साथ ही कथानक से लिपट रही हैं वैश्याविवाह एवं सतीप्रथा की गुलछटें। इससे वास्तविक कथानक दम टूट जायगा और उपन्यास दो कोड़ी के मोल का रह जायगा। कथानक के चुनाव में चौथी ध्यान रखने वाली बात यह है कि उसमें रोचकता, और सभ्य-मनोरंजन प्रधान रहे। प्रायः उपन्यास मनोरंजन के लिए पढ़े जाते हैं और मनोरंजन के भुलावे में ही उपन्यासकार अपने कथानक में किसी उद्देश्य को समाहित कर जाता है। इसके लिए उपन्यासकार को कथानक के साथ कुछ संबद्ध अर्न्तकथाएँ भी जोड़नी होती हैं किन्तु कहीं उनके जोड़ दिखलाई न पड़ जायें नहीं तो उपन्यास की कथा-शृंखला झनझना कर टूट जाएगी। इसके लिए उपन्यासकार को सुन्दर, स्वाभाविक कल्पना-सम्भावना (Imagination and fancy) का सहारा लेना होता

है। उसकी सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह किस उत्कृष्ट ढंग से अपने प्रतिपाद्य कथानक एवं कल्पना में सम्भावना की ग्रंथि जोड़कर उसे सरस-मनोरंजक और अभीष्ट-सफल बना सकता है। संक्षेप में, कथानक के चयन, उसके विकास और उसके अभीष्ट साफल्य के लिए उपन्यासकार को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि, गहरी पैठ और पर्याप्त गतिमयता रखनी होती है। प्रेम का घिसापिटा कथानक भी यदि सफल उपन्यासकार के प्रतिभा से टकरा गया तो उससे मौलिकता और व्यापकता आ जायगी। किन्तु प्रायः उपन्यासकार की लिये सबसे बड़ी समस्या कथानक के ग्रहण और प्रस्तुत करने की होती है। इसमें कम ही उपन्यासकार सफल हो पाते हैं और उनकी असफलता ही सम्भवतः उन्हें कथानक की ओर से विरक्त होने को बाध्य करती हो, कौन जाने !

प्रायः उपन्यासकार अपने कथानक को भिन्न-भिन्न शैली में रखना पसंद करते हैं। यह बात उनकी वैयक्तिक रुचि और क्षमता पर निर्भर है। साधारणतः उपन्यासों में उपन्यासकार अपने कथानक को उस शैली में रखता है जिस शैली में कि हम सिनेमा में पर्दे पर चलती रील के कथानक से परिचित होते हैं, देखते हैं। इस दशा में उपन्यासकार का व्यक्तित्व सिनेमा के आपरेटर की तरह का होता है। वह निर्लेप होकर कथानक को लिखता चलता है। उसके पात्र, उनका चरित्र, उनकी घटनाएँ अपने आप हमें सब कुछ कहती-बताती चलती हैं। उदाहरण के लिए इलाचन्द्र जोशी का 'संन्यासी' उपन्यास है। किंतु यहाँ भी मौका मिलने पर उपन्यासकार अपने दृष्टिकोण का संकेत कहीं दे ही जाता है। ऐसे उपन्यासों को कथात्मक शैली के उपन्यास कहा जाता है। कुछ उपन्यासकार किन्हीं प्रतीकों के सहारे अपने कथानक को प्रस्तुत करते हैं, पर इस ओर अधिक प्रगति नहीं देखी गई। कुछ उपन्यासकार अपने को केन्द्र मानकर ही उपन्यास का कथानक प्रस्तुत करते हैं। इस कथानक में उपन्यासकार की सफलता इसी में है कि वह अपने व्यक्तित्व के अंश-अंश का विकेन्द्रीकरण करता चले। पर इस प्रकार के सफल उपन्यास कम ही लिखे गए हैं। यह उपन्यास एक प्रकार से आत्मकथा का औपन्यासिक रूपान्तर कहा जा सकता है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का **'बाण भट्ट की कथा'** तथा एक अन्य उपन्यास **'दिल की आग'** कुछ इसी प्रकार के उपन्यास हैं। पत्रात्मक शैली में भी उपन्यास का कथानक प्रस्तुत किया जाता है। किंतु इस प्रकार के उपन्यासों में कथानक का क्रम प्रायः टूटा-टूटा सा लगने लगता है। श्री पाण्डेय बेचैन शर्मा उग्र का **'चन्द हसीनों के खतूत'** इसी प्रकार का पत्रात्मक शैली में लिखा ज्वलंत उपन्यास है।

कथानक के स्वरूप एवं लक्ष के अनुसार उपन्यास के दो भेद हैं :—

१. **चरित्र-प्रधान**—इस प्रकार के उपन्यासों में पात्रों की और उनके चरित्र-

चित्रण की प्रधानता होती है। पात्रों का चरित्र इतना गत्यात्मक (Dynamic) होता है कि वे अपने इशारे पर घटनाओं को चलाते हैं। वातावरण का अंकन पात्रों के व्यक्तित्व से अभिभूत रहता है। अपने चरित्राधार पर ही पात्र सफल-असफल होता है। मुन्शी प्रेमचन्द का 'गोदान' उपन्यास चरित्र प्रधान ही कहा जायगा। आधुनिक युग में चरित्र प्रधान उपन्यास लिखने का ही प्रचलन है।

२. **घटना-प्रधान**—इस प्रकार के उपन्यासों में घटना ही उपन्यास की जान होती है। प्रारम्भ में कोई घटना किसी पात्र के छुटपुट चरित्र से लिपटती है और शनैः शनैः वह इतनी हावी होती चली जाती है कि अंततः पात्र का अस्तित्व ही मिटा डालती है। पात्र कठपुतला बनकर रह जाता है और नियति या दुर्भाग्य Nemisis) से पिस जाता है। इन उपन्यासों में मनोरंजन, कौतुहल एवं रोचकता का खूब चुहल रहता है। जासूसी, तिलस्म एवं ऐय्यारी के उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। श्री देवकीनंदन खत्री का "**चन्द्र कान्ता**" इसी प्रकार का उपन्यास है।

किंतु यह ध्यान रहे कि चरित्र एवं घटना-प्रधान उपन्यासों का विवेचन करना श्रमसाध्य है। असल में घटना एवं चरित्र दोनों का जीवन में पारस्परिक बड़ा अटूट संग है। घटनाएँ चरित्र का निर्माण भी करती हैं, उसे नष्ट भी कर देती हैं। चरित्र घटनाओं से जीतता भी है, हारता भी है। अतः घटना एवं चरित्र प्रधान उपन्यास के विवेचन में अधिक से अधिक ठोस तर्कों का आधार ही वाँछित है।

कथानक के विषय की दृष्टि के अनुसार उपन्यास के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं :—

१ **सामाजिक**—इन उपन्यासों का विषय प्रधानतः युग-जीवन और समाज-सम्मत होता है। सुधार, क्रांति, वर्ग-संघर्ष आदि का भाव-विवेचन इन उपन्यासों में प्रधान होता है। राधिकारमण प्रसाद सिंह का 'राम रहीम' प्रेमचंद का 'कर्मभूमि' एवं 'रंगभूमि' और प्रसाद का 'कंकाल' उपन्यास इसी कोटि के हैं। इधर अश्क जी का 'बड़ी-बड़ी आँखें, तथा यज्ञदत्त शर्मा का 'परिवार' उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरे और मनुष्य' सामाजिक कोटि के अच्छे उपन्यास हैं।

२. **ऐतिहासिक**—इन उपन्यासों का विषय इतिहास की घटनाओं से सम्बन्धित होता है। किंतु कथानक में वर्तमान युग-जीवन के आदर्श की संगति भी व्यक्त की जाती है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार, 'विराटा की पद्मिनी' तथा चतुरसेन शास्त्री के बहुत से उपन्यास ऐतिहासिक कथानक और विषय से पूर्ण हैं। यथास्थल इन उपन्यासों में कल्पना के विषय की भी कोमल गाँठ जोड़ दी जाती है।

३. **यथार्थवादी-मनोविश्लेषणवादी**—इन उपन्यासों में जीवन के किसी नग्न

पक्ष का उद्घाटन होता है। इनका विषय जीवन की असंगतियों और कुत्साओं से पूर्ण ही प्रायः होता है। श्री यशपाल जी का 'मनुष्य के रूप' यथार्थवादी उपन्यास है किंतु यशपाल जी की दृष्टि असंगतियों एवं कुत्साओं को झिझोड़कर उनके मिटाने की है और मानव समाज की अभावग्रस्त धारणाओं को स्वस्थ बनाने वाली है। इस प्रकार के उपन्यासों का प्रधान विषय प्रेम, भूख, वासना और वर्ग-संघर्षमय है। इन उपन्यासों में फ्रायड एवं मार्क्स के भौतिक दर्शन का प्रभाव होता है। मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यासों में काम-कुण्ठाओं का चिंतन गहरा होता है, कलात्मक भी, किंतु रोगिल एवं अस्वास्थ्यकारी होता है। सर्वश्री जेनेन्द्र तथा इलाचंद्र जोशी इस प्रकार के प्रमुख उपन्यासकार हैं। जेनेन्द्र जी के 'परख' 'त्यागपत्र' 'सुनीता' इलाचंद जोशी के 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी' उपन्यास प्रसिद्ध मनोविश्लेषणकारी उपन्यास हैं। नरोत्तम नागर ने भी इस प्रकार के उपन्यास लिखे हैं।

असल में मनोविश्लेषण प्रधान उपन्यासों में कलात्मक-चित्रण तो विदेशी अनुकरण की तुलना में आ पहुँचा है किंतु उसमें भारतीय समाज-परिवार के आदर्श का ध्यान नहीं रक्खा गया, यही असंगत है। इन उपन्यासों में युंग एवं फ्रायड के रोगग्रस्त, अनैतिक काम-कुण्ठ के रहस्य खोलने का प्रयास खूब हुआ है। किंतु उनमें महत्तम समाज Utopea) का निर्माण या संकल्प छू भी नहीं गया हैं। यथार्थवादी उपन्यासों के अन्तर्गत राजनीति का विषय भी जुड़ गया है। यह राजनीति प्रायः कौटिल्य अथवा अशोक द्वारा प्रतिपादित भारतीय राजनीति नहीं, कम्यूनिस्ट टाइप की राजनीति है। प्रारम्भ में यशपाल जी ने इस प्रकार के उपन्यास खूब लिखे हैं, जैसे 'दादा कामरेड', 'पार्टी' 'कामरेड' आदि। राजनीति में गांधीवादी विचारधाराओं का प्रभाव तो हम मु० प्रेमचंद के उपन्यासों में भी देखते हैं किंतु अभी हाल में श्री भगवती चरण वर्मा ने अपने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' उपन्यास में आज की प्रायः राजनीतिक सभी विचारधारा का संगठन कर दिखाया है जिसमें गांधीवाद का आग्रह वशेष लगता है। अंततः इस क्रम में हम अज्ञेय जी के विषय में कहेंगे। अज्ञेय जी ने अपने 'शेखर' एक जीवनी को लिखकर हिंदी उपन्यास जगत को एक नूतन चिंताधारा, दृष्टि एवं दर्शन से अवगत कराया जिसमें जीवन के खण्ड-खण्ड भाव-विचार, यथार्थ, आदर्श और नीति-नियम का भाव-कल्पना तथा बुद्धि संगत प्रेषण है। यह प्रेषण कथासूत्र के शैथिल्य के साथ भी सम्पूर्ण जीवन की गतिविधि को बाहर-भीतर से एक साँस में जान लेने को लालायित करता है। वैसे विषय की दृष्टि से यदि हम 'शेखर' को उपन्यास कहेंगे तो उसे विशुद्ध मनोविश्लेषणवादी उपन्यास ही कहेंगे।

४. आदर्शवादी—आदर्शवादी उपन्यासों के विषय-कथानक मानव की

कल्याणकारी चेतना पर आश्रित होते हैं। आदर्श ही सम्पूर्ण जीवन-जगत का प्रधान तत्व है, यही इन उपन्यासों में प्रकट होता है। किंतु इस आदर्श की प्रस्थापना में जीवन के यथार्थ का भी चित्रण होता है। मु० प्रेमचंद इसी प्रकार के उपन्यासकार थे। उनके अधिकांश उपन्यासों का विषय आदर्शोन्मुख यथार्थ से पुष्ट है। समाज और व्यक्ति-जीवन का कल्याणकारी मानचित्र खींचना इन उपन्यासों का लक्ष्य होता है। प्रेमचंद की परम्परा में पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक का लिखा 'सुलोचना' विशुद्ध आदर्शवादी उपन्यास है। ऊषा देवी तथा सियाराम शरण गुप्त ने भी इस परम्परा में सराहनीय उपन्यास लिखे हैं।

पात्र : उनका चरित्र

पात्र और उनका चरित्र-चित्रण उपन्यास का एक विशेष तत्व होता है। पात्र ही कथानक को विकसित करते हैं और उनका चरित्र उपन्यास को गंतव्य तक ले जाता है। असल में कथावस्तु तो एक नाव है जिसे खेने वाले हैं उसके पात्र। दोनों ही का समान महत्व है। खेने वालों के अभाव में नाव का क्या महत्व और नाव के अभाव में खेने वाले का क्या मूल्य? कह सकते हैं कि कथावस्तु एवं पात्रों का पारस्परिक पूरक सम्बन्ध है अस्तु—

चारित्रिक दुर्बलताओं और महानताओं का पाठ मनुष्य पीढ़ी को सद्-अनुभव और आदर्श सिखलाता है। प्रत्येक व्यक्ति की छाप हमारे ऊपर वैसे तो उसके रूपाकार की भी पड़ती है किंतु वह क्षणिक होती है। स्थाई रूप से हम उसके चरित्र से ही प्रभावित होते हैं। समाज में भिन्न-भिन्न चरित्र के मनुष्य होते हैं, उनका भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। उपन्यास में इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पात्र एवं उनका चरित्रांकन होता है। उपन्यास की सफलता इसी में है कि उसके अर्न्तगत पात्रों का चरित्रांकन स्वाभाविक हो। वे पात्र समाज को कुछ चारित्रिक देन दें, प्रभावित करें। सजीवता चरित्र-चित्रण की अपनी विशेषता है। उपन्यास के पात्र और उनका चरित्र साधारण कोटि का होगा तो वह हमें क्या प्रभावित करेगा? किंतु इसका आशय यह नहीं कि वे पात्र और उनका चरित्र अतिमानवी हो। नहीं, वरन् वह ऐसा हो जो हमारी चारित्रिक विशेषता को उद्घाटित करे, हमारे मन के नयन खोले। इसी अर्थ में उपन्यास के पात्र मौलिक या अभिनव कहे जायेंगे। समाज में सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं, बुरे भी अच्छे भी। बुरे पात्र यदि उपन्यास में सम्मिलित हैं या करने की आवश्यकता है तो उपन्यासकार को वहाँ भी यह ध्यान रखना होता है कि उनका चरित्र बुराई का वह पक्ष खोले जिससे हमें भलाई की प्रेरणा मिले। यहाँ भी उसे बुरे पात्र और चरित्र को अभिनव, मौलिक एवं प्रभावशाली बनाना होगा। यह सब कुछ करने के लिये उपन्यासकार को मनोविज्ञान, नीति-शास्त्र, आत्म दर्शन

का सहारा लेना होगा। किंतु वह सहारा कहीं सरलता न नष्ट कर दे, इसके लिये उसे पात्रों के चरित्रांकन में रोचकता लानी होती है। संक्षेप में, उपन्यास के पात्र जीवन के किसी पक्ष के प्रतिनिधि होने चाहिये। उनमें पाठक को प्रभावित करने वाली सादगी, एवं सरलता का गुण होना चाहिये और वे चिरस्मरणीय होने चाहिये। उन्हें मनुष्य का संगी होना चाहिये, एकांत स्टेचू नहीं। वह ऐसे होने चाहिये जैसे शरत्चन्द्र का देवदास है।

पात्रों के चरित्र का चित्रण प्रायः दो प्रकार से होता है—

१. **उपन्यासकारों के शब्दों द्वारा**—इस प्रकार के चरित्र-चित्रण में—वैसे तो स्वयं पात्र अपनी घटनाओं एवं अपने क्रियाकलापों द्वारा निज चरित्र का संकेत देते ही हैं—उपन्यासकार स्वयं उसके चरित्र की विशेषता या दुर्बलता का अपने शब्दों में विश्लेषण कर देता है। किंतु उसका यह विश्लेषण पात्र की उद्घाटित स्थिति के मातहत रहता है। इसे विश्लेषणात्मक प्रणाली कहते हैं। यह प्रणाली अधिकांश उपन्यासों में होती है। आदर्शवादी उपन्यासों में यह चित्रण प्रधान होता है।

२. **पात्रों के शब्दों द्वारा**—इस प्रकार के चरित्र-चित्रण में स्वयं पात्र अपने कार्य-कलापों, कथोपकथनों एवं स्थितियों के माध्यम से अपने चरित्र का चित्रण करते चलते हैं। इस प्रणाली को नाटकीय प्रणाली कहते हैं। किंतु इसे नाटकीय कहना इसलिये मान्य नहीं कि नाटकीय कहने में दृष्य पक्ष आ जाता है और उपन्यास है श्रव्य साहित्य। अतः इस प्रणाली को पात्रसिद्ध चरित्र-चित्रण प्रणाली कहा जा सकता है ; गो कि इससे अच्छा और उपयुक्त भी कुछ सोचा जा सकता है।

संवाद या कथोपकन

यदि कथावस्तु एक नाव है, उसके पात्र नाविक तो कथोपकथन उसकी पतवार है। कथोपकथन कथावस्तु के विकास के सहायक है तो पात्रों के चारित्रिक निर्बलता-सबलता का परिचायक भी। संक्षेप में, कथोपकथन उपन्यास की पूर्ण सफलता के अंग हैं। कथोपकथन के द्वारा ही पाठक पात्रों के दृष्टिकोण, उनके उद्देश्य और उनके व्यक्तित्व की थाह पा सकता है। कथोपकथन को अत्यधिक संक्षिप्त, सूक्ष्म और चुटीला होना चाहिए। उसे विषय के अनुरूप हास्यमय, गाम्भीर्यमय और व्यंग्यमय होना अनिवार्य है। कथोपकथन की भाषा सरल, सुबोध और स्वाभाविक होनी चाहिए। कथोपकथन में पात्र के चरित्र की स्पष्टता एवं सच्चाई मुखरित होनी चाहिए। अच्छे कथोपकथन की विशेषता यह होती है कि उसे पढ़ते हुए पाठक को ऊब नहीं उत्सुकता अनुभव होती है। पात्र जिस कोटि का हो उसी कोटि का कथोपकथन अधिक समीचीन

रहता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अस्पष्ट, गंवारू और अश्लील भाषा का प्रयोग किया जाय। कथोपकथन को मोती की लड़ियों की तरह सजा-सँवारा होना चाहिए।

देशकाल एवं वातावरण

उपन्यास का कथानक किसी विशेष स्थान, उसके वातावरण और विशेष समय से या युग से अवश्य सम्बन्धित होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि उपन्यास लिखा जा रहा हो सुभाष के जीवन के कथानक पर और आज़ाद हिन्दी फौज बन रही हो पैरिस में। आशय यह है कि उपन्यास का कथानक देशकाल की सीमा का अतिक्रमण न कर जाय, उपन्यासकार को इसके प्रति पूरा जानकार और जागरूक होना चाहिए।

देशकाल के अन्तर्गत रहन-सहन, बोलचाल, राजनैतिक-सामाजिक आदि विषयों का ज्ञान भी उपन्यासकार को होना चाहिए। तभी उसके उपन्यास का कथानक, उसके पात्र, उनका चरित्र-चित्रण सम्यक् बन सकेगा। ऐतिहासिक उपन्यासों में इस बात का विशेषतः ध्यान रखना होता है। वातावरण का चित्रण उपन्यास के कथानक में सौन्दर्य एवं आकर्षण की वृद्धि करता है और कल्पना के रंग भरता है। यह वातावरण इतिवृत्तिगत और भाव-कल्पनागत भी होता है। इतिवृत्तगत वातावरण के चित्रण में नगर, पार्क, वन-उपवन, फूल-पक्षी, हवा, झरनों आदि प्राकृतिक दृष्यों तथा उपकरणों का वर्णन रहता है और भाव-कल्पनागत वातावरण के चित्रणमें मानसिक उद्वेगों, चित्रों एवं अन्तर्द्वन्द्वों का वर्णन-चित्रण रहता है। देशकाल और वातावरण का सफल चित्रण प्रायः सभी प्रकार के उपन्यासों में अपने-अपने ढंग से होता है। असल में देशकाल और वातावरण का सफल चित्रण उपन्यासके कथानक और उसके पात्रों और उनके चरित्र-चित्रण को सुसंस्कृत एवं विश्वसनीय बनाने का प्रमुख साधन है।

शैली

शैली को साधारण शब्द में 'ढंग'—जिसे अंग्रेज़ी में Style—कहते पुकारते हैं। साहित्य में शैली का महत्व, अर्थ एवं उद्देश्य सम्बन्धी विश्लेषण-विवेचन बहुत हुआ है। अँग्रेजी विद्वानों-कवियों ने मुख्य रूप से शैली को साहित्य ही क्या जीवन का मुख्य तत्व माना है। पाश्चात्य विद्वानों में मेरे ने 'The problem of style' के अन्तर्गत तीन प्रकार के बड़े अर्थ-संगत विचार रक्खे हैं—

1. The persen idiosyncrasy of Expression by which we recognise a writer—अर्थात्— अभिव्यक्ति की वह वैयक्तिक विशेषताएँ हैं जिसके द्वारा हम किसी लेखक को पहचान लेते हैं।

2. The technique of Expression—अर्थात् अभिव्यंजन का तरीका।

3. Style is the highest achievement of literature—अर्थात् शैली-साहित्य की उच्चतम उपलब्धि है।

हम देखते हैं कि मेरे के शैली सम्बन्धी उक्त विचारों में शैली के अंतर्गत व्यक्तित्व, रचना-विधान एवं उद्देश्य-सिद्धि इन तीनों बातों की महत्ता प्रकट होती है और इन्हीं महत्ताओं से पूर्ण साहित्य महान् कहलाता है। सरल शब्दों में शैली साहित्य का वह तत्व है जिसमें शब्द-अर्थ और उद्देश्य के श्रेष्ठ तत्व निहित रहते हैं। जिसे अपनी शक्ति (Energy) अपनी ध्वन्यात्मकता (Suggestiveness) अपने बाह्यान्तर सौन्दर्य (Beauty and Grace) तथा अपने आकर्षण (Charm) के अनुरूप कोई लेखक अपनाता है और जतलाता है। विदेशी साहित्य का प्रमुख विवेचनीय तत्व शैली है कि जिस साहित्य की अभिव्यंजना (Expression) महान् है तो उसका सृष्टा भी महान है, उसका साहित्य भी श्रेष्ठ सुन्दर-शिव है। भारत में भी शैली विषयक विचार-विवेचन गम्भीर हुआ है किन्तु इतना व्यापक नहीं जितना कि विदेश में। हमारे यहाँ शैली साहित्य का एक प्रमुख तत्व है जिसके अंतर्गत अलंकार, शब्द शक्ति, वाक्य रचना, दोष, माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण, मधुरा, परुषा तथा प्रौढ़ा वृत्तियाँ तथा वैदर्भी, गौड़ी और पाँचाली रीतियों का विषय आलोच्य होता है। किन्तु यह विषय साहित्य के बाह्य अंगों से सम्बन्धित हैं, साहित्य की आत्मा तो उसका रस है उसके पोषक तत्व भाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि हैं। भारतीय आचार्यों ने साहित्य का गौरव इन्हीं आंतरिक तत्वों के विवेचन से आँका हैं। दण्डी ने काव्यादर्श में कहा—"अस्त्येकोको गिराँः मार्गः सूक्ष्म भेद परस्परम्" अर्थात् अभिव्यंजना के कई भेद होते हैं जिनमें सूक्ष्म अन्तर रहता है। शैली के अंतर्गत लेखक के व्यक्तित्व का कितना महत्व है इस पर शारदातनय ने अपने 'भाव प्रकाश' ग्रन्थ में सुलझा हुआ विवेचन किया है।

कुल मिलाकर यह मानना पड़ता है कि शैली साहित्य का एक विशेष तत्व है। यदि रस साहित्य का प्राण है तो शैली उसका शरीर। सभी मनुष्यों में एक ही प्राणगति होते हुए भी हम एक दूसरे को अलग-अलग रूप में इसीलिये पहचानते हैं क्योंकि वहाँ शैली या ढंग या स्टाइल का भेद वर्त्तमान होता है! तभी कहते हैं कि style is the man. ठीक यही बात साहित्य और साहित्यकार की है। शैली की बदोलत आज प्रेमचन्द मरकर भी जीवित हैं, हम उन्हें खूब पहचानते हैं, नहीं तो उन जैसे सीधे, सरल न जाने कितने आदमी रोज मरते हैं और हमारी आगे की पीढ़ी तो क्या हम ही एक के अरसे बाद उन्हें भूल जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य की शैली साहित्यकार के महान व्यक्तित्व की विशेष छाप हैं,

जीवित, जागृत, जाज्वल्यमान ! उपन्यास के अंतर्गत शैली का बड़ा महत्व है । पहला तो यह कि सरल, सीधी भाषा-शब्दावली में लिखा उपन्यास जन-सुबोध होगा, उससे अनगिनत लोगों का जीवन कुछ सीखेगा । दूसरे उसमें जीवन की सादगी, कला की सौंदर्यप्रियता और यथार्थ की स्थिति का अभिव्यंजन होगा तो वह युग-समाज के व्यापक क्षेत्र को रसाप्लावित कर सकेगा । उसमें यथास्थल अलंकार, ३ हावरे, माधुर्य ओज और प्रसाद गुण होगा तो वह जन-मनोरंजन करने में सफल हो सकेगा । उपन्यास का कथ्य चलती चक्की के समान होगा तो वह अधिक आकर्षक एवं औत्सुक्यपूर्ण होगा । अतः उसमें कठिन शैली का प्रयोग अच्छा नहीं । प्रभाव के लिये हास्य, व्यंग, गाम्भीर्य, कल्पना एवं बुद्धि का यथास्थल प्रयोग भी उपन्यास को अधिक उत्तम बनाने का काम करेगा । यह सब बातें उपन्यास की उत्तम शैली के निर्माण से सहायक होती हैं । निकृष्ट कोटि के उपन्यासों में शैली की लचरता उसे तो भौंडा बना ही देती है उपन्यासकार के व्यक्तित्व को भी मुर्दा बना देती है ।

अभीष्ट या उद्देश्य

साहित्य की सृष्टि में मनोरंजन का महत्व पहला और अभीष्ट या उद्देश्य या रस प्रतिपादन का अंतिम होता है । हम उस कृति को पढ़ना पसंद नहीं कर सकते जो केवल प्रारम्भ से हमें कल्पना के पंख पर उड़ाकर ले चले और अंत में परीलोक में ले जाकर धम से गिरा दे नहीं हम उस कृति को पढ़ना पसंद करेंगे जो हमें समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, कृषिशास्त्र आदि के श्रम-साध्य फील्ड में ठेलती चले और अंत में इतनी श्रम-थकित अवस्था में छोड़ दे कि जिससे हमारा दम ही फूल जाय, हम दिमागी जाल में ऐसे फँसे रह जायँ कि हाथ-पैर मारते रहें । ये दोनों ही बातें साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं । असल में साहित्य का मूलधर्म आत्मानंद या आत्मसुखाय है । आत्मा को सुख देने वाले तत्व जिस साहित्य में होंगे वह निश्चय ही लोकमंगलकारी होंगे । सौंदर्य का व्यापक अर्थ लोकमंगल के दिल में निवास करता है । शिव-सत्य-सुन्दर दिल-दिमाग में ही बसा करते हैं । उपन्यास लिखने का अभीष्ट या उद्देश्य यही हुआ करता है कि उसे पढ़कर मानव-समाज जीवन के घटनामय, चरित्रमय और यथार्थमय-आदर्शमय पहलू को मनोरंजक ढंग और रूप में जान बूझ सके । उपन्यास में मनोरंजक पात्रों, घटनाओं, वर्णनों एवं चरित्र-चित्रणों द्वारा अंततः किसी युग-समाज-जीवन सम्मतः अभीष्ट या उद्देश्य का उद्घाटन होता है, होना अनिवार्य भी है । किंतु इसका भार पात्रों, चरित्र-चित्रणों, वर्णनों एवं घटनाओं के सिर नहीं रक्खा जाता वरन उनके द्वारा उद्देश्य तो अपने आप पाठकों के दिल-दिमाग में इस प्रकार विकसित होता जाता है जैसे जल में कमल होता है ।

नीति, सिद्धांत और आदर्श की बातें तो धर्मग्रंथ, शास्त्र, एवं वेदों में पढ़ी-गुनी जा सकती हैं। उपन्यास का सृजन उसके लिये नहीं होता। उपन्यासकार कोई प्रचारक, नेता धर्मवेत्ता या दार्शनिक नहीं होता। वह तो युग-जीवन और समाज का चलता-फिरता किंतु अपने ढंग का मननशील प्राणी होता है। वह जो कुछ देखता है उसे उपयुक्त, सुन्दर एवं सजीव ढंग से अपने उपन्यास में रच देता है। वह जो कुछ कहना चाहता है उसे व्यंजना-वक्रोक्ति और रूपक के माध्यम से कहता है। वह जीवन-दर्शन को भाव-दर्शन में बदलकर कहता है, वह पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा उद्देश्य के मोती बिखेरता है, उन्हें समेटने के लिए हमें छोड़ देता है। हमारी परख-प्राप्ति की यही कसौटी है कि हम उन्हें कितना बीन सकने में समर्थ हैं। हाँ, एक उद्देश्य या अभीष्ट उपन्यास में अवश्य होना चाहिए—उपन्यासकार को उसे अपनाना अनिवार्यतः ध्यान में रखना होगा—कि उसमें समाज, युग एवं जीवन की महानता का वह रूप न व्यक्त हो जाय जिससे लोक-मर्यादा, सद्भावना एवं समाज-प्रतिष्ठा घायल हो जाय। इसका यह आशय नहीं कि उपन्यास को सच्चाई के लिए यथार्थवाद को अपनाना ही नहीं चाहिए। ऐसा नहीं, बल्कि वह यथार्थवाद सामाजिक आदर्श, गौरव एवं मर्यादा का वह परिधान ओढ़ता चले जिससे हमारे आकर्षण में विकार, विषाद एवं वासना का भाव जाग्रत न हो। मु० प्रेमचन्द के उपन्यास इसी आदर्शवाद के प्रतीक हैं। संक्षेप में उपन्यास का अभीष्ट कला की कसौटी पर जीवन को परखना है। यदि उपन्यास का आरंभ और अंत ऐसा है तो वह अपने उद्देश्य या रसानंद में पूर्ण कहा जायगा।

विशेष—हिंदी गद्य के सोपान, अध्याय में से हिंदी उपन्यास का विकास पठनीय है।

कहानी-विवेचन

परिभाषा

कहानी की जो उचिततम परिभाषा हो सकती है वह यह कि कहानी वह संक्षिप्त कथा है जिसमें कोई विचित्र और मार्मिक घटना रील की भाँति सहसा चलकर एक सीमित समय में और कुछ गिनती के पात्रों द्वारा, किसी व्यापक तथ्य की एक प्रभावशाली झलक हमारे मन को दिखाकर औत्सुक्य एवं कौतुहलपुर्ण ढंग से विलीन हो जाती है। अनेक पूर्वीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने कहानी की अपने-अपने ढंग से परिभाषाएँ की हैं जिनमें ये कुछ अधिक संगत एवं विचारणीय कही जायंगी—

गुलाबराय जी का मत है—

"छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति-केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक परन्तु कुछ-कुछ अप्रत्याशित ढंग से उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला कौतुहलपूर्ण वर्णन होता है।"

इस मत के अनुसार कहानी एक वह रचना है जो अपने में निहित प्रभाव या तथ्य एवं चरित्र का कौतुहलपूर्ण कथानक या घटनाचक्र व्यक्त करती है। कहानी के कुशल रचनाकार मु० प्रेमचंद जी का मत है—

"गल्प ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं। × × वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हों। (यहाँ उपन्यास के साथ तुलनात्कक बात कही गई है। लेखक) बल्कि एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है"

इस मत के अनुसार कहानी अपनी शैली, कथासूत्रता, चरित्र-रेखाओं में

एक ही माधुर्य एवं उद्देश्य की पुष्टि करती है तथा वह जीवन के किसी अंग की अभिव्यक्ति है, उसकी इकाई है।।

इसी मत से मिलता-जुलता मत, पाश्चात्य कहानियों के कहे जाने वाले जन्मदाता एडगर एलिन पो का है—

"A short story is narrative enough to be read in a single sitting, written to make an impression, on the reader excluding all that does not forword that impression, complete and final itself."

इस मत के अनुसार कहानी एक संक्षिप्त, प्रभावशाली आख्यान (Fiction) है। सीमित समय, सीमित पात्र और सीमित प्रभावशाली कथानक से पूर्ण!

असल में आधुनिक कहानियों का रूप, उसकी शैली, उसका विधान सर्वथा नवीन है और बराबर वह नवीन हाथों द्वारा नवीनता को प्राप्त हो रहा है। प्राचीन काल में भी कहानियाँ लिखी जाती थीं। चीन की प्राचीन कहानियाँ, पंचतंत्र की कहानियाँ, अरेबियन नाइट्स की कहानियाँ इस बात का प्रमाण है कि आधुनिक कहानियाँ अपने आकार-प्रकार में सोलहआने नई हैं। उनकी यह नवीनता उनकी कोई निश्चित परिभाषा बनाने में कठनाई पैदा करती है। किंतु यह निश्चित है कि कहानी जीवन की, जीवन को प्रभावित करने वाली, कोई संक्षिप्त कथा होती है, जिसका उद्देश्य और अर्थ, उसके कौतुहल एवं औत्सुक्य में समाया रहता है। उसकी कथा, उद्देश्य, अर्थ, औत्सुक्य एवं कौतुहल को कोई कहानीकार कितने अभिनव रूपविधान द्वारा प्रस्तुत करता है, यह उसकी क्षमता और विशेषता की बात है।

प्रादुर्भाव और व्युत्पत्ति

जिस प्रकार उपन्यास का रूप-आकार, विधान की दृष्टि से नया है उस प्रकार कहानी का नहीं। आधुनिक कहानी का आकार छोटा होता है, उसकी कथा एक होती है। उसके पात्र थोड़े होते हैं, उसकी घटनावधि संक्षिप्त होती है। उसमें कौतुहल और प्रभाव का उद्देश्य पूर्ण होता है। इसी भाँति प्राचीन काल में भी कहानी में हुआ करता था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहें तो कहानी कहने-सुनने की भावना मनुष्य की उस आदिम अवस्था में ही जन्म पा चुकी होगी जब वह किसी अविस्मरणीय तीखी-मीठी घटना से दबा-उभरा होगा। मनुष्य अपनी अपबीती के अनुभव को सुनाने में शान्ति पाता है। कहना होगा कि प्राचीन कहानी आज की कहानी की माँ है। किन्तु माँ जैसी हो वैसी ही बेटी हो, यह कहना तो बे सिर-पैर

की बात होगी। वास्तव में आधुनिक कहानी का कलेवर, उसका रूप-परिधान प्राचीन कहानियों की अपेक्षा अधिक सुन्दर एवं सजीव है। निसंदेह आधुनिक कहानियों का रूप-विधान विदेशी तौर-तरीके का है। स्पष्ट शब्दों में वर्तमान कहानी-शिल्प पर पाश्चात्य प्रभाव है। यह प्रभाव भारतीय कहानियों में बँगला से होकर हिन्दी मे आया है। भारत में, प्राचीन काल में कहानी जैसी रचना के लिये कथा और वार्त्ता शब्द प्रचलित थे, आख्यान भी कहा जाता था। किन्तु आख्यान का आकार सम्भवतः बड़ी कथात्मक रचना का अर्थ-बोध कराता था। 'कथा' शब्द किसी घटना के कहने से सम्बन्धित है। और वार्त्ता का अर्थ दो-चार जनों के बीच कही-सुनी जाने वाली किसी नई बात का द्योतक है। वैदिक ग्रंथों में धर्म-दर्शन व व्यवहार विषयक कथाएं-वर्त्ताएँ और आख्यान मिलते हैं।

पुराणों में तो इसके उदाहरण भरपूर हैं। प्राचीन काल में कथा, आख्यायिका तथा वार्त्ता के साहित्यिक और लोकरूप विद्यमान थे। जातक कथाओं में साहित्यिकता देखने को मिलती है। जिनका प्रभाव तो आज भी लोकव्यापी है। वृहत्कथा, कथा सरित्सागर आदि ग्रंथ, कथा-साहित्य का हमारे यहाँ प्राचीन प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। आज लोक-कथाओं (Folk tales) का प्रचलन-प्रकाशन इस बात का प्रमाण है। भारत का प्राचीन प्रादुर्भूत कथा-साहित्य कितना मनोरंजक, शिक्षात्मक एवं साहित्यक था! पंचतंत्र की प्रतीकात्मक कथाएँ अपने में इतनी महान हैं कि उनका आदर विश्व के अनुवाद ने किया है। इन कथाओं में प्रकृति-प्रतीक तथा अर्थ-उद्देश्य भरे पड़े हैं, और पशु-पक्षियों को पात्र बना-बनाकर जीवन की नीति, उसके धर्म और उसके व्यवहार की दिशा दिखाई गई है। कहना होगा कि हमारे भारतीय कथा-साहित्य का प्रादुर्भाव कोई नवीन बात नहीं वरन् उसकी उत्पत्ति प्राचीन कथा, वार्त्ता एवं आख्यायिका के गर्भ में छिपी थी। जताक कथाओं का सृजन ईसा से कई शताब्दी पूर्व हो गया था। सम्भवतः ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में, गुप्त सम्राज्य के अन्तर्गत, महाकवि कालिदास ने इस बात का संकेत दिया है कि महा प्रतापी राजा उदयन कथा का कोविद था—"**उदयन कथा कोविदिग्राम वृद्धान**" (उद्धरित, 'काव्य के रूप' गुलाबराय)

भारत की भाँति विदेशों में भी कथा-साहित्य का सृजन समृद्धि से हुआ था। चीन की कथाएँ आज सबसे प्राचीन कही जायेंगी। ओडियस, ईसप, आदि का कथा साहित्य विदेशी कथा-साहित्य के प्रादुर्भाव का प्राचीनतम उदाहरण है। इन कहानियों में युद्धों, यात्राओं, भूत-प्रेतों, शासकों और संघर्षों का साहसमय व्यौरा है। धर्म तथा प्रेम का भाव भी इनमें प्रकट होता है। मिश्र, रूस, फ्रैंच का प्राचीन कथा साहित्य भी समुन्नत रूप में लिखा हुआ मिलता है। अँग्रेजी में कथा-वार्त्ता के लिये

शब्द प्रचलित है 'Tale'। यह शब्द भी हमारे यहाँ के कथा-वार्त्ता तथा आख्यायिका केअर्थ-बोध का पर्याय सा लगता है। हो सकता है कि जो Tell अर्थात् कहने के लिये रोचक ढंग से कहा गया हो उसी का नाम Tale पड़ गया हो। विदेशी कहानी कथा साहित्य की उत्पत्ति और प्रादुर्भाव के लिये यह तथ्य विचारणीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशों और भारत में कथा-साहित्य का प्रादुर्भाव और उसकी व्युत्पत्ति बड़ी प्राचीन है और जिसका संस्कार किसी न किसी मात्रा में आधुनिक युग की कहानियों में रसा-बसा रहता है। यद्यपि वर्त्तमान कहानियों का नवीन ढंग से सर्जन १८ वीं १९ वीं शताब्दी के विवेकसम्मत और कलासम्मत भावों-विचारों का परिणाम है। डी० आर० सूद द्वारा सम्पादित A Desk Book of short stories किताब के Introduction में पूर्वीय-पाश्चात्य प्राचीन-नवीन कहानियों का—इतिहास कम से कम शब्दों में दिया गया है; जिसे जान लेना ज्ञानवर्धक होगा—

It is as old as mankind, since the desire to tell stories and to listen to them is one of the qualities inherent in human nature. If we examine the literatures of the world, we find that stories come almost first of all. Bards in Greece, Rome and other ancient lands have sung in ballads the glories of their gods and heroes. India had its Panch Tantra. Later it developed other story forms—Legends and Folk-tales—which travelled through wistern Asia and broke upon an astonished west in from of Arabian Night Entertainments. Indian scriptures, like the Bible, are a repository of every form of short story. Among the first books which student of English litrature reads in the orignal or in translation is chaucer's Canterbury Tales which belongs to the fifteenth century. Shakespeare himself is belived to have gone for the material of his plays to 'Novels' written by his contemporaries. × × × Thus, the story form of literature, in the east and the west has a long history behind it. But the short story as we understand it also the one literary form which has grown and developed in the nineteenth and twentieth centuries."

उक्त उदाहरण से भी यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि पूर्व और पश्चिम में कथा-साहित्य की परम्परा बड़ी पुरानी है किन्तु आधुनिक कहानी का ढाँचा नया है जो १९ वीं शताब्दी में विकसित हुआ।

तुलना

यों तो कहानी का आकार लघु होता है किन्तु उसके उस लघु-आकार में ही युग-जीवन के किसी भी खट्टे-मीठे तथ्य का पैना तथा प्रभावशाली चित्रण सजा सकता है। इस रूप में वह साहित्य के प्रत्येक अंग की अपेक्षा पूर्ण रचना-कृति कही जा सकती है। Mr. Ellery Sedgwick ने सत्य ही कहा है—

"The Short Story has become all sorts of things, situations, episodes, characterization or narrative—in effect, a vehicle for every man's talents"

वस्तुतः प्रत्येक साहित्यांग जीवन के किन्हीं निर्धारित तथ्यों को भली भाँति व्यक्त कर सकता है। जैसे, महाकाव्य जीवन के किसी विराट् आदर्श को, उपन्यास जीवन की किसी विशेष समस्या को, प्रगीत भाव की किसी इकाई को, नाटक जीवन के किसी मुख्य 'रस' को। किंतु कहानी में अलग तरह से करुणा, घृणा, वेदना उल्लास, हास्य और व्यंग्य, सभी कुछ व्यक्त किया जा सकता है। कहानी की यही विशेषता अपनी है। कहानी में उपन्यास की भाँति पात्र, घटनायें, कथानक, वर्णन, जीवनदर्शन, कहीं ऐतिहासिक चरित्र-चित्रण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, सभी कुछ होता है। अतः उपन्यास से उसकी संक्षिप्त तुलना करके यह जान लेना उचित रहेगा कि वह उससे कितना सादृश्य एवं कितनी अपनी स्वतन्त्रता भी रखती है।

कहानी और उपन्यास

कहानी और उपन्यास, दोनों ही में करीब-करीब एक जैसे तत्व (Elements) होते हैं। जैसे—पात्र, कथावस्तु, चरित्रचित्रण, वातावरण, उद्देश्य और शैली। दोनों में ही युग-जीवन का दृष्टिकोण प्रधान रहता है। यह सादृश्य होते हुए भी कहानी और उपन्यास एक नहीं, दोनों की अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता और महत्ता है। उपन्यास महाकाव्य के निकट बैठता है और कहानी प्रगीत काव्य के निकट। उपन्यास में घटनात्मक मोड़ कई होते हैं। चित्र-विचित्र व रंग-ढंग के पात्र होते हैं। कथासूत्र पतंग की डोर की तरह लम्बा होता है। पात्र प्रायः वर्गगत होते हैं। चरित्र-चित्रण रंग-बिरंगा होता है। उद्देश्य परीक्षार्थी के पास-फेल होने की भाँति स्पष्ट होता है। जबकि कहानी में किसी एक तीव्र, करंट-सी घटना की सनसनीपूर्ण झाँकी होती है। शतरंज के विशेष मोहरों की तरह के पात्र होते हैं, कथासूत्र सुई के रेशम के धागे की भाँति बारीक, सूक्ष्म, कोमल किन्तु सुन्दर, सुलझा हुआ होता है। पात्र किसी एक स्वतन्त्र जाति के होते हैं, चरित्र-चित्रण गुलदस्ते की भाँति सजासँवरा होता है और उद्देश्य, औत्सुक्य एवं कौतूहल के झीने-झीने रंगीन आवरण से झाँकता है। उसे देखने-समझने

के लिए पाठक की पूर्ण जिज्ञासा काम करती है। इसके अतिरिक्त कहानी में शब्दों, कल्पनाओं, विवरणों की संक्षिप्तता और एकतानता होती है किन्तु उपन्यास में इनका फैलाव होता है। संक्षेप में उपन्यास एक उपवन है और कहानी एक क्यारी!

आजकल कुछ लघु-कथाएँ, रेखा-चित्र एवं गद्यगीत भी ऐसे लिखे जा रहे हैं जिनकी कुछ विशेषतायें कहानी से मिलती-जुलती सी लगती हैं। किन्तु कहानी में कथावस्तु की कल्पना, और उसके शिल्प की स्थापना न तो रेखाचित्र (sketches) से मिलती है न गद्यगीत से और न लघु-कथाओं से। स्केच या रेखाचित्र किसी व्यक्तित्व के यथार्थ आधार पर खड़ा होता है। अतः उसमें वह तीव्रता वह प्रभाव और वह कौतुहल नहीं आने पाता जो कहानी के प्राण-तत्व है। गद्यगीत तो केवल मधुर भावों की अभिव्यक्ति में ही विशेष है। हाँ लघु कथाओं में कहानी की कुछ विशेषतायें आ जाती हैं किन्तु उसमें कथावस्तु के विकास में वह शिल्पसङ्गति नहीं आ पाती जो कहानी के अन्त तक आकर आ पाती है और उसे पूर्णत्व प्रदान करती है।

कहानी-तत्व

उपन्यास की भाँति कहानी के भी सामान्यतः ये छः तत्व कहे गये हैं— **१ कथानक, २ पात्र एवं उनका चरित्र, ३ संवाद या कथोपकथन, ४ देशकाल एवं वातावरण, ५ शैली, ६ अभीष्ट या उद्देश्य।**

इनका विवेचन इस प्रकार है—

कथानक कहानी का कथानक किसी कौतुहलपूर्ण घटना या समस्या से उद्भूत हुआ होता है। उसकी प्रथम विशेषता यही होती है कि वह संक्षिप्त होकर भी अपने में एक विराट, कौतुहलपूर्ण वातावरण की सृष्टि रमाए-बसाए रहता है। कथानक ऐतिहासिक, काल्पनिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के किसी भी विषयसे सम्बन्धित हो सकता है किन्तु वह आंशिक ही होगा और आंशिक होते हुए भी वह अपने प्रभाव और अपने वार में अचूक होता है। पाठक उसे पढ़कर कुछ समय के लिए निश्चल हो जाता है। सफल कहानी के कथानक की विशेषता यही समझनी चाहिये कि वह पाठक को अपनी स्थिति में उस समय तक के लिए आत्म-मग्न रक्खे, जब तक वह चलता रहे। यों समझिये कि यदि उपन्यास का कथानक पानी में बहता हुआ एक पोत है तो कहानी का कथानक ऊँचा उड़ता हुआ वायुयान है। कहानी के कथानक में अनावश्यक बातों का आना बड़ा हानिकारक होता है। श्रेष्ठ कहानियों में कथानक की एकसूत्रता अनिवार्य होती है। प्रसाद जी की 'ममता' कहानी का कथानक इसका सफल प्रमाण है।

कहानी का कथानक आदि से अन्त तक तीन प्रकार से चलता है। प्रारम्भ में वह प्रायः वातावरण का एक अज्ञात-सा टच लिये रहता है, मध्य में वह अपने औत्सुक्य एवं कौतुहल की चरम सीमा (Climax) पर अवस्थित होता है, और अंत में वह जल में तैरते-तैरते हुए 'डुप' से डुबकी लगाते दीपक की तरह ओझल हो जाता है, और एक चिरआशा और चिर-प्रतीक्षा की टेक सी लगाकर पाठक को कुछ क्षण के लिए विमुध, विमुग्धावस्था में छोड़ जाता है। इस प्रकार का कथानक श्रेष्ठतम कहानियों का ही हुआ करता है। होता प्रायः यह कि है कहानियाँ केवल कौतुहल एवं औत्सुक्य के मध्यान्तर (interwel) में ही समाप्त हो जाया करती हैं। पर यह बात सफल कहानियों के हित में नहीं बैठती। इसके अतिरिक्त जहां तक हो सके कहानी का कथानक यदि किसी नए विषय, नई दृष्टि और नई समस्याओं के अनुकूल चुना जायगा तो अधिक प्रभावशाली होगा। जैसे आधुनिक युग की नई समस्याएँ हैं नारी अधिकार की, विश्वशान्ति की, वैज्ञानिक उन्नति की। इसी प्रकार की ऐतिहासिक, अज्ञात-घटनाओं के आधार पर भी भौतिक कथानक गढ़े जा सकते हैं। आजकल प्रायः युग-जीवन के प्रगतिशील विषयों पर कहानीकार अपनी कहानियों के कथानक चुन रहे हैं। जैसे, यशपाल जी की 'तुमने क्यों कहा कि मैं सुन्दर हूँ' कहानी का कथानक है। नई प्रतिभाओं के द्वारा यह काम सफ़ाई से चलता दीख रहा है। धर्म-युग, हिन्दुस्तान व कहानीकार आदि पत्र-पत्रिकाओं में की कहानियों में नए कथानकों के snapshots खूब देखने को मिल रहे हैं। यह प्रगति शुभ कही जायगी।

पात्र एवं उनका चरित्र

आधुनिक युग, जीवन की दृष्टि से कर्मसंकुल है। हम किसी मनुष्य की समस्याओं तथा घटनाओं से पहले तो प्रभावित ही नहीं होते, क्योंकि किसके पास इतना समय है, और यदि प्रभावित भी होते हैं तो वह उसके चरित्र-बल के आधार पर। सम्भवतः यही कारण है कि आज कहानी में घटना से अधिक चरित्र-प्रकाशन को महत्व दिया जाता है। कथानक का महत्व यदि कहानी में बीज रूप में है तो चरित्र का महत्व फल रूप में। कहने का तात्पर्य यह है कि चरित्र-चित्रण कहानी का एक विशेषतत्व है। चरित्र का प्रर्दशन पात्र करते हैं। कहानी में पात्र भी कई प्रकार के होते हैं— एक तो वे पात्र, जिनकी सृष्टि लेखक करता है। किन्तु उनकी सत्ता स्वतंत्र होती है। वे अपने चरित्र का आप प्रकाशन करते हैं। लेखक का उनपर और उनके चरित्र पर कोई दखल नहीं रहता। जैसे, चेखव की 'एक कलाकार की कहानी' शीर्षक कहानी में बोल्शेनीनोव पात्र कहता है—

"वह मुझे पसन्द नहीं करती थी। मैं उसे इसलिये नापसन्द था क्योंकि मैं प्राकृतिक दृष्यों के चित्र बनाने वाला चित्रकार था और अपने चित्रों में किसानों के दुखों का चित्रण नहीं करता था और यह, जैसा कि उसका विचार था, मैं उन बातों की तरफ से उदासीन था जिसमें उसकी गम्भीर आस्था थी।" (अनुवादक राजनाथ एम० ए०) इस प्रकार के पात्र और उनका चरित्र-चित्रण अधिक स्पष्ट होता है। उसके अलावा कहीं-कहीं कहानीकार भी पात्रों के चरित्र पर अपनी लेखनी की सीधी लाइट डाल देता है। किन्तु यह लाइट कुछ झुटपुटी-सी होनी चाहिए, अधिक तेज नहीं। नहीं तो कहानी का मज़ा किरकिरा हो जाता है। इस प्रकार के चरित्र-चित्रण को 'सांकेतिक' कहते हैं। "स्वर्ग के खन्डहर में" शीर्षक कहानी में प्रसाद जी इसी प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

"बहार उस स्वर्ग की अप्सरा थी। विलासिनी बहार एक तीव्र मदिरा की प्याली थी, मकरंद-भरी वायु की झकोर आकर उसमें लहर उठा देती है। वह रूप का उर्मिल सरोवर गुल उन्मत्त था। बहार ने हंसकर पूछा—"यह स्वर्ग छोड़कर कहां चलोगे ?"

कहानी की शैली में लिखे रेखाचित्रों में स्वयं लेखक आप अपने को विशेष दृष्टा के रूप में पात्र चुनता है और प्रथम पुरुष के अंर्तगत अपने चरित्र का बड़ी कुशलता से चित्रण करता है। अपने ही दृष्टिकोण की परिधि में वह अपने साथी, कुछेक पात्रों का भी चरित्र व्यक्त करता है। इस प्रकार के चरित्र-चित्रण का प्रभाव तथा गुण पैना होता है। बशर्ते कि लेखक उसे ईमानदारी से व्यक्त कर रहा हो। किन्तु खेद है कि इस शैली में हुई, हमारे यहाँ कहानी-रचना कम देखने में आती है।

पात्रों के चरित्र को अधिक स्पष्ट करने के लिये कहानी में कथोपकथन और उनका क्रियाव्यापार भी बड़ा सहायक होता है। पर वह तभी जब संगत, संक्षिप्त सधा हुआ और सरल हो। अधिक गूढ़ कथोपकथन एवं अधिक उलझा हुआ कार्य-व्यापार पात्रों को नादान एवं उनके चरित्र को निर्जीव सिद्ध कर देगा। संक्षेप में, कहानी के पात्र और उनका चरित्र-प्रकाशन सजीव, स्वभाविक, सरल, सहज और संक्षिप्त होना चाहिये, और जहाँ कोई ऐसी अड़चन या अनिवार्यता अनुभव हो कि उसे अधिक स्पष्ट या प्रभावशाली बनाना ही है तो कहानीकार को वहाँ सँभाल-सँवार कर कलम चलानी होती है ताकि कहानी के पात्र और उनका चरित्र-चित्रण मुर्दा चित्र न बन जाये वरन यह कि वह और सुन्दर हो जाय। कहानी की सफलता के लिये इसका उसे पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा।

संवाद या कथोपकथन

कहानी में चरित्र के विकास और कथा के गतिक्रम की प्रतिष्ठा के लिये सुन्दर संवाद या कथोपकथन का होना नितांत अनिवार्य है। कहानी में कथोपकथन ही एक ऐसा प्रमुख साधन है जिसके द्वारा हम उसके पात्रों से अपना हार्दिक नाता जोड़ सकते हैं, उनके आदर्श और यर्थाथ दृष्टिकोण को पहचान सकते हैं। यदि कहानी में सुन्दर कथोपकथन न होगा तो कहानी पढ़ते हुए हमें ऐसा लगेगा जैसे एक्सप्रेस ट्रेन के बजाय हम मालगाड़ी में बैठे जा रहे हैं। कथोपकथन की अपनी महत्ता और विशेषता कहानी में यह है कि मनोवैज्ञानिक ढंग से वह हमारे हृदय में सुप्त-गुप्त भावों-विचारों को मुखरने की प्रेरणा देता है। कहीं सजीव कथोपकथन को सुनकर जिस प्रकार हमें भी अपने विचारों को मुखरित करने की लालसा होती है वैसे ही कहानी के पात्रों का कथोपकथनक पढ़कर हम उस पर कुछ सोचने-समझने और अमल करने और फिर उसको प्रकट करने की प्रेरणा पाते हैं। मेरे अनुभव की बात है, जैसे किसी-किसी अच्छे गीत की भावमय पंक्ति एकांत में मुखरित होने को विवश करती है उसी प्रकार अच्छे कथोपकथन को अपने साथियों में किसी विशेष मौके पर दुहराने को भी जी करता है। हम उसे मौका पाकर झट से दुहरा भी देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कथोपकथन लिखने में कहानीकार को बड़ा सिद्धहस्त होना चाहिए। अच्छा कथोपकथन वह है जिसे पढ़कर हमें ऐसा अनुभव हो कि वह वही है जैसा कि हम उस परिस्थिति में स्वाभाविक शिष्ट ढंग से बोलते-सुनते हैं। अच्छे कथोपकथन की मुख्य पहचान यह है कि वह हमारी जुबान पर चढ़ जाय और स्मृति पर छा जाय। संक्षेप में, कहानी के कथोपकथन को संक्षिप्त, सीमित, स्वभाविक और नाटकीय भी होना चाहिए। अच्छे कथोपकथन का एक उदाहरण प्रसाद जी की आकाशदीप कहानी से प्रस्तुत है।

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

इस उद्धरण में नाटकीयता भी है, संक्षिप्तता भी और स्वाभाविकता भी। और यही सब कुछ सफल कथोपकथन के तत्व हैं।

देशकाल एवं वातावरण

कहानी में कुछेक पात्रों से सम्बन्धित किसी एक घटना का, सीमित अवधि में, प्रकटीकरण होता है। ऐसी स्थिति में उसकी देशकाल और वातावरण की परिधि बड़ी

छोटी होती है। उसीके भीतर-भीतर, भूल-भुलैयाँ जैसा आनन्द और उद्देश्य, उसे पूर्ण करना होता है। अतः उसमें विविध देश-कालीन बातों और स्थितियों का कोष ठूँसना वर्जित है। किसी भारतीय प्रेम-कहानी में विदेशी वातावरण, उसके पात्रों का चित्रण कभी भी संगत और सुन्दर न लगेगा। या वर्तमान काल की किसी स्थिति से सम्बन्धित कहानी में यदि हम स्वर्णिल, गुप्तकाल सम्बन्धी किसी स्थिति या अवस्था का सम्बन्ध जोड़ेंगे तो वह पहले तो जुड़ेगा ही नहीं और जुड़ेगा तो गाँठ पड़ जायगी। कहानी में उपन्यास की भाँति देशकाल और वातावरण के चित्रण की स्वतन्त्रता या छूट नहीं होती। कहानी के वातावरण का चित्रण सूक्ष्म और मनभावन होता है। कभी-कभी तो यह वातावरण इस खूबी के साथ चित्रित किया जाता है कि सारी कहानी का रससिंचन उसी में हो गया है, पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होने लगता है। इस वातावरण में हुई सृष्टि काल्पनिक और यथार्थ—दोनों प्रकार की हो सकती है। 'रस' उपलब्धि की दृष्टि से वातावरण की कुशल-सृष्टि बड़ी उपयोगी बन पड़ती है। लेखक की कहानी "यथार्थ के पीछे" से एक उद्धरण प्रस्तुत है—

"उपवन में एक कली फूली। अनेक भँवरे अनाहूत उस पर मँडराने लगे। उपवन में एक संगीत गूंज उठा। कली खिलने लगी, भँवरे एक साथ उस पर टूटने लगे। कली का सौरभ वायु पी गया, रस को भँवरे चस गए; और कली का शेष—वह किसी को नहीं, मुझे मिला! क्योंकि कला भी एक कली रही थी। उसकी यौवन-की नीरस और बिखरती हुई पंखुरियों को मेरी नितान्त अपेक्षा थी।"

इस प्रकार के वातावरण-चित्रण में कहानीकार गद्य-गीत की-सी भावात्मक मिठास ले आता है। प्रसाद जी इस कला में निपुण थे। संक्षेप में, कहानी के अंतर्गत देशकाल और वातावरण का चित्रण इस प्रकार का होना चाहिए जिसमें न तो धरती के कुलावे आकाश से मिलें और न ऐसा ही कि वह रंग-रसहीन, इतिवृत्त वर्णन हो जाय। उसे ऐसा होना चाहिए जो कहानी का सुरम्य रूप हमारी आँखों में अंकित कर दे, उसे हम कभी भूल न सकें।

शैली

शैली के सम्बन्ध में हम उपन्यास वाले प्रकरण में सूक्ष्म-संक्षिप्त विवेचन कर आए हैं। यहाँ इतना ही कहना चाहेंगे कि शैली हर लेखक की भिन्न-भिन्न होती है। शैली व्यक्ति-प्रधान होती है। किंतु उसके अंतर्गत साहित्य-रचना के वह सभी उपकरण आते हैं जिससे सुन्दर साहित्य की सर्जना हुआ करती है। शैली एक प्रकार से भाषा, अर्थ, अलंकार, लक्षणा, व्यंजना, शब्द-शक्ति, ओज, माधुर्य, प्रसादगुण एवं बुद्धि, भाव, और कल्पना तत्व को साहित्य के द्वारा उपयुक्त से उपयुक्ततर और उपयुक्ततम ढंग से प्रेषित करने वाली मंजूषा है। किसी भी लेखक की सृजनात्मक सफलता और अस-

फलता की कसौटी उसकी शैली ही है। कहानी में शैली की सुन्दरता होना बड़ी अनिवार्य बात है। पहले तो कहानी की भाषा क्लिष्ट और पैचीदा नहीं होनी चाहिए। यदि वह ऐसी होगी तो कहानी का विद्युत् प्रवाह ठोकरें खाता चलेगा और पाठक पुस्तक पटक कर, पढ़ना छोड़ देगा। कहानी की भाषा सशक्त, सजीव और सबल होनी चाहिए। उसमें चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ, मुहावरे, अलंकृतता, वर्णन की कला और नाटकीयता की समझ-बूझ होनी चाहिए। इसके पश्चात् उसके वर्णन में गूढ़ दर्शन, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और गम्भीर चिंतन नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा होगा तो कहानी पाठक को ऐसी लगेगी जैसे उसके सिर के ऊपर किसी ने भारी गठरी लाद दी हो। फलतः पाठक उससे उदासीन हो जायगा। कहानी का वर्णन सुन्दर रखने के लिए कहानीकार को उसके वर्णन में रंग-बिरंगे चित्रमय भाव-विचार रखने होते हैं। इतस्ततः स्वाभाविक अलंकार, शब्दों की लक्षणा, व्यंजना, शक्ति, हास्य, व्यंग्य, विनोद, आवेग और औत्सुक्य का पुट कहनी के वर्णन को सुन्दर और कलात्मक बना देता है, उसके प्रभाव और प्रेषण को साधारणीकृत कर देता है। इस प्रकार की सुन्दर शैली में आचार्य जगदीशचंद्र जी लिखित 'कमला' कहानी का एक अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है—"**अपने वास्तविक रूप में मेरे हृदय में उपस्थित हुए हो नाथ! आज इस कोठरी में बन्द रहकर भी, मेरे कितने निकट हो।**"

राजकुमार हर्ष से गद्गद् हो गये। वह अपने को भूल गये और आनन्द के उल्लास से, कमला को वक्षस्थल में छुपाने के लिए उन्होंने अपने हाथ फैला दिये।

कमला ने कहा—'नाथ! तुम बन्दी हो।"

शैली की दृष्टि से हिंदी में प्रेमचन्द, प्रसाद, भगवतीप्रसाद वाजपेई, जैनेन्द्र एवं यशपाल जी की कहानियाँ बड़ी उत्कृष्ट कोटि की कही जायेंगी।"

रचनात्मक दृष्टि से कहानी लिखने की कई शैलियाँ हैं। विशेषतः ऐतिहासिक चरित्र-शैली, पत्र-शैली और डायरी-शैली अधिक प्रचलित हैं। आधुनिक कहानियों की शैली, वर्णन, विषय और कलात्मकता की दृष्टि से काफी प्रगतिमय लगती है। जीवन के गहरे से गहरे दर्शन, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और यथार्थ-कलात्मक-चित्रण को कहानीकार सफल और मौलिक ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं। यह श्रेय शैली की अभिनवता को ही देना होगा।

अभीष्ट या उद्देश्य

कहानी का प्रमुख अभीष्ट या उद्देश्य, किसी समयके समाज और जीवन के उस विशेष रहस्यात्मक-पक्ष का उद्घाटन करना होता है जिसकी अभिनव रीति से की गई पुनरावृत्ति मनुष्य-समाज को आनन्द और अनुभव से अभिभूत कर देती है। हमारे

जीवन में असंख्य घटनाएँ हैं, अनंत अनुभव हैं और अज्ञात् सुख-दुख जनित आनन्द तथा अवसाद का कोष छिपा हुआ है। साधारणतः हर मनुष्य इस तथ्य से परिचित नहीं होता, और होता भी है तो वह उसकी व्यापक महत्ता का मूल्य आंकने में असमर्थ होता है। कहानीकार के कहानी रचने का प्रमुख उद्देश्य यही होता है कि वह मानव-जीवन के अतीत और वर्तमान की बिखरी हुई असंख्य घटनाओं, अनंत अनुभवों और अज्ञात् आनन्द-अवसाद की अनुभूतियों की निधि को अपनी पारदर्शी आँखों से देखकर, मानस से परखकर और समाजिक कसौटी पर आँककर और उनमें से अधिकतम उपयोगी को तत्व चुनकर कहानी की माला के रूप में पिरोकर भेंट कर दे। कहानीकार कहानी को इस उद्देश्य से नहीं लिखता—उसे लिखनी भी नहीं चाहिए—कि वह जन-समाज को नीति का पाठ सिखएगी, समाज का शास्त्र पढ़ायेगी, धर्म-दर्शन के आसन पर बिठलायेगी। नहीं, वह कहानी इस उद्देश्य से लिखता है कि उसकी कहानी मनुष्य के मन के उस मर्म को छू दे, झकझोर दे, जिसमें रहस्य रमा है, आदर्श सुप्त है, यथार्थ गुप्त है, चेतना मूक है और आनन्द सुषुप्त पड़ा है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की 'आत्माराम' कहानी पठनीय है। वह मनुष्य के दुर्बल-मन में छिपी सर्वभूत करुणा को सुप्त से जाग्रत कर देती है। मौन-संवेदन को मुखर-प्रेम में बदल देती है। रहस्य में छिपा सुख, दुख की दुविधा को भी आत्मवत् बना देता है। कहानी का उद्देश्य तद्जनित आनन्द को प्रदान करना है। हमारा कहना है कि कहानी का उद्देश्य शिक्षात्मक नहीं होता, भावात्मक होता है। श्री जेनेन्द्र जी की 'अपना-अपना भाग्य' कहानी अपने मनोरंजन के पीछे मानव-समाज की वर्गवादी निष्ठुरता और दयनीयता का एक ऐसा चित्र लिए है जिस पर दृष्टि पड़ते ही पाठक की आँखें भीग जाती हैं। गुलेरी जी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था, का उद्देश्य मनोरंजन तो है ही किंतु उसके अंक में भारतीय आदर्श-प्रेम का झाँकता हुआ प्रतिबिम्ब हमारी कामुकता की कातिल-वृत्ति का बहिष्कार करता-सा प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी के दो उद्देश्य होते हैं—पहला मनोरंजन का और दूसरा वृत्ति-परिमार्जन का।

केवल मनोरंजन के उद्देश्य से पूर्ण कहनायिाँ कुछ देर युग की हवा में उड़ सकती है किन्तु फिर कालकवलित हो जाती हैं। किन्तु जिन कहानियों का उद्देश्य मनोरंजन के साथ मानव-समाज की वृत्ति-परिमार्जन का होता है, वह अमर कहानियाँ होती हैं। प्रेमचन्द तथा प्रसाद ने कुछ इसी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। किन्तु यहाँ हमें एक बात और ध्यानमें रखनी होगी, वह यह, कि मनोरंजन के साधन अधिक स्थूल होने के कारण अधिक उपलभ्य होते हैं। किन्तु मानववृत्ति को परिमार्जित करने वाले साधन अधिक सूक्ष्म और अधिक दुर्लभ होते हैं। फिर कहानी में दूसरे पक्ष को पूर्ण करने के लिए क्या कलाकार को अभिव्यक्तिमें अस्वाभाविक और परिश्रममय न होना होगा ? और यदि वह ऐसा हुआ तो कहानी की कला मर जायगी। कला में अस्वाभाविकता और

परिश्रममयता का योग कहाँ ? वास्तव में इसी बात में असली और नकली कलाकार की परख है। अपने वांछित उद्देश्य की पूर्ति में एक सफल कलाकार वही अभिव्यक्त करता है जो सरस हो, साधनामय हो, सम्भव हो। सरसता लाने के लिए वह मधुर भाषा, उत्कृष्ट कल्पना, विषय का अनुकूल चुनाव और अभिव्यक्ति का स्पष्ट गुण रखता है। साधनामय रखने के लिए वह यथार्थ का कलात्मक रूप, आवेश का ग्रहणीय संकेत एवं लक्ष्य का मनोरम चित्र चित्रित करता है। सम्भाव्य रखने के लिए वह सत्य का समीपवर्ती तथ्य, लोकसम्मत चरित्र-चित्रण एवं विचार-वातावरण का मौलिक मानचित्र बनाता है। इन सब गुणों से सम्पादित कहानी ही अपने लोकमान्य उद्देश्य की अभिव्यंजना में सफल कही जायगी। सरल शब्दों में कहानी का उद्देश्य मानव-जीवन के किसी महान सत्य, उत्कृष्ट कल्पना एवं आदर्श-यथार्थ का पक्ष उद्घाटित करना होता है। युग-समाज के भौतिक आग्रह के फलस्वरूप यह भी कहा-सुना जाता है कि कहानी का उद्देश्य मात्र युग-जीवन की अल्प और अचूक व्याख्या होनी चाहिये। यह आग्रह इतना बढ़ा है कि बहुत से समालोचकों की धारणा है कि कहानी का ध्येय यही होना चाहिए कि उससे एकमात्र सर्वहारावर्ग (Proletariat) की भलाई सम्पादित हो। और बाकी जो कुछ हो, वह संघर्षकारी हो, नग्न-यथार्थ का चित्रण हो। पर यह सब कुछ सम्पूर्ण, सफल जीवन का व्यापार नहीं। इसकी अभिव्यक्ति भी कहानी में होनी चाहिए किन्तु प्रगतिशीलता के नाम पर राजनीतिक स्टंट का खेल स्पृहणीय नहीं हो सकता। कहानी में युग-जीवन की अभिव्यक्ति विशुद्ध साहित्यक उद्देश्य को ध्यान में रखकर की जानी ही उचित है और सम्पूर्ण साहित्य का उद्देश्य सत्-हित है ; आनन्द और कल्याण दोनों का युगल चित्र ! कहानी में इस चित्र की क्षणिक और छोटी-सी झलक मिलनी ही चाहिये। कहानी अपने इ ी उद्देश्य के आसरे सौभाग्यवती रह सकती है।

कहानी का आदि-अंत

कहानी में रोचकता और कौतुहल का समागम होना बड़ा आवश्यक है। कहानी में उपन्यास की भाँति कई घटनात्मक या चरित्रात्मक मोड़ नहीं हुआ करते। ऐसी दशामें भी उसे पूर्ण रोचक, कौतूहलपूर्ण और आकर्षणीय होना होता है। इसकी सिद्धि में कहानी का आदि और अन्त ही सहायक होता है। उसका आदि और अंत किस रीति-रूप में मनमोहक होगा, इसके लिए मेरे मस्तिष्कमें एक कल्पना उठ रही है। कल्पना कीजिये कि आप एक ऐसे राजभवन में प्रवेश पा रहे हैं जिसके भीतरी-कक्ष में कोहनूर हीरा है। आप प्रवेश द्वार पर आते हैं तो देखते हैं कि वह फूलों से सजा है। उसके मध्य से आ ती सुरभि और वहाँ के झिलमिलाते दीपक आपका अह्वान

कर रहे हैं। आप भीतर प्रवेश करते हैं। स्थल-स्थल पर आपको सजीव चित्रावलियां, अलंकृत मूर्तियाँ और जगमगाती हीरक-लड़ियाँ स्पर्श करती हैं, मोहती हैं। पर आप उन सबसे हँसते-खेलते, पूछते-पूछते उस भीतरी प्रकोष्ठ में पहुँचते हैं जहाँ आपको कोहनूर देखने की उत्कण्ठा है। वहाँ जाकर सहसा प्रकाश मंद पड़ जाता है और उसमें आप को हर वस्तु कोहनूर ही कोहनूर दिखलाई पड़ती है। आपकी आँखें मचल उठती हैं और मन रीझ उठता है। आप अज्ञात उपलब्धिके मोह में खो जाते हैं। लगता है, वहाँ आपने अपना मनचाहा पा लिया है। बस, कहानी के आदि-अन्त को आप इस रूपक के सहारे समझ सकते हैं। कहानी का सम्पूर्ण कथानक एक महल है। कहानी का आदि-अंश उसका सुसज्जित एवं आकर्षक प्रवेश-द्वार है। उसका मध्य-भाग चित्रांकित-शिल्पांकित वर्णन का मार्ग है और उसका अंत है वह भीतरी-कक्ष जहाँ आपके आकर्षण एवं कौतुहल का केन्द्र, कोहनूर हीरा रक्खा है। वहाँ पहुँचकर आपका मन विमुग्ध हो जाय, किसी अज्ञात प्राप्ति की भावना में खोजाय, यही कहानी का लक्ष्य है, रस है, उद्देश्य है? कहानी में इस प्रकार का आदि-अन्त रखना एक महान कहानीकार का ही काम है। बहुत सी कहानियों का आदि, वातावरण के चित्रण तथा अलंकरण की दृष्टि बड़ा सुन्दर और आकर्षक होता है। यहाँ कहानीकार को कवि की वर्णनशक्ति का आश्रय लेना होता है। जैसे यशपाल जी की 'मक्रील' कहानी का आरम्भ हुआ है। प्रसाद चूँकि महान् कवि थे, अतः उनकी कहानियों का प्रारम्भ इस दृष्टि से बड़ा उत्कृष्ट बन पड़ा है। कहानी का आरम्भ कभी भी दार्शनिक या इतिवृत्तात्मक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करते हुए न करना चाहिये, नहीं तो वह बोझिल हो जायगी। मार्मिक कथोपकथन के माध्यम से भी कहानी का प्रारम्भ अच्छा बन पड़ता है। बहुत सी कहानियों में विषय का तात्विक-निचोड़ भी प्रारम्भ में देखने को मिलता है। किन्तु इस प्रकार के आरम्भ में भावना का सारस्य होना अनिवार्य है। कल्पना और मनोवैज्ञानिक-तत्वों का भी सहारा लिया जा सकता है, पर अधिक नहीं। उदाहरण के लिए भगवती प्रसाद जी वाजपेई की लिखित 'अंगारे' कहानी पुस्तक में बहुत सी इस प्रकार की कहानियाँ पढ़ी जा सकती हैं। संक्षेप में, कहानी का आदि-अंश अधिक रोचक, सारगर्भित और स्वाभाविक होना चाहिये। कौतूहल और आकर्षण को केन्द्रित करने वाला कारण, कहानी का आरम्भ ही होता है। अतः उसकी सफलता पर कहानी का साफल्य बहुत कुछ आधारित होता है।

कहानी का अन्त, कहानी की सफलता-असफलता का अन्तिम फैसला होता है, और वह फैसला होता है कहानीकारकी प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा का ज्वलित प्रश्न भी! ऐसी दशामें कहानीका अन्त अधिक मर्मस्पर्शी, रहस्यपूर्ण और कथानकके गंतव्यके सुघर-रूपमें होना चाहिये। यह अन्त अलग-अलग ढंग से किया जाता है। किसी कहानी का अन्त आदि,

के चित्रण और कहानी के शीर्षक को चमत्कृत कर देता है। किसी कहानी का अन्त किसी रहस्य का व्यंजना से संकेत भी करके विलीन हो जाता है। किसी कहानी का अन्त किसी उद्देश्य को सीधे-साधे ढंग से प्रकट कर देता है। कहानी के अन्त के इन सभी रूपों में साधना से सिद्धि पाई जा सकती है। किन्तु अच्छा अन्त वही है जो किसी रहस्य का व्यंजना से सङ्केत भर करके विलीन हो जाता है। इससे कहानी को फिर-फिर पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है। यशपाल जी और अज्ञेयजी आदि कहानी-कारों ने इस प्रकार के अन्त में आशातीत सफलता पाई है। नई-नई प्रतिभाएँ भी इस प्रकार के अन्त को प्रस्तुत करती हुई दीख पड़ती हैं। यह दृष्टि-दिशा हिन्दी कहानी-जगत को समृद्ध करेगी, ऐसी हमारी धारणा है।

विशेष—हिन्दी गद्य के सोपान अध्याय में से हिन्दी कहानी का विकास पठनीय है।

निबन्ध-विवेचन

परिभाषा और आशय

व्यक्तिगत् अनुभव-जन्य और ज्ञान-सम्मत ठोस विचारों का दृढ़ और सीमित शृंखलाबद्ध गद्यमय शब्द-चित्रण ही निबन्ध है । निबन्ध में चूंकि मस्तिष्क की विचार-शृंखला ही शब्द-बद्ध रूप में प्रधान होती है, और विचार प्रायः हुआ करते हैं व्यक्ति-प्रधान, अतः उसमें किसी लेखक की अपनी व्यक्तिगत छाप, उसकी मान्यता और तत्सम्बन्धी मतानुभव का आग्रह और उन्हें प्रतिपादित करने का ढंग अधिक प्रभावशाली होता है । विदेशी विद्वानों ने निबन्ध (Essey) की परिभाषा चित्र-विचित्र ढंगसे की है । किन्तु कालांतर में ठोस विचार करने पर विद्वानों ने निबन्ध की व्यापक और अधिक उपयुक्त व्याख्याएँ भी की हैं । पहले तो विचित्र व्याख्या है डा० जॉनसन की जो प्रायः सभी हिन्दी समालोचकों द्वारा प्रस्तुत की जाती है । उनका कहना है कि निबन्ध दिमाग का असम्बद्ध, आपात या पागलपन और अव्यवस्थित, अपचित रचनांश है—'A loose sallay of Mind, an irregular undigested Piece, not a regular and orderly Composition."

जॉनसन की यह परिभाषा यद्यपि बड़ी विचित्र प्रतीत होती है किन्तु यहाँ एक मार्के की बात कही है "Loose sallay of mind" मेरे विचार से जॉनसन ने यह इसलिये कहा होगा क्योंकि दूसरों के लिये निबन्ध के विषय-वर्णन को समझना प्रायः कठिन होता है । और यदि वह कठिन भी न हो तो विशुद्ध व्यक्तिगत, मौलिक विचार अपनी गम्भीरता और संक्षिप्तता में दूसरों को समान्यतः यदि दिवालिया मस्तिष्क की देन प्रतीत हों, तो क्या आश्चर्य ! इसके आगे की बात सम्भवतः जॉनसन ने अपने समय के लिखे जाने वाले अपरिपक्व, अव्यवस्थित विचारांशों को, जो तथा-कथित निबन्धों में प्रकट होते होंगे, देख-समझकर लिख दी होगी । किन्तु वास्तव में निबन्ध निश्चित ही लेखक के अपने दिमाग से निकले व्यक्तिगत, विचित्र अनुभवों-विचारों के प्रतीक स्तंभ तो होते हैं किन्तु उनमें तत्व की कमी नहीं होती,यह बात Sainte-Beuve

ने कही । निबन्ध के सम्बन्ध में उनके इस दृष्टिकोण को "An introduction to the study of Literature" पुस्तक में विलियम हेनरी हडसन ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

"Sainte-Beuve, on the other hand, held it to be one of the most Difficult, as well as delightful, forms of literary expression, because for him it implied (as his own five essays show) the power of condensation, or of saying much in little. In other words, he would not admit that brevity entails superficiality. He believed rather that a good essay should be characterised by that combination of conciseness and throughness which is possible only when a man is absolutely master of his subject."

इन शब्दों में निबन्ध कला की महत्ता और उसे प्रस्तुत करने की कठिनाई का पूर्णतः स्पष्टीकरण हुआ है, जिससे यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्य विद्वानों ने, कालान्तर में, निबन्ध को यद्यपि व्यक्ति-प्रधान रचना माना है किन्तु यह भी कि वह बड़ी श्रमसाध्य है एवं उसे वही लिख सकता है जो शब्द-गागर में विचार-सागर के भरने की क्षमता रक्खे, अपने विषय का निरंकुश स्वामी हो । इन शब्दों द्वारा यही तो कहा गया है—A man is absolutely master of his subject × × × or of saving much in little. निबन्ध की महत्ता और विशेषता के प्रति लिखी गई ह्यूगवाकर (Hugh walker) की यह परिभाषा भी पटनीय है—

"There is no subject, from the stars to the dust-heap and from the amoeba to man, which may not be dealt with an essay"

ऊपर लिखित समस्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार निबन्ध-रचना प्रारम्भ में व्यक्तिगत होते हुए अपरिपक्व, असम्बद्ध, तथा विशृंखलित विचार प्रस्तुत करती होगी उसी प्रकार से जॉनसन जैसे विचारकों ने उसकी परिभाषा की । किन्तु ज्यों-ज्यों उसका विकास हुआ, परिभाषा के मान और मूल्य बढ़ते गए जिसके अनुसार मेरे ने निबन्ध (Essay) के प्रति परिवर्तित होती हुई विचारधारा-सम्मत परिभाषा में यह शब्द लिखे—

"A Composition of immoderate length on any particular subject or branch of subject originally implying want of finish, but now said of a composition more of less elaborate in style, though limited in range."

इस व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि निबन्ध या Essay किसी विशेष विषय या उसकी शाखा पर लिखा हुआ एक मर्यादित साहित्यिक अंग है । यहाँ अँग्रेज़ी

के Thesis या Treaties शब्दों की अर्थसंगति—जिसे हमारे यहाँ प्रबन्ध या पुस्तक गुटका लेख कहते हैं—Essay या हमारे हिन्दी के शब्द निबन्ध से ठीक नहीं बैठती। उसके लिये मेरे की ऊपर कही गई परिभाषा ही अधिक समुचित है।

लेख या पुस्तक गुटका (Treatise) या प्रबन्ध (Thesis) र नाएँ निबन्ध या Essay से आकार में बड़ी और वर्णन में कहीं अधिक तर्कसंगत, विश्लेषणात्मक तथा विवेचनात्मक होती हैं। निबन्ध या Essay तो एक ऐसी रचना है जिसे लेखक एक निर्धारित सीमा में, निश्चित विषय को परिश्रमपूर्वक अपने व्यक्तिगत अनुभव और मानसिक चिंताधारा से व्यक्त करता है, कालान्तर में पश्चिम के विचारकों ने ऐसा ही अपने-अपने ढंग से सोचा और माना है। ऐसी रचना-शैली को सम्भवतः फ्रेंच लेखक मौनटेन ने Essay नाम से पुकारा था जो आगे चलकर सर्वसम्मत एवं प्रचारित हो गया। बेकन एवं मौनटेन, दोनों ही निबन्धकारों ने निबन्ध रचना पर रचनात्मक काम करके इस प्रकार परिभाषा को व्यापक बनाया था।

भारतीय आधुनिक विद्वानों ने भी निबन्ध के प्रति अपनी-अपनी परिभाषाएँ देने का प्रयत्न किया है और इस परिभाषा की स्थापना में उन्होंने अंग्रेजी के 'ऐसे' शब्द का ही अर्थ-आदर्श ग्रहण किया है। Essay का कोष-सम्मत अर्थ है, प्रयत्न करना, जाँचना, चेष्टा और इसी अर्थ-आदर्श पर हिन्दी का शब्द 'निबन्ध' भी है। इस प्रकार अंग्रेजी के Essay शब्द से अर्थ स्पष्टतः उस रचना से है जो प्रयत्न चेष्टा और बुद्धि की जांच-पड़ताल से लिखी जाय। उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों में यह सब तथ्य मिलते भी हैं। किन्तु हिन्दी के 'निबन्ध' शब्द को हम Essay का पर्याय शब्द मानें या न मानें, Essay या निबन्ध रचना को एक कहें या न कहें, यह प्रश्न विचारणीय है। असल में 'निबन्ध' शब्द संस्कृत का है जिसका आशय है विशेष रूप का 'बंधन'। निश्चय ही विशेष बंधन बनाने में भी चेष्टा या प्रयत्न या जाँच की जरूरत पड़ती है। यदि ऐसा न होता तो मैत्री और प्रेम के बन्धन टूट कर उपहास का रूप बन जाते। इस दृष्टि से हिन्दी के निबन्ध और अंग्रेजी के Essay शब्द का अर्थ-सम्बन्ध जुड़ जाता है अवश्य, पर बड़े घुमाव के साथ। कुछ भी हो यह तो निश्चय है कि निबन्ध या Essay शब्द उसी रचना-कौशल का नाम है जिसे लेखक बड़े मानसिक श्रम और विचार-संगठन के द्वारा निर्मित करता है और जिसमें उसका व्यक्तित्व प्रधान होता है। आदरणीय गुलाबराय जी ने निबन्ध रचना की परिभाषा करते हुए अपना मत इस प्रकार दिया है—

"निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

(काव्य के रूप, पृष्ठ २२)

इसी क्रम में हम यह भी कहना चाहेंगे कि यों तो प्राचीन भारतीय साहित्य में भरत, भामह, दण्डी, विश्वनाथ आदि मनीषियों ने विविध विषयों पर अपने भाव विचार और वर्णन गद्य में भी प्रस्तुत किये हैं किन्तु उन में व्यक्तित्व और शैली की वह प्रधानता नहीं जो आधुनिक निबन्धों में है। यह दृष्टि-देन वस्तुत पाश्चात्य कही जायगी।

निबन्ध में निहित गुण-लक्षण

निबन्ध एक व्यक्तिगत विचार-प्रधान रचना होती है, अतः उसमें निहित अनेक लक्षण-उपलक्षण खोजे, पाए जा सकते हैं। फिर भी कुछ मूल (Fundamental) लक्षण भी होते हैं जो इस प्रकार हैं—

१. **सीमित कथन या वर्णन विस्तार का अभाव**—प्रत्येक निबन्ध संक्षिप्त शब्द शृंखला होती है जो मेरे विचार से अधिक से अधिक १० पृष्ठों तक सीमित होनी चाहिये। इससे अधिक निबन्ध की रचना-सीमा समाप्त हो जाती है और इसके बाद हम उसे लेख कह सकते हैं, प्रबन्ध कह सकते हैं, Thesis कह सकते हैं। इस दृष्टि से हम यदि निबन्ध को एक written speech कहें तो अधिक उपयुक्त होगा।

२. **व्यक्तिगत दृष्टिकोण, अनुभव और वर्णन-शैली**—निबन्ध में किसी लेखक के किसी पक्ष पर—सत्य, यात्रा, धर्म दर्शन आदि कोई भी हो—जमे-बंधे व्यक्तिगत विचारों की छाप होती है। उसका अनुभव उसके भीतर से बोल उठता है। यह बोल अपनी अभिव्यक्ति का साँचा आप बनाता है, जिसे हम वर्णन-शैली कह सकते हैं। उच्च कोटि के निबन्धों की वर्णन-शैली प्रत्येक लेखक की अलग-अलग होती है।

३. **तर्क का अभाव, स्वच्छन्दता का भाव**—निबन्ध में तर्क का कोई महत्व नहीं क्योंकि तर्क के प्रतिपादन में सर्वसम्मतता अनिवार्य है। यह आवश्यक नहीं कि जो कुछ निबन्ध लेखक कह रहा है, सभी उससे सहमत हों। किंतु यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि वही निबन्ध सफल होता है जिसके सार को पाठक माने, उसके प्रभाव से अभिभूत हो। इस गुण को लाने के लिये निबन्धकार को अपने स्वच्छन्द भाव व्यक्त करने चाहिये। भाव में सरसता का गुण विद्यमान होता है। मैं साहित्य के भाव की बात लिख रहा हूँ। लोक भाव में तो कुभाव भी जुड़े होते हैं।

४. **निबंध का अंत**—उसे अपने उद्देश्य की सिद्धि में पूर्ण होना चाहिये भले ही वह स्वच्छन्द विचारों की अभिव्यक्ति करे। इसके लिये लेखक की भाषा-शैली उसका वर्णन-सौष्ठव, उसका विवेच्य विषय के प्रति पैना और गम्भीर अध्ययन-अनुभव होना चाहिये। यह ध्यान रहे कि निबन्ध में विषय का बहिरंग (Objective) या इतिवृत्त चित्रण इतना प्रधान नहीं होता जितना अंतरंग (Subjective) अभिव्यंजन होता है। अतः उसमें आस्था, विश्वास और सहृदयता का गुण होना चाहिये। ये समस्त गुण-लक्षण उत्कृष्ट कोटि के निबन्धों के लिये अनिवार्य हैं।

तुलना एवं अस्तित्व

उपन्यास, कहानी समालोचना एवं गद्य-गीत या गीत काव्य आदि की भाँति गद्य-साहित्य में निबन्ध का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। अतएव संक्षेप में यहाँ हम अन्य गद्य-विधाओं के साथ निबन्ध का तुलनात्मक अस्तित्व स्थापित करना चाहेंगे।

उपन्यास एवं निबन्ध

उपन्यास में कथावस्तु का लम्बा विकास होता है किन्तु निबन्ध में किसी भी विषय-वस्तु का सीमित व हल्का सा विवेचनात्मक और पूर्ण वैयक्तिक चित्रण-वर्णन प्रधान होता है। उपन्यास में लेखक की व्यक्तिगत् शैली की प्रधानता होती है और निबन्ध में भी, किन्तु उपन्यासकार का व्यक्तित्व उपन्यास की कथावस्तु एवं उसके पात्रों के चरित्र-चित्रण में गौण रहता है किन्तु निबन्धकार का सर्वथा स्पष्ट रहता है। उपन्यास का उद्देश्य और संदेश यद्यपि व्यापक होता है किन्तु अधिक बौद्धिक नहीं होता जबकि निबन्ध में वह अधिक मस्तिष्कस्पर्शी एवं व्यक्ति-विवेक-सम्मत होता है। दोनों की ही रचना लेखक के अनुभव, उसकी पकड़ और उसके दृष्टिकोण के अनुसार होती है। किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से उपन्यास एक मानचित्र है और निबन्ध रेखाचित्र। इन दोनों में जितना अन्तर हो सकता है उतना ही उपन्यास एवं निबन्ध के बीच का है।

कहानी एवं निबन्ध

कहानी और निबन्ध की रचनाशैली में एक बड़ी साम्यता है। कहानी में कहानीकार अपने वैयक्तिक भाव-विचार और दृष्टिकोण की पटरी पर अपने सूक्ष्म कथा-वर्णन को एक्सप्रेस ट्रेन की तरह दौड़ाता ले जाता है, और कुछ देर में जैसे उद्देश्य के जंकशन पर पाठक को ले जा छोड़ता है। कुछ ऐसी ही स्थिति है निबन्ध और निबन्धकार की। निबन्ध में निबन्धकार भी अपने व्यक्तिगत अनुभव-अध्ययन भाव-विचार और दृष्टिकोण की पटरी पर अपने विषय-वर्णन को तूफान मेल की तरह सरपट ले जाता है और कुछ देर में ही जैसे उद्देश्य के जंकशन पर पाठक को लेजा छोड़ता है। शिल्प-शैली और आकार-विस्तार की दृष्टि से कहेंगे कि कहानी तथा निबन्ध में बहुत कुछ साम्यता होती है। दोनों में ही लेखक का व्यक्तित्व और उसकी लेखनी का ढंग सजीव व साथ-साथरहता है। किन्तु फिर भी कहानी कहानी है और निबन्ध निबन्ध। दोनों में बड़ा अन्तर यह है कि पहली रचना कथावस्तु (Plot) और पात्र चरित्र-चित्रण (Charaeler) प्रधान होती है तो दूसरी विषय-वस्तु (Subjeet matter) प्रधान। इसके साथ ही कहानी की गति सीधी होती है,

निबन्ध की गति घुमावदार होती है। संक्षेप में, तुलनात्मक दृष्टि से कहानी चरित्र-चित्रण प्रधान रचना है और निबन्ध चित्रण-वर्णन प्रधान रचना है।

समालोचना एवं निबन्ध

प्रायः हम यह देखते हैं कि समालोचक निबन्धकार भी होते हैं और निबन्धकार समालोचक भी। यह सम्बध हमें बताता है कि समालोचना एवं कहानी-रचना के मूल में लेखक कोई रचनात्मक एकता और सरलता पाता है। श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी और रामचन्द्र जी शुक्ल तथा अन्य लेखक गण अच्छे समालोचक भी हैं और अच्छे निबन्धकार भी। महावीरप्रसाद जी विवेदी और उनके समकालीन लेखकों के विषय में तो यह निबन्धकार और समालोचक के मध्यस्थ की रेखा ही खींचना कठिन काम है। खैर ···यहाँ हमें तुलना के द्वारा, संक्षेप में इन दोनों का सादृश्य असादृश्य जान लेना उचित रहेगा। समालोचना में लेखक की क्रमबद्ध विचाराभिव्यक्ति का मूल्य प्रधान होता है और निबन्ध में भी इसी बात का मूल्य है कि उसकी विचाराभिव्यक्ति कहाँ तक क्रमबद्ध है और यदि वह खंण्डित हुई तो समझो कि सब गुड़-गोबर हो गया। समालोचना और निबन्ध में लेखक का आग्रह, अनुभव और प्रभाव प्रधान होता है। सुसंगठित भाषा, चमत्कृत वाक्यविन्यास, ओज (Force) हास्य, व्यंग्य और एक शब्द में शैली का स्वरूप समालोचना एवं निबन्ध रचना में बहुत कुछ साम्य रखता है। इतना होने पर भी ये दोनों एक-दूसरे से स्वतन्त्र रचना है। निबन्ध में विवेचन, विश्लेषण, व्याख्या, तर्क, मत, खंडन मंडन आदि के तत्व प्रधान होते हैं किन्तु निबन्ध में कुछ भी इस प्रकार का नहीं। वहाँ तो बस लेखक का अपना अनुभव, अपना अध्ययन, अपना आग्रह और अपने मन-मस्तिष्क का सौदा है जिसे वह भाए, खरीद ले, आनन्द ले और नहीं तो नहीं। किन्तु समालोचना जब तक लेखक की कलम के नीचे है उसकी है और वहाँ से बाहर आई तो समझिये उतनी ही सभ्य, स्वतन्त्र और सुन्दर है जितनी आज की कॉलिज की कन्या, जिसका महत्व हमारे आपके नेत्रों की परख पर निर्भर है। संक्षेप में तुलनात्मक दृष्टि से समालोचना मस्तिष्क-प्रिय रचना है और निबन्ध मन-प्रिय है।

गद्यगीत एवं निबध

बहुत से समालोचकों का कहना है कि गद्य-गीत या गीत-काव्य एवं निबन्ध में सादृश्य है। किन्तु हमें तो किसी भी दृष्टि से इनमें कहीं सादृश्य प्रतीत नहीं होता। हाँ, गुण की दृष्टि से जो इनमें सादृश्य कहा गया है कि दोनों में अत्मीयता, भावमयता आदि गुण प्रधान है पर यह मत दोनों के सादृश्य जोड़ने के लिए पुष्ट नहीं कहा जा सकता। बात यह है कि गद्य-गीत या गीत-काव्य का सम्बन्ध अनुभव से

बरायनाम और अनुभूति से अटूट है। जबकि निबन्ध का सम्बन्ध अनुभव, मनन-चिंतन एवं आभिव्यक्ति से विशेष है। शैली की दृष्टि से भी गद्यगीत या गीत-काव्य अधिकांशतः माधुर्य एवं प्रसाद गुण, कोमलकांत पदावली तथा विशुद्ध अलंकारादि उपकरणों पर आधारित होता है जबकि निबन्ध में ओज-गुण—यद्यपि माधुर्य एवं प्रसाद गुण भी यथास्थल होता है—हास्य, व्यंग्य, फुदकती-फड़कती शब्दावली तथा लोकोक्तियों-मुहावरों आदि तत्वों से विनिर्मित होता है। हाँ व्यक्तित्व या निजत्व की प्रधानता दोनों में होती है। संक्षेप में, गद्यगीत या गीत-काव्य एकदम अनुभूति का सखा है और निबन्ध अभिव्यक्ति का संगी। दोनों में कोई विरोध नहीं पर विभेद तो है ही।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से हम गद्य-साहित्य में निबन्ध के अस्तित्व का परिज्ञान कर सकते हैं। मुख्य बात तो यह है कि आधुनिक निबन्ध-रचना ने लेखक-प्राणी को उस दृष्टि-दिशा की ओर अग्रसर होने और अपना मन-मस्तिष्क खोलने का अवसर दिया है जिसके फलस्वरूप वह अपने सांसारिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, धार्मिक आदि अनन्त विषयों, घटनाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया को सहज व स्वतन्त्र अभिव्यक्ति देने में सफल हुआ है। यह संसार अन्तत विषय-वैभव का कोष है। यहाँ उसके प्रति प्रत्येक की अलग दृष्टि तथा अलग भावना होती है। अलग विचार, अनुभव और अध्ययन होते हैं। मानव-जीवन की सभ्यता का विकास इन्हीं सोपानों पर चढ़ कर हुआ है। हर उत्कृष्ट निबन्ध यदि इस प्रकार का एक सोपान कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। साहित्य की दूसरी गद्य-विधाओं का विषय प्रतिपादन प्रायः एक विशिष्ट प्रकार का ही हुआ करता है किंतु निबंध का विषय तो सामान्य से सामान्य स्थल से चुना जा सकता है—और ऐसे स्थलों से भी चुना जाता है जिसका ओर-छोर छूने में विधाता को भी सोच विचार करना पड़े। उदाहरणार्थ, हमारे यहाँ आँख, कान, नाक, जैसे छोटे विषयों पर भी निबन्ध लिखे गये। 'इत्यादि' जैसे अनूठे विषय पर भी निबंध लिखे गये हैं और 'श्रद्धा और भक्ति' जैसे गम्भीर विषयों पर भी निबंध लिखे गये हैं। सुनते हैं "**जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि**" हमें इस बात से कोई आपत्ति नहीं किन्तु निबंधकार के महत्व को प्रतिपादित करने के लिये यदि हम यह कह दें कि "**जो न जाने करतार सो जाने निबंधकार**" तो बात असंगत न होगी। बेकन और लिंड के विचार थे कि निबंध सामान्य से सामान्य विषय—जूता, जहाज और गोभी के फूल आदि—पर लिखा जा सकता है, पर वही साधारण विषय कुशल लेखक के हाथ से असाधारण वस्तु बन जाता है। वस्तुतः यहाँ हमें शुक्ल जी का मत बड़ा उत्तम लगता है कि "**यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी (गद्य कवीनां निकषं वदन्ति)** हमारे विचार से

शुक्ल जी इस मत को प्रस्थापित कर यही बताना चाहते होंगे कि गद्य की अन्य विधाओं की रचना की अपेक्षा निबंध रचना अधिक श्रमसाध्य एवं असाधारण रचना है। इससे बड़ी और क्या बात होगी ? अपने विषय-व्यापकत्व के अलवा निबंध का महत्व और अस्तित्व उसके शिल्प शैली विधान का है। अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल जिस भाव-विचार को हम अन्य किसी भी प्रकार से कहने या लिखने में अपने को असमर्थ पाते हैं वहाँ निबंध के द्वारा उसे कलात्मक रूप में लिख कर व्यक्त कर सकते हैं। संक्षेप में, निबंध रंग-ढंग, रूप-आकार और अनुभव-अध्ययन के चित्रण वर्णन में एक ऐसा गलीचा है जिसका उपयोग आम से आम और खास से खास लोग कर सकते हैं। सचमुच गद्य साहित्य में निबन्ध का अस्तित्व और महत्व अन्यतम और अनूठा है।

सफल निबंध और निबंधकार के गुण-लक्षण और शैली

सफल निबन्ध लिखना और सफल निबन्धकार बनना, ये सरल बात नहीं है, इसमें सिद्धि-सफलता पाने के लिये निरन्तर साधना करते रहना अनिवार्य है और साधना से किसे सिद्धि नहीं मिली ! संक्षेप में यहाँ हम सफल निबन्ध और निबन्धकार के गुण-लक्षणों पर प्रकाश डाल रहे हैं—

सफल निबन्ध वह है—

१. जिसमें लेखक का व्यक्तित्व अहंवादी रूप में नहीं सार्वजनीन रूप में व्याप्त और व्यक्त हो। जैसे शुक्ल जी का 'श्रद्धा वा भक्ति' शीर्षक निबन्ध है।

२. जिसमें मानवीय आस्था और विश्वास का गुण विद्यमान हो। जैसे, अंग्रेजी विद्वान् मिल का On Liberty नामक लेख है।

३. जिसमें अधिक शब्दों में वर्णित की जाने वाली "**व्यासशैली**" नहीं वरन् एक बात को नपे-तुले शब्दों में सुझाने में समझाने वाली "**समास शैली**" **हो**।

४. जिसके वाक्य-वाक्य में हृदय के उद्गार निर्मल धारा के रूप में प्रवाहित हों। यह '**धारा शैली**' कहलाती है। इसके विपरीत उसमें रुक-रुक कर चलने वाले लँगड़े वाक्य न हों जिसे "**विक्षेप शैली**" कहते हैं।

५. जिसमें '**प्रलाप शैली**' का आधिक्य न हो। वह यथास्थल विशेषतः भावात्मक निबन्धों में ही होनी चाहिए, जैसे, रघुवीर सिंह जी का 'ताज" शीर्षक निबन्ध है।

विशेष—निबन्ध लिखने की व्यास, समास, धारा, विक्षेप और प्रलाप, ये पाँच

शैलियाँ ही मुख्य हैं जिनका विवेचन हम ऊपर क्रमशः कर चुके हैं। इन सब शैलियों में 'समास शैली' ही उत्तम कही जायगी। वैसे प्रायः व्यास एवं समास शैली का प्रयोग विचारात्मक निबन्धों में पाया जाता है, और धारा, विक्षेप और प्रलाप-शैली का प्रयोग भावात्मक तथा वर्णनात्मक निबन्धों में पाया जाता है।

६. जिसमें वर्ण्य-विषय सत्य, अनुभव युक्त और अनूठा हो।

७. जिसमें विषय के अनुरूप शब्दों का सरल या तकनिकल प्रयोग हो। व्यवहारिक विषय पर लिखा निबन्ध व्यवहारिक बोल चाल के शब्दों में लिखा होना चाहिए और 'विज्ञानिक युग' 'या साहित्य-जीवन' जैसे निबन्धों में तकनिकल शब्द होने तो चाहिए किंतु उनकी भरमार न हो।

८. जिसमें विषयगत विचारों की एक सूत्रता हो।

९. जिसमें शब्दों, वाक्याशों एवं भाव-विचारों की पुनरावृत्ति न हो। हर बात अपने विषय से सम्बद्ध होने पर भी मौलिक और नवीनता से लिखी प्रतीत हो।

१०. जिसमें बुद्धि, भाव और कल्पना का योग कुछ इस तरह से हो जैसे सत्य, शिव और सुन्दर का ! आशय है कि निबन्ध में बुद्धि भाव और कल्पना का पूरा-पूरा संतुलन होना चाहिए नहीं तो वह निबन्ध अपने व्यापक प्रभाव का गुण खो देगा।

११. जिसमें लेखक के मन और मस्तिष्क का सन्तुलन प्रकट हो इसके अभाव में निबन्ध के प्रबन्ध (Thesis) बन जाने का डर है। लेखक का व्यक्तित्व भी इसी सन्तुलन में निखर सकेगा।

सफल निबंधकार

भारत में अभी निबन्ध रचना का उतना विकास देखने में नहीं आता जितना विदेशों में है। फिर भी कुछ प्रगति निरंतर हो रही है। हमारे विचार से इस के अनेक कारणों में से एक यह कारण भी रहा कि हमारा देश परतंत्र रहा। वैसे तो भारतेन्द्र जी के समय से हमारा निबन्ध-साहित्य-सृजन आरम्भ हुआ था किन्तु वह साहित्यक कोटि की चोटी का नहीं वरन तलहटी में जन्मा दीखता है। तब से आज तक वह पनप ही रहा है। संक्षेप में, एक सफल निबन्धकार के गुण-लक्षण इस प्रकार हैं—

१. एक सफल निबन्धकार में वस्तु-निरीक्षण का गुण प्रधान होता है। उदाहरण के रूप में स्टीविनसन (Stevensen) ने एक रोचकवस्तु-निरीक्षण सम्बन्धी निबन्ध लिखा है जिसमें उसने एक रात के विजन विचरण का सार निचोड़ डाला है शीर्षक है–A Night Among Pines'

२. एक निबन्धकार में अध्ययन, मनन और चिंतन करने का गुण प्रधान होना चाहिए। रामचन्द्र जी शुक्ल ऐसे ही एक आदर्श निबन्धकार कहे जा सकते हैं।

३. उसकी स्मृति स्वस्थ्य एवं चेतनाशक्ति सर्व-ग्राहिणी होनी चाहिए।

४. निबन्धकार में कवि की कल्पना, समालोचक की पकड़ और नेता की अक्खड़ता होनी चाहिए जिससे वह स्वतंत्रतापूर्वक अपने निबन्ध के उद्देश्य की चर्म्मा पूर्ण कर सके।

संक्षेप में निबन्धकार को बुद्धिमान, आस्थावान और स्वतंत्र मनीषी होना चाहिए।

निबन्धों का विषयगत वर्गीकरण

निबन्धों का शैलीगत वर्गीकरण हम ऊपर दिखला चुके हैं। यहाँ हम विषयगत वर्गीकरण दिखलाने से पहले यह स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि जग जीवन की परिधि में संख्यातीत विषय बिखरे पड़े हैं। चींटी के लघु-जीवन से लेकर परमेश्वर के विराट् रूप-व्यापार तक ज्ञात-अज्ञात जितने भी विषय हो सकते हैं उनका वर्णन निबन्ध-रचना में होना सम्भव है। अतः निबन्ध का विषयगत वर्गीकरण कोई आसान काम नहीं। किंतु एक बात अवश्य है कि मनुष्य संसार के असंख्य विषयों में से जितनों के प्रति विचार करता या कर पाता है उनका उसकी मूलभूत विचारात्मक-प्रवृत्ति के अनुकूल वर्गीकरण किया जा सकता है, और विवेचन के लिए यह मार्ग अधिक सफल व सरल अनुभव किया जाता रहा है। मसलन, प्रकृति का इतिवृत्त निरीक्षण, विविध वस्तु-दृष्यावलोकन, किसी देश विशेष की संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि के ऐतिहासिक अनुशीलन आदि की प्रवृत्ति मनुष्य में वर्णनात्मक धारा की होती है। इसी प्रकार किन्हीं ऐतिहासिक, यात्रिक, साहसिक उत्कृष्ट कृत्यों-अनुभवों तथा त्योहारों आदि के संस्कारों-भावों को मनुष्य में तद्वत रूप में दुहराने की वृत्ति हुआ करती है। यही विवरणात्मक प्रवृत्ति कहलाती है। जैसे मेरे एक मित्र श्री हंसराज जी 'दर्शक' कश्मीर की पुण्यमय प्रकृति भूमि अमरनाथ की यात्रा करने गए और लौटकर आए तो उनकी विवरणात्मक वृत्ति ने उन्हें इतना गुदगुदाया कि पहले उन्होंने एक छोटा-सा निबन्ध लिखा और होते-होते अमरनाथ दर्शन के नाम से एक किताब ही लिखकर छपवा डाली। कुछ ऐसे विषय होते हैं जिन पर मनुष्य दिन-रात भी सोचता है और कभी-कभी तो उन पर किसी परिस्थिति के अधीन इतना सोचता है कि उसकी प्रवृत्ति विचारात्मक रूप में बाहर फूट निकलती है। जैसे, ईश्वरीय चिंतन, सत्यान्वेक्षण एवं साहित्यिक मनन आदि के तथ्यों पर फिर-फिर विचार करने से एक प्रवृत्ति जागती है जो मस्तिष्क के मार्ग से बाहर भी निकलना चाहती है। यह विचारात्मक-विवेचनात्मक

जिनमें अधिक सजग हो जाती है, वे संसार के अच्छे मनीषी, दार्शनिक और शाली कवि या साहित्यकार हो जाते हैं। उस दिन भाई राजकुमार जी ने श्रद्धेय जी की मधुशाला के प्रति मुझे लिखित रूप में कुछ विचार सुनाए तो मुझे लगा की विचारात्मक-विवेचनात्मक प्रवृत्ति काफी सजग है। इसके साथ ही मनुष्य में षयों के प्रति भावात्मक प्रवृत्ति का उन्मेष हुआ करता है। सरस कविताओं, रूप-सौन्दर्य और मधुर-मादक, धार्मिक पूजन-आराधन आदि विषयों के प्रति का रागतत्व-भावतत्व या सौन्दर्यमूलक आवेग (Aesthetic Emotions) ाग्रत हो जाता है। उसकी मादकता में वह अपनी तर्कप्रधान बुद्धि पर नियंत्रण ख पाता। उसकी रागमय प्रवृत्ति उसके हृदय से निर्झर की भाँति बाहर फूट है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी फुटकल विषय होते हैं जैसे सामाजिक, नैतिक, क, पारिवारिक आदि, जिनके प्रति वैसे तो मनुष्य की सामान्य प्रवृत्ति ही रहती किसी अवसर विशेष पर वह विशेष बनकर व्यक्त होना चाहती है। किंतु निबंधों करण के क्रम में स्फुट-प्रवृत्तियों के प्रकाशन का महत्व भी मूल-प्रवृत्तियों के ड़ जाता है या जोड़ लिया जाता है। उक्त विवेचन के आधार पर निबन्धों का ा वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१. **विचारात्मक निबन्ध, जिन्हें अंग्रेजी में** Reflective Essays **कहते हैं।**
२. **विवरणात्मक निबन्ध, जिन्हें अंग्रेजी में** Narrative Essays **कहते हैं।**
३. **वर्णनात्मक निबन्ध, जिन्हें अंग्रेजी में** Deseriptive Essays **कहते हैं।**
४. **भावात्मक निबन्ध, जिन्हें अंग्रेजी में** Emational Essays **कहते हैं।**
५. **इनके साथ ही सामान्य सामयिक निबन्ध भी अनेक होते हैं।**

समाहार उक्त चारों प्रकारों में से किसी में भी भाँति किया जा सकता है। वैसे मक निबन्धों में विवरण और विवरणात्मक निबन्धों में विचार न हों और निबन्धों में वर्णन तथा वर्णनात्मक निबन्धों में भाव न हों, यह बात नहीं। चार, वर्णन और विवरण का मिला-जुला रूप ही तो सुन्दर साहित्य है। कमी-वेशी के आधार पर ही यह वर्गीकरण संगत समझा जाना चाहिए। हम प्रवृत्ति पर विवेचन कर आये हैं और यहाँ इन पर संक्षिप्त व स्थूल स प्रकार है—

विचारात्मक निबन्ध
(Reflective Essays)

निबन्धों का महत्व इनमें निहित वस्तु-विषय का गम्भीर चिंतन, चन व विश्लेषण पर आधारित होता है। निबन्धकार जितना अध्ययनशील,

अनुभवशील एवं चिन्तनशील होगा उतने ही उसके इस वर्ग के निबन्ध उत्कृष्ट कोटि के होंगे। इन निबन्धों की भाषा प्रायः तकनिकल, कोषनिष्ठ और क्लिष्ट होती। पर वह लेखक की क्षमता के अनुतूल सरल भी हो सकती है। सर्व श्री डा० रामविलास शर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० विशम्भरनाथ भट्ट, जैनेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि निबन्धकारों ने जो निबन्धों की नई सर्जना की है उनमें यह विशेषता थोड़ी-बहुत मात्रा में दिखलाई पड़ती है। जैनेन्द्र जी का इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण काम है इस प्रकार के निबन्ध व्यास और समास, दोनों प्रकार की शैली में लिखे जाते रहे हैं। शुक्ल जी, मिश्र-बन्धु, श्यामसुन्दरदास आदि ने इस शैली में अच्छे निबन्ध लिखे हैं। प्रायः शुक्ल जी ने समास-शैली तथा श्यामसुन्दरदास जी ने व्यास-शैली में निबन्ध लिखे हैं।

समास और व्यास शैली आदि की विशेषता तथा अन्तर हम पहले लिख आए हैं। विचारात्मक निबंध किसी विषय के प्रति लेखक के उसके गम्भीर अनुभव, चिन्तन, मनन, विश्लेषण और वर्णन के प्रतीक हैं। इनकी साहित्यिक महत्ता अकूत होती है। इस प्रकार के निबन्ध आधुनिक हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों ने उत्कृष्ट कोटि के लिखे हैं गो कि ये निबन्ध अपनी सीमा से बढ़कर प्रबन्ध का रूप धारण कर गये हैं। पंत जी के पल्लव की भूमिका, महादेवी की दीप-शिखा की भूमिका, बच्चन जी की खैय्याम की मधुशाला की भूमिका और निराला जी की भूमिकाएं विचारात्मक निबन्ध धारा की उत्कृष्ट चीजें हैं। विचारात्मक निबन्ध का विषय-शैली सम्मत एक उदाहरण दिया जाता है जो प्रसाद जी के 'रस' शीर्षक निबन्ध से लिया गया है—

यह उदाहरण समास-शैली का है। डा० गुलाबराय जी लिखित "लेखन कला के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें" शीर्षक निबन्ध का यह एक उदाहरण है जिसमें व्यास शैली का समावेश है—

"भाषा और शैली की उत्तमता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि विचारों की। उत्तम भाषा और शैली से लेखक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और पाठकों के हृदय की ग्राहकता बढ़ जाती है। अशुद्ध और अस्पष्ट भाषा सुन्दर से सुन्दर विचारों की आकर्षकता को नष्ट कर देती है और वे विचार मरुभूमि में पड़े बीजों की भाँति अनुत्पादक रह जाते हैं। भाषा में सबसे पहले इस बात की जरूरत है कि वह सर्व-साधारण के समझने योग्य हो। (प्रबन्ध प्रभाकर, पृष्ठ ७)

"यह रस बुद्धिवादियों के पास गया तो धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्व है। फिरतो 'चमत्कार पर पर्याय अनुभव साक्षिक' रस को पंण्डितराज जगन्नाथ ने आदमवादियों की ही तरह 'रसो वैसः, रसं ह्येवलब्धऽन्दी भवति' के प्रकाश में आनन्द ब्रह्म ही मान लिया।" (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ ७७)

विवरणात्मक निबन्ध
(Narrative Essays)

इन निबन्धों का महत्व इनमें निहित लेखक के देखे एवं अनुभव किये दृश्यों, भावों व विचारों का मूर्त्त या इतिवृत्त, विवरणात्मक वर्णन प्रधान होता है। मनोरंजक, साहसिक यात्राएँ, सैन्य संचालन, अतीत की कौतूहलपूर्ण कथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं तथ्यों, युद्धों, प्रणय लीलाओं आदि का इन निबन्धों में वर्णन विशेष होता है। ये निबन्ध एक प्रकार से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कम ही रखते है। या तो कहीं इनका सम्बन्ध वर्णनात्मक निबन्धों से मेल खा जाता है या भावात्मक निबन्धों से। महाराज-कुमार रघुवीरसिंह जी के 'शेष स्मृति' निबन्ध को इसी प्रकार का निबन्ध कह सकते हैं। आजकल पत्र-पत्रिकाओं में टेलीविजन, राकेट की पहुँच, काश्मीर की यात्रा, चन्द्रलोक की यात्रा आदि निबन्ध विवरणात्मक वर्ग के ही हैं— गो कि इनमें वर्णनात्मकता और भावात्मकता भी रसी बसी रहती है। ये निबन्ध प्रधानतः व्यास-शैली में लिखे जाते हैं और तथ्य-निरूपण ही करते हैं। वैसे सामान्यतः ये विशेष, प्रलाप-धारा शैली में भी लिखे होते हैं। किंतु समास-शैली इनके उपयुक्त नहीं। यह जानकर प्रसन्नता है कि इस प्रकार के निबन्ध आजकल खूब लिखे जा रहे हैं। भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल में भी इस प्रकार के निबन्ध धड़ल्ले से लिखे गए थे, यद्यपि उनमें परिमार्जन नहीं आ पाया था।

उदाहरण के लिए, डाक्टर श्यामसुन्दर दास जी लिखित "हमारे साहित्य की प्राचीन कथा" शीर्षक निबन्ध से एक अंश प्रस्तुत है—

इस वैदिक काल की सीमा आरम्भ से लेकर बिक्रम के कोई २०० वर्ष ईसवी पूर्व तक आती है। तिलक महोदय ने गणित ज्योतिष के आधार पर गणना करके यह सिद्ध किया है कि आर्यों की सभ्यता के प्राचीनतम रूप का समय ईसवी ८०० से ५०० पूर्व तक है।" (साहित्यिक लेख पुस्तक पृष्ठ ५) इस वर्ग के प्रमुख निबन्धकारों में राहुल जी, यशपाल जी जैन अक्षयकुमार जी जैन, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्णात्मक निबन्ध
(Deseriptive Essays)

इन निबन्धों का महत्व, इनमें निहित लेखक के प्राकृतिक और मनोरंजक दृश्यों; संस्कृति, सभ्यता, रीतिरिवाज, आचार-विचार, धर्म-कर्म आदि के विश्वासों का सुन्दर रूप में प्रतिपादन होने पर आधारित है। प्रधानतः ये काव्य-शैली में ही लिखे जाते हैं। जैसा कि हमने पहले लिखा है, वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक

निबन्धों के बीच अन्तर की कोई मोटी रेखा खीचना कठिन है। दोनों में वर्णन भी प्रधान होता है और विवरण भी। पर इन दोनों का वर्गीकृत, सूक्ष्म अन्तर यही है कि विवरणात्मक निबन्धों में नाम परिगणन की मात्रा प्रधान होती है और वर्णनात्मक निबन्धों दृष्य-चित्रांकन की। इसे यों भी समझ सकते हैं कि पहले में इतिवृत्त प्रधान है तो दूसरे में दृष्य-चित्रण। इन दोनों वर्ग के निबन्धों के विषय मिलते-जुलते भी हो सकते हैं, किन्तु प्रतिपादन की शैली में सूक्ष्म अंतर थोड़ा-बहुत अवश्य होगा। ठा० जगमोहनसिंह जी का 'श्यामा स्वप्न' तथा बालमुकन्द गुप्त के 'शिवशम्भू का चिट्ठा' आदि निबन्ध इस प्रकार के उत्कृष्ट-निबन्ध कहे जाते हैं। विवरणात्मक निबंध-कारों के विशेष नाम हम ऊपर लिख आए हैं। उन्हीं का ही उल्लेख यहाँ भी किया जा सकता है। श्री हँसराज जी 'दर्शक' लिखित 'अमरनाथ दर्शन' पुस्तक का एक अंश उदाहरण प्रस्तुत है—

"शिवलिंग-सी यह हिमाच्छादित चोटी भगवान भास्कर की किरणों से खेल कर हमें एक अद्भुत छटा दिखला रही थी। इसे देखते ही मेरा मन अनंत के साथ गा उठा—काश, मेरे भी पंख होते, हंस की भाँति मैं भी उड़कर पहले मानसरोवर के परम-स्वच्छ जल में स्नान करके महादेव की साधनास्थली—कैलाश पहुंचता और फिर लौटकर अपने प्रियजन एवं पाठकों को वहाँ के अलौकिक-प्राकृतिक दृश्यों के बारे में कुछ तो बताता !"

भावात्मक निबन्ध
(Emmotional Essays)

इन निबंधों का महत्व इनमें निहित लेखक के सरस मनोभावों का सहज, स्वाभाविक, सजीव-चित्रण पर आधारित होता है। एक प्रकार से ये निबन्ध गद्यगीत के पिता कहे जा सकते हैं। भावात्मक निबन्धों में से अनेक स्थल ऐसे चुने जा सकते हैं जो स्वतन्त्र गद्यगीत भी बन सकते हैं। वैसे तो ये निबन्ध धारा, विक्षेष, प्रलाप और कहीं-कहीं व्यास-समास शैली को अपनाकर भी लिखे जाते हैं, किन्तु इनके लिए प्रथम तीन शैलियाँ ही प्रधान शौर उपयुक्त होती हैं। उनमें से भी प्रलाप और धारा-शैली का प्रयोग श्रेष्ठतम कहा जायगा। भाषा का माधुर्य, ओज, प्रवाह और संगीत इनमें प्रधान होता है। माखनलाल चतुर्वेदी, रघुवीर शरण मित्र, महादेवी वर्मा, सरदार पूर्ण सिंह, हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा महाराज कुमार रघुवीरसिंह जी ने इस वर्ग के उत्कृष्ट कोटि के निबन्ध लिखे हैं। श्री रघुवीरशरण जी मित्र का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

"पत्तों की पायलें बजाती हुई प्रकृति रूप और शृंगार में अलबेली है। उसकी अठखेलियों में आँखे उलझाये कोई हँसता है और कोई रोता हुआ गा रहा है। अन्तरिक्ष में मेघमाला की मनुहारें न जाने कितनी कल्पनाएं करती हैं पर पूरी नहीं होतीं, हार कर बरस पड़ती हैं, क्रौंधकर छिप जाती हैं। पीड़ा के वे आँसू ही तो हरियाली प्रकृति के स्वरूप हैं, या कहो कि यही शून्य के हृदय की छाया हैं।"

(निबन्ध "छायावाद की भूमि," कला की कला पुस्तक, पृष्ठ ३५)

× × ×

विशेष :—'हिन्दी गद्य के सोपान' अध्याय में कालानुक्रम से हिन्दी निबन्ध का विकास पठनीय है।

समालोचना-विवेचन

परिभाषा : व्युत्पत्ति और व्याख्या

समालोचना साहित्य की कसौटी है। यद्यपि साहित्य-सृष्टि के गर्भ से ही समालोचना जन्मी है, तदपि वह ऐसी है कि उसकी आत्मा और शरीर का परीक्षण करती है। शल्य-चिकित्सा जिस प्रकार रोगी व्यक्ति को भयानक रोग से मुक्त कर उसे संसार में जीने की शक्ति देती है, उसी प्रकार की है समालोचना ! साहित्य का प्रदुर्भाव जीवन से हुआ, फिर भी वह जीवन की व्याख्या करता है। बात विचित्र है किन्तु वैचित्र्य में ही बड़ी-बड़ी महानताएँ छिपी रहती हैं। और जब उनका उद्‌घाटन होता है तब जग-जीवन का मूल्य व महत्व ही कुछ दूसरा होता है। हमारा आशय यह है कि यद्यपि समालोचना साहित्य-सृष्टि के गर्भ से ही जन्मी है और साहित्य का प्रदुर्भाव हुआ है समाजी-जीवन के स्थिति-गर्भ से, फिर भी यहाँ संतान में गुण-दोष देखने वाली दृष्टि प्रधान हो गई है। संक्षेप में, समालोचना साहित्य की वह दीपशिखा है जिसके द्वारा अतीत के अंधेरे में छिपे महान साहित्यकार और उनका सत्-शिव-आनन्दमय साहित्य हमारे सामने प्रकाशित होता है। वर्त्तमान साधक साहित्यकार और उनका उपादेय आनन्दकारी और अमूल्य साहित्य जनमत के बीच चमत्कृत होने की दिशा पाता है और भविष्य के अज्ञात, अजन्मे युगांतकारी सम्भावित साहित्यकार और उनका वैभववान साहित्य जन-समाज की गोद में क्रीड़ा करने के लिए उज्ज्वल-गर्भ धारण करने लगता है। ऊँची समालोचना, ऊँचे सहित्य और साहित्यकार की प्रेरणा है, प्रेयसि है, माँ है वरदात्री है, अकथनीय है। कोई भी अपने गुण-दोषों से भली भाँति परिचित नहीं होता। साहित्यकार रचना करता है, सत्य खोजता है, किन्तु जो करता है बस कर गुजरता है। उसे चीरता फाड़ता नहीं, उसका विश्लेषण नहीं करता। रचनात्मक दृष्टि से यह प्रगति की दिशा है, किन्तु सामाजिक दृष्टि से इसमें कुछ शैथिल्य भी आ सकता है, कुछ असंगत भी जुड़ सकता है, कुछ अशलीलत्व भी पनप सकता है। समालोचना यहीं सद्-असद्, श्लील-अश्लीलत्व, संगत-असंगत और शैथिल्य-बल के बीच एक ज्वलंत विभाजक रेखा

बनती है, साहित्यकार की मनीषा और उसके बीच चीन की दीवार बनकर खड़ी हो जाती है। सद् आलोचना का उद्देश्य, लक्षण और महत्व यही कहा जायगा, और जहाँ वह ऐसी नहीं है वहाँ समालोचना नहीं है, दुरालोचना है।

समालोचना में दो शब्दों का योग है—सम+आलोचना। जिसका शब्दार्थ यही होगा कि किसी भी दृष्य वस्तु के प्रति बराबर या संतुलित-दृष्टि-निक्षेप ! समालोचना संस्कृत का शब्द है जिसका निर्माण लुच् (देखना) धातु से हुआ है। इसी लुच् धातु से 'लोचन' या नेत्र—वह माध्यम जिससे हम देखते हैं—की व्युत्पत्ति सिद्ध है। पूरा विश्लेषण यों हुआ कि लोचन के पहले 'आङ्' उपसर्ग लगाया गया फिर ङ का विलोम हुआ शौर 'आलोचन' शब्द बना। फिर इससे पहले जोड़ा 'सम' उपसर्ग, अंत में 'टप' प्रत्यय फिर पूरा शब्द बना समालोचना। इस प्रकार इस शब्द का विश्लेषात्मक विशेष अर्थ-भाव हुआ, किसी वस्तु को सम्यक् रीति से देखना। यों साहित्य के लिये 'समालोचना शब्द से आशय किसी ग्रंथ या रचना की समीक्षा करने से हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समालोचना की व्युत्पत्ति तब हो गई होगी जब मनुष्य किसी वस्तु को अच्छा बुरा और सुन्दर-असुन्दर समझने की भावना पा गया होगा। जब तक वह भावना मात्र रही होगी, गुप्त रही होगी। किंतु कभी जब वह मस्तिष्क से टकरा गई होगी उसी दिन मनुष्य कह उठा होगा, ये बुरा है ये अच्छा है, काँटा खराब है, फूल सुन्दर है ! जब उसने या औरों ने इस पर तरह-तरह से विचार किया होगा और कुछ व्यक्त किया होगा, वह समालोचना कहलाने योग्य हुआ होगा।

समालोचना की व्याख्या में बहुत कुछ कहा-सुना गया है। फिर भी उसकी कोई सम्यक् व्याख्या होना इसलिये कठिन है क्योंकि समालोचना आप में एक अनंत, असीम और अनूठी व्याख्या है। ज्यों-ज्यों साहित्य का क्षेत्र बढ़ा त्यों-त्यों साहित्य का रूप भी सुरसा की भाँति विराट् होता गया। उदाहरण के लिये प्राचीनकाल की सीमित समालोचना को नीचे के व्यक्त दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है, पर यह प्राचीन हिन्दी साहित्य के उदाहरण हैं। संस्कृत साहित्य में तो लक्षण ग्रंथों के आधार पर न जाने कितने उत्कृष्ट और व्यापक रूप से लक्षण-ग्रंथों में समालोचना के मापदण्ड स्थापित हुए हैं। भरतमुनि, दण्डी, आनन्दवर्धन, वामन आदि आचार्यों ने किया ही क्या ? नाट्य शास्त्र, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश आदि न जाने कितने-कितने उत्कृष्ट समालोचना के ग्रंथ लिखे, जिनका आधार लिये हम आज भी साहित्य विवेचन पर सम्यक् विचार नहीं कर सकते। तो हिंदी साहित्य की समालोचना के आदि साँचे इस प्रकार के थे—

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल शरीर।"

या

"सूर-सूर तुलसी ससी उडगण केशवदास।
अबके कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकाश।"

किंतु यह छोटे साँचे हिंदी साहित्य के प्राचीन उस साहित्य के प्रति हैं जो किसी एक विषय एक शैली और एक भाषा में प्रधानतः लिखा गया और जिसका प्रयोजन जीवन के भौतिक मूल्यों के प्रति धनिष्ठ न था। दूसरे उस समय समालोचना को पाँव पसारने के लिये भौतिक धरातल भी प्राप्त न था। केवल मात्र विशुद्ध रचना लिखना ही उस समय के कवियों का ध्येय और धर्म था। जो उनके साहित्य के रस-सागर में डूबे वह या तो भक्ति की धारा में निमिज्जित हो गए या वीर-शृंगार-रस के नशे में उन्मत्त हो गए। इसका प्रमाण एक ओर कबीर, सूर, मीरा व तुलसीदास की रचनाएँ हैं और दूसरी ओर बिहारी, देव, घनानन्द, पद्माकर आदि की रचनाएँ। कुछ इन्हीं कारणों से हमारे पूर्व हिंदी साहित्याकाश में समालोचना व्यापक न बन सकी। पर आधुनिक युग में समालोचना का मूल्य ऊँचा है। इसके कई कारण हैं। आज का जन समाज कोरा भावना प्रधान नहीं, वह बुद्धि का आदर करता है। भावना से यदि वह फूल उगाता है तो बुद्धि से वह उनसे फल भी पाना चाहता है। इस बुद्धिवादी दृष्टिकोण ने समालोचना के मान और उसके मूल्य के स्थापन में बड़ा काम किया है। इस युग में पद्य की अपेक्षा गद्य के विकास को अधिक मौका मिला है। समालोचना व्याख्या प्रधान होती है, अतः गद्य के विकास से उसकी प्रगति के पर मज़बूत हो गए। मुद्रण, अन्तर्राष्ट्रीय विचार-भाव और साहित्य-सम्पर्क ने भी समालोचना की सूझ को बल दिया। कुछ इन्हीं कारणों से आज समालोचना की परिधि व्यापक हो चली है और उसे किसी निश्चित व्याख्या की सीमा में बाँधना आसान काम नहीं। संक्षेप में, उसकी व्याख्या के प्रति इतना ही कहा जा सकता है उसके द्वारा आलोचना-साहित्य की सृष्टि और दृष्टि स्थापित हो सकती है, उसके द्वारा असद् और अहितकर साहित्य का विनाश हो सकता है, उसके द्वारा साहित्य के भीतरी-बाहरी सूक्ष्म-स्थूल ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है, उसके द्वारा खोई हुई प्रतिभाएँ खोजी जा सकती हैं, दबी हुई प्रतिभाएँ उभारी जा सकती हैं, अंकुर प्रतिभाएँ सींची जा सकती हैं और करील तथा बबूल के वृक्षों जैसे जड़-घातक व दुराग्रही लेखकों को नष्ट भी किया जा सकता है। यों समालोचना एक शब्द में खुरपी भी है और खाद भी। यहाँ हमें आर्नल्ड [Arnold] की यह पंक्ति याद आती है "The function of criticism" is "Knowledge and ever Fresh Knowledge" आशय है कि समालोचना का कार्य है ज्ञान देना, सदा नूतन ज्ञान!

हम ऊपर समालोचना के सद्-पक्ष पर विवेचन कर आये हैं। पर कुछ विद्वानों का विचार है कि वह घातक भी है कि वह साहित्य, साहित्यकार, और साहित्य-अध्येता के बीच में पड़ी ऐसी सर्चलाइट है जो अपनी रोशनी के अनुकूल ही हमें देखने देती है, कि साहित्यकार, साहित्य और साहित्य-अध्येता को ब्रह्मजीव की भाँति एक रूप नहीं होने देती।

इसके साथ ही आलोचना और आलोचकों के बीच में आने से मूल रचना के वैशिष्ट्य, कला-कलाकौशल तथा भाव-सौष्ठव में कमी-वेशी या कोई अन्तर तो आता नहीं फिर उसकी उपादेयता क्या? फिर एक समालोचक भी तो मूल रचना का एक पाठक ही होता है। उसकी बात या मत हमारे ऊपर क्यों लदे? आलोचना के विपक्ष में विचार रखने वालों का यह भी कहना है कि आलोचकों की धारणाएँ, उनकी व्याख्याएं, उनके निर्णय सर्वथा सत्य-न्याय या निष्पक्षता पर आधारित नहीं होते। अतः वे अपनी समालोचना से सद्-साहित्य और साहित्कारों का जाने-अजाने अहित भी कर देते हैं, जिससे विचारे सहृदय पाठक पथभ्रष्ट तक हो जाते हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से छोटे-बड़े ऐसे आक्षेप हैं जो एक सीमा तक कुछ सही भी हैं और किसी सीमा पर पहुँच कर वे गलत भी। वस्तुतः बात ये है कि इन सब आक्षेपों के लिए आज का प्रत्येक समालोचक सही समाधान प्रस्तुत करने के लिये पूरा उत्तरदाई है। प्रायः होता यह है, जैसा कि मैंने अपने हिंदी साहित्य मंजूषा ग्रंथ के निवेदन में कहा है—कि जब एक महान् कवि की समालोचना एक महान् समालोचक ही करने बैठे तो ख्याल रखने वाली बात प्रधान हो जाती है—एक समालोचक इस दृष्टि या धारणासे जब कोई समालोचना लिखने बैठेगा तो निश्चय ही उससे न्याय नहीं हो सकेगा और समालोचना दोस्तानानुमा या सार्टीफिकेटनुमा हो जायगी। बहुधा यह भी होता है कि कुछ प्रतिष्ठा-प्राप्त समालोचक अपनी बात का ओज-आग्रह इतना गुरू कर देते हैं कि उसके प्रभाव में सामान्य पाठकों का किसी भी मूल रचना के प्रति भाव और दृष्टिकोण कुण्ठित हो जाता है। मसलन आज के कुछ प्रतिष्ठित समालोचकों ने 'प्रसाद' जी की भाषा विषयक त्रुटियों को स्पष्ट करते हुए इसी प्रकार की समालोचनाएँ लिखी हैं। यह दृष्टिकोण स्पृहणीय नहीं कहा जा सकता, वरन् सर्वथा त्याज्य कहा जायगा। कुछ समालोचक ऐसी समालोचनाएँ भी लिखते हैं जिनमें अखबारी सूचना का प्रसार मात्र होता है या कच्चे-पक्के सिद्धान्तों की आड़में, आलोच्य लेखक या रचना से मन का विषैला धुँआ छोड़ा जाता है। साफ बात है कि इन आलोचनाओं का सृजन किसी भी प्रकार शुभ नहीं, वह उपेक्षणीय है, दमनीय है। हमें यह नहीं भूलना है कि मूल रचना ही साहित्य-उपवन की शोभा है,

समालोचना का महत्व तो खुरपी का जैसा है, खाद का-सा है। किन्तु यह भी एक सत्य है कि इस प्रकार की समालोचना और उनके समालोचकों का समाज के बीच कोई स्थाई अस्तित्व बना नहीं रहता। वे तूफान की तरह आते हैं, क्षणों के साथ लोप हो जाते हैं। किंतु सद् समालोचना और समालोचकों का अस्तित्व स्थाई होता है। वे असंख्य पाठकों के निस्वार्थ निर्देशक बनकर साथ रहते हैं। कौन नहीं जानता कि जायसी, तुलसी जैसे महानकवियों और उनकी कृतियों को कंठहार बनाने का श्रेय शुक्ल जी के पास चिरस्थाई रहेगा। कौन नहीं जानता कि उमरखैय्याम को लोकप्रिय बनाने का श्रेय फिटजरेल्ड के पास सदा के लिये सुरक्षित है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण साहित्यालोक में हैं जिनके आधार पर हम समालोचकों और उनकी समालोचनाओं की महत्ता का मूल्य आँककर भी पूरा नहीं आँक सकते। समाज के सभी पाठक पेट से कुछ सीखकर नहीं आते। ऐसी दशा में हमारे विचार से एक समालोचक और उसकी समालोचना यदि मध्यस्थ बनकर साहित्य की रस सृष्टि में सहायक होती है, तो कोई बुरी बात नहीं। साहित्य की रस-सृष्टि नींबू या शंतरे की रस सृष्टि से बड़ी भिन्न होती है। कुछ अधिक एडवान्स लोग तो नीबू और शंतरे के रसपान के लिये भी मशीन की मध्यस्थता ले लेते हैं। फिर साहित्य की रस-सृष्टि की प्राप्ति के लिये तो न जाने कितने आवरण खोलने होते हैं। भाषा है, अलंकार है, रीति है, अभिधा, लक्षणा व्यंजना है, वृत्तियाँ हैं और न जाने क्या क्या ? रस-इच्छुक पाठक इनसे परिचित नहीं होता। विद्यार्थी भी इनसे परिचित नहीं होते। अतः इस सब की सिद्धि के लिये एक समालोचना ही ऐसी लीक है जिस पर चलकर साहित्य के स्वरूप व उसके रस-उद्देश्य की मंजिल पर पहुँचा जा सकता है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने बड़े परिश्रम से, समालोचना के महत्व को दृष्टि में रखते हुए, अनेक मानदण्ड स्थापित किये हैं। कम अक्षर, गम्भीर और स्पष्ट अर्थ के प्रतीक 'सूत्र' बनाए। सूत्रों की व्याख्या के लिये 'वृति' बनी। और इन दोनों की समीक्षा को 'पद्धति' कहकर पुकारा गया। फिर बड़े-बड़े भाष्य बने, उन पर अनेक विषयों की विचार पद्धति को 'समीक्षा' से अर्थ साध्य किया गया, उद्धरण उल्लेख के ढंग को 'टीकन' या 'टीका' कहा गया। पंजिका, कारिका और वार्त्तिक आदि सभी समालोचना के शरीर को निर्मित करने वाले अंग हैं। निश्चित ही साहित्य के लिये समालोचना की नितांत आवश्यकता है। किंतु वह समालोचना सत्य, न्याय एवं निष्पक्षता पर आधारित होनी चाहिये। समालोचना के धर्म-कर्म के प्रति पाश्चात्य महान विद्वानों ने कुछ स्मरणीय विचार प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें हम प्रस्तुत कर रहे हैं—

वाल्टर पेटर (Walter Pater) महोदय का मत है—
"Criticism is the art of interpreting art".

कार्लायल (Carlyle) का मत है—

"Criticism stands like an interpreter between the inspired and the uninspired; between the prophet and those who hear the melody of his words, and catch soms glimpse of their material meaning, but understand not their deeper import"

सबके लिये समालोचक में कुछ गुण होने चाहिये ; जिनका उल्लेख होना आवश्यक है ।

समालोचक के गुण

१. उसे अध्ययनशील, मननशील होना चाहिये ।

२. उसका ज्ञान रूढ़ या नीरस न होकर सरस और लचीला होना चाहिये ।

४. उसमें आलोच्य विषय के सब तत्वों का गम्भीर और मौलिक चिंतन होना चाहिये ।

४. उसे तर्क-शक्ति पूर्ण व धैर्य युक्त होना चाहिये ।

५. उसे छिद्रान्वेषण की वृत्ति से मुक्त होना चाहिये ।

६. उसे न्यायप्रिय व अपने मत निर्धारण में साहसी होना चाहिये ।

७. उसे सहृदय, सहानुभूतिशील और संवेदनशील होना चाहिये ।

८. उसे अहमवादी न होकर कलाकारों के प्रति आस्थावादी होना चाहिये ।

९. उसे प्रकृति प्रेमी और निरीक्षक, तत्वशोधक तथा सुरुचि सम्पन्न होना चाहिये ।

१०. उसे किसी वर्ग या वाद का हिमायती नहीं होना चाहिये ।

इन सब गुणों से संयुक्त और दोषों से मुक्त समालोचक ही सुन्दर समालोचना लिख सकता है ।

समालोचकों के आदर्श, कर्म और व्यक्तित्व के प्रति श्री गुलाबराय जी ने इन पंक्तियों में स्मरणीय तथ्य दिये हैं—

"जिस प्रकार शासन के आलोचक शासन को शिथिलता से बचाये रखते हैं उसी प्रकार साहित्य के आलोचक साहित्य में शिथिलता और कुत्सितता नहीं आने देते और उसकी गतिविधि निर्धारित करने में सहायक होते हैं ।" (काव्य के रूप पृष्ठ २५३)

समालोचक के गुण पर प्रकाश डालते हुए अपने preface to collection of literary Essays में अनातोले फ्रांस (Anatole france) ने लिखा है—

"The good critic is he who narrates the advantures of his soul among masterpieces."

निश्चित ही महान समालोचक वही है जो श्रेष्ठतम कृतित्व के प्रति अपनी आत्मा का वैभव उडेल देता है।

समालोचना का कार्य-क्षेत्र

साहित्य समाज की जीवित स्थितियों का साक्षी है और वह सर्वजनहिताय और स्वांतःसुखाय भी होता है। वह अतीत का दीपक है, वर्त्तमान का सजीव-चित्र है और भविष्य का निर्माता है। इन गुणों के कारण ही विश्व में साहित्य और उसके रचयिताओं की अमरता सिद्ध है। साहित्य के इस महान गुण-धर्म को दोष-रहित रखना, सुरक्षित रखना, अनिवार्य कर्त्तव्य है। समालोचना इसी कर्त्तव्य की मशाल है।

पीछे हम समालोचना के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डाल चुके हैं। संक्षेप में यहाँ हम समालोचना के कार्य-क्षेत्र का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। आलोचना के कार्य-क्षेत्र को हम इन तथ्यों के माध्यम से समझ सकते हैं—

१. साहित्य की विशाल सृष्टि में कौन-कौन कृतियें सत्य-शिवं-सुन्दरं हैं और कौन-कौन निरर्थक हैं, समालोचना इसका सर्वे करके सुन्दर कृतियों के मूल्य को निर्धारित करती है और असुन्दर कृतियों की अवहेलना जगाती है।

२. समालोचना साहित्यकार और कवि की उत्तम, मध्यम और अधम प्रतिभा से सामान्य पाठकों को परिचत कराती है।

३. समालोचना महान रचियताओं को उत्साह, प्रेरणा, शक्ति, सूझ और दिशा प्रदान करती है। वह छद्म साहित्यिकों को कान पकड़कर साहित्य की तपोभूमि से बाहर करा देने का कार्य भी करती है।

४. जग, जीवन, कला, धर्म, संस्कृति तथा अन्य काव्यांगों का पारस्परिक कैसा संबंध है, समालोचना उसकी व्याख्या करती है।

५. समालोचना साहित्य, उसकी भाषा, और उसके अन्य शैलीगत उपकरणों के प्रति प्रकाश डालती है।

६. समालोचना असद् साहित्य के बढ़ते हुए सामाजिक प्रचार को रोकती है और उसके स्थान पर सद् साहित्य की सर्जना की आवाज उठाती है।

७. समालोचना अतीत के अंधेरे में खोई साहित्य-निधियों की खोज करती है, उन्हें खोजकर हमारे समक्ष रखती है। जायसी, कबीर, तुलसी, आदि का आज इतना महत्व समालोचना के कारण ही है।

८. समालोचना नए लेखकों को नए ढंग से लिखने की प्रेरणा देती है।

९. समालोचना से अस्पष्ट, अज्ञात, अनूठे और अलौकिक साहित्य के गूढ़ अर्थ जन-सुलभ हो जाते हैं।

१०. समालोचना किसी भी देशकाल के कवियों और लेखकों की महानता और महत्ता का उद्घाटन कर दूसरे काल और देशों के कवियों की महानता तथा महत्ता से उनका मूल्यांकन करती है, जिससे, जिस चाव और श्रद्धा से हम कालिदास को पढ़ते-समझते हैं उसी तरह शैक्सपीयर को भी पढ़ने-समझने की इच्छा करते हैं, उत्कंठा रखते हैं।

संक्षेप में, समालोचना का कार्य-क्षेत्र व्यष्टिगति साहित्य सृजन से लेकर समष्टिगत साहित्य सृजन तक है और उसका मुख्य उद्देश्य है साहित्य का सुन्दर पक्ष सराहना तथा कुत्सित पक्ष मिटाना।

समालोचना के भेद

आलोचना का कार्य क्षेत्र और उद्देश्य साहित्य सृष्टि की भाँति ही विशाल और विराट् है। हम उसे आसानी से वर्गगत या भेदगत नहीं कर सकते। जिस प्रकार जग-जीवन के प्रत्येक पहलू पर साहित्य लिखा जा सकता है उसी प्रकार साहित्य के हर पहलू पर समालोचना की जा सकती है। आज की हिंदी समालोचना के मानदण्ड पाश्चात्य एवं पूर्वीय तत्व-मिश्रित हैं। दोनों ही प्रकार के मिश्रित मत आज की हिंदी समालोजना में स्थापित किये जाते हैं। यह दिशा प्रशस्त कही जायगी। किंतु इसमें भी यह ध्यान तो रखना ही होगा कि हमारी भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म-कर्म की मान्यता अपनी उद्भावना में पाश्चात्य उद्भावना से कुछ न कुछ भिन्न होगी ही। उस भिन्नता को ध्यान में रखकर ही हिंदी समालोचना लिखी जानी चाहिए। स्थूलतः समालोचना के ये भेद किये जा सकते हैं—

१. व्याख्यात्मक समालोचना (Inductive criticism)
२. सैद्धान्तिक समालोचना (Speculative criticism)
३. निर्णयात्मक समालोचना (Judicial criticism)
४. तुलनात्मक समालोचना (Comparitive criticism)
५. आत्म-प्रधान या प्रभावात्मक समालोचना (Subjective or Impressionistic criticism)
६. ऐतिहासिक समालोचना (Historicalcriticism)
७. मनोवैज्ञानिक समालोचना (Psychological criticism)

८. द्वंद्वात्मक भौतिकवादी या मार्क्सवादी समालोचना (Dialectical Materialistic criticism)

९. सौन्दर्यमूलक या छायावादी समालोचना (Aesthetic criticism)

इन भेदों के अतिरिक्त और भी भेद किये जा सकते हैं। जैसे समाजवादी आलोचना, व्यक्तिवादी आलोचना आदि आदि। किन्तु उक्त आलोचनाओं का महत्व एवं प्रयोग ही व्यापक है।

ऊपरलिखित भेदों की विवेचना इस प्रकार है—

व्याख्यात्मक समालोचना
(Inductive Criticism)

इस प्रकार की आलोचना का सर्वाधिक महत्व इसलिये है क्योंकि इसके अन्तर्गत समालोचक कवि-साहित्कार और विशेषतः उसकी कृति के प्रति अपनी आस्थावान वृत्ति और धारणा को इस सहज व कोमल रूप में व्यक्त करता है कि पाठक भी उसे पढ़कर आस्थावान हो जाता है। मसलन, श्री हजारीप्रसाद जी लिखित 'कबीर' की समालोचना इसी कोटि की उच्च समालोचना कही जायगी। इस समालोचना के अन्तर्गत की गई समालोचक की व्याख्या और उसकी विवेचना उसके हृदय की मान्यता से सम्बन्धित होती हुई भी दूसरों के हृदय को स्पर्श करती है। इस आलोचना में सिद्धान्तों की सुसंगत पुष्टि होती है, किन्तु किसी प्रकार का खींचतान का निर्णय प्रधान नहीं होता। आजकल जायसी, विद्यापति आदि के भाष्य-ग्रंथों के साथ 'विशेष' के अन्तर्गत इसी प्रकार की व्याख्या प्रायः समालोचक करते हैं।

इस प्रकार की आलोचना उच्चकोटि के समालोचक ही सफल रूप में कर सकते हैं। कारण यह है कि इसमें भावना और बुद्धि का समन्वय आवश्यक है। प्रायः यह होता है कि समालोचक या तो भावनापक्ष की ओर ही झुक जाता है या बुद्धि पक्ष की ओर ही। फलतः भावना का आवेश तो आलोचक के गूढ़तत्व-उद्घाटन को निगल जाता है और बुद्धि की बौखलाहट उसे नीरस और निष्ठुर बना देती है। संक्षेप में इस प्रकार की आलोचना का सृजन ऐसा हो कि समालोचक किसी कवि और कृति के प्रकाश ही में उसके महत्व की किरणों का आह्वान करें। इस प्रकार की आलोचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"कैसे घोर सृष्टि-विप्लव का दृश्य जायसी ने सामने रक्खा है। मानव व्यापारों की व्यापकता और शक्तिमत्ता का प्रभाव वर्णन करने में जायसी को पूरी सफलता हुई है। मनुष्य की शक्ति तो देखिए! उसकी एक गति में सारी सृष्टि में खलबली पड़ गई है। पृथ्वी और आकाश दोनों हिल रहे हैं। एक से सात के

कारण यह है कि हम बताना चाहते हैं कि संस्कृत में सैद्धान्तिक समालोचना की एक व्यवस्थित और विशाल परम्परा रही है। हिन्दी में रीतिकालीन कवियों ने कुछ रीति-सैद्धान्तिक आलोचना ग्रंथ लिखे हैं। किन्तु खेद यह है कि वे न तो कवि कहलाने के प्रेम को छोड़ सके और न समालोचक व आचार्य कहलाने के यश को त्याग सके।' 'एक म्यान में दो तलवार' वाली बात चरितार्थ हुई। न तो ये लक्षण व सिद्धान्त ही खरे रख कर सके और न सरस रचना ही। किन्तु हाँ आलोचना का कार्य अवश्य चला। इस समय के विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ ये हैं—

१ केशवदास रचित 'रसिक प्रिया एवं कवि प्रिया, कुलपति रचित 'रस रहस्य', भिखारीदास रचित 'रस सारांश' एवं काव्य निर्णय, कृपाराम रचित 'हित तरंगिणी, सूरदास रचित 'साहित्यलहरी', नन्ददास रचित 'रसमंजरी', चितामणि रचित 'शृंगार मंजरी' आदि।

हिन्दी में शास्त्रीय या सैद्धान्तिक आलोचना में जो प्रगति हुई है, वह संस्कृत परम्परा के आधार पर ही हुई है। साफ बात यह है कि किसी भी समालोचक ने मौलिक ढंग से कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये हों तो किये हों। वैसे वर्तमान साहित्य की प्रगति को ध्यान में रखते हुए यह काम तेजी से और दायित्व के साथ होना चाहिए किन्तु मुश्किल यह है कि आज घी के स्थान पर वेजीटेबिल (सब्जी नहीं घासलेट घी) खाने को मिलता है। फिर मस्तिष्क क्या करे ? खैर, इस दिशा में शुक्ल जी ने कुछ मौलिकता लेकर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हैं। उनका चितामणि ग्रंथ सैद्धान्तिक समालोचना के विशेष तत्व लिये है, वैसे उसमें और भी तत्व हैं। यदि शुक्लजी के सैद्धान्तिक विवेचनों को एकत्रित किया जाय तो हिंदी की सैद्धान्तिक समालोचना का एक वृहत् ग्रंथ उपलब्ध हो सकता है। डा० श्यामसुन्दरदास जी ने 'साहित्यालोचन' सैद्धान्तिक समालोचना का सुन्दर व सुबोध ग्रन्ध लिखा है। डा० साहब ने साहित्य के सभी अंगों पर सैद्धान्तिक प्रकाश डाला है। यद्यपि उसमें मौलिकता है किन्तु बे-मालूम—आटे में नमक की तरह। बाबू गुलाबरायजी का 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप', प्रसाद जी के कुछ निबन्ध, रामदहिन मिश्र का काव्य दर्पण, सुधांशु जी का 'जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त', डा० सूर्यकांत का साहित्य मीमांसा आदि ग्रन्थ भी सैद्धान्तिक समालोचना से पूर्ण हैं। पत्र-पत्रिकाओं में भी यदा-कदा ऐसी समालोचना छपती रहती हैं। किंतु अभी यह पक्ष अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण एवं मौलिक तत्वों से युक्त कम ही बन पाया है। सैद्धान्तिक समालोचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"हमारे यहाँ प्रकृति का वर्णन प्रायः उद्दीपन रूप से हुआ है। शास्त्रीय विचार से प्रकृति के प्रति आलम्बन रूप से रतिभाव रखना रस का उत्पादक नहीं, केवल भाव का ही उत्पादक होगा। शास्त्रीय पद्धति केवल दाम्पत्य रति को ही गौरवपूर्ण

स्थान देती है किंतु जिस प्रकार वात्सल्य ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर लिया है उसी प्रकार प्रकृति भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर अपना एक विशेष रस बना लेगी या रति की परिभाषा को कुछ शिथिल करना पड़ेगा। ('सिद्धान्त और अध्ययन' पृष्ठ ९२)

जैसा हमने पूर्व लिखा है कि हमारे यहाँ सिद्धान्त की स्थापना या उसका निश्चित साँचा बनाने की बात कम है। यहाँ बाबूजी ने प्रकृति अपना कैसा रस बनायेगी, उसकी सैद्धान्तिक परिभाषा कैसी होगी, इसका कोई उल्लेख नहीं किया, नहीं तो एक नया साँचा बन जाता, जिसे हम सिद्धान्त मान सकते थे। अस्तु—

संक्षेप में, सैद्धान्तिक समालोचना साहित्य के मूलभूत तत्वों के प्रति तटस्थ होकर विचार करने के मार्ग सुझाती हैं और वह उन्हीं तत्वों की सारभूत परिभाषा होती है।

निर्णयात्मक समालोचना
(Judicial Criticism)

व्याख्यात्मक समालोचना में समालोचक किसी भी कृति को अपनी आस्था और अपने अध्ययन के प्रकाश में व्यक्त करता है, सैद्धान्तिक समालोचना केवल सारभूत सिद्धान्त प्रस्तुत करती है किंतु निर्णयात्मक में समालोचक अपने तर्क एवं सैद्धान्तिक-पक्ष का अवलम्बन लेकर किसी कृति की चीर-फाड़ करता है, उसके स्वस्थ एवं रोगिल होने का निर्णय देता है। यह निर्णय कभी-कभी 'फतवे' के रूप में भी प्रकट होता है जो घातक एवं उपेक्षणीय कहा जायगा। निर्णयात्मक आलोचना में यदि सैद्धांतिक आलोचना का सही पुट रहे और समालोचक निष्पक्ष सहृदय तथा सहानुभूति-शील बना रहे तो किसी भी कवि लेखक या कृति की उपयोगिता-अनुपयोगिता, भलाई-बुराई प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हो सकती है। पर प्रायः ऐसा होता नहीं दीखता।

समालोचक प्रायः अपने निर्णय में या तो कृतित्व के गुण पर प्रशंसा की मुहर लगा देगा या अवगुण पर अप्रशंसा का 'फतवा' दे देगा। प्रत्येक मनुष्य में गुण-दोष हैं तो प्रत्येक रचना में भी गुण-दोष दोनों होंगे ही। ऐसी दशा में समालोचक को अपने निर्णय, कृतित्व के अन्दर गुण-दोषयुक्त परिमाण की मात्रा को समझकर देने होंगे, नहीं तो वह ईर्ष्यालु या चापलूस समझा जायगा। निर्णयात्मक समालोचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"बिहारी सतसई में विभिन्न रुचि वालों के लिए अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कुछ न कुछ मिल जायगा। रस, नायिका भेद, अलंकार, नख-शिख वर्णन, भक्ति, राजनीति, वैराग्य सब कुछ उसमें समाविष्ट है। तभी तो वह कवियों के लिए भी पठनीय है –

"विविध नायिका भेद अरु अलंकार नृप नीति ।
पढ़े बिहारी सतसई जाने कवि रस रीति ।"

(पुस्तक है डा० हरिवंशलाल तथा परमानंद शास्त्री लिखित "बिहारी और उनका काव्य"—पृष्ठ ३२२)

तुलनात्मक समालोचना
(Comparitive Criticism)

जग-जीवन के अधिकांश विषय ऐसे हैं जिनपर प्रायः प्रत्येक कवि या लेखक अपनी-अपनी क्षमता से लेखनी चलाता है, अपनी अभिव्यंजना करता है । उदाहरण के लिये प्रेम, समाज, जीवन, राष्ट्र, दर्शन आदि के विषय ऐसे हैं जिनपर सदा से सब देशों के कवि-लेखक लिखते चले आ रहे हैं किंतु जब तक सृष्टि है, मानव है, विवेक है तबतक निरन्तर अनंत रूप में इन सब विषयों पर लिखा जाता रहेगा । यद्यपि सभी लेखक और कवि इन विषयों पर अपनी लेखनी चलाते हैं किंतु उनकी अभिव्यंजना और रूप-शैली में कहीं कुछ अंतर होता है । इसी अंतर की सक्षमता और अक्षमता को तोलने-परखने के लिये दो कवियों और उनकी कृतियों की समालोचना साथ-साथ की जाती है । भिन्न-भिन्न देश-कालों में हुए भिन्न कवियों के किसी भूलभूत साहित्य-विषयों तथा तथ्यों को लेकर उनपर भी तुलानत्मक विवेचना होती है । उदाहरण के लिये सूर, तुलसी, बिहारी, देव कालिदास-शैक्सपीयर आदि पर लिखी समालोचनाएँ पठनीय हैं । इस प्रकार की आलोचना की महत्ता यह है कि इसके द्वारा हम महान कवियों के काव्य की उपलब्धियों के प्रति जागरूक होकर सोचने व समझने की प्रेरणा पाते हैं । इसके साथ ही यह दिशा भी पाते हैं कि जिन दो महान् कवियों पर उनकी कृतियों की तुलना करके हम उनके कम-अधिक मूल्य को जान पाते हैं, उसकी सीमाएँ क्या हैं और किन कारणों या तथ्यों के अभाव में एक कवि दूसरे कवि से अपनी उद्भावना को उत्तम या मध्यम रख सका है । इस तथ्य को यों समझिये—मान लिया जाय कि सूर और तुलसी की समालोचना प्रस्तुत है । सूर और तुलसी दोनों ही सगुणोपासक भक्त कवि हैं किंतु सूर की भक्ति है रागानुगा या प्रेमलक्षणा भक्ति और तुलसी की है वैधी अथवा मर्यादा सम्मत भक्ति ! सूर और तुलसी के काव्य की आधार शिला 'भक्ति' एक होते हुए भी सूर की पहुँच कला और रस की चरम सीमा तक हुई और तुलसी की पहुँच धर्म, संस्कृति तथा समाज के उत्तुंग शिखर तक ! क्या कारण ?—यहीं सही तुलनात्मक आलोचना का महत्व है कि वह हमें यह सुझाएगी कि सूर अपनी कलावादी अभिव्यंजना में इसलिये अकेले और महान रहे

क्योंकि वे पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे और तुलसी इसलिये अपनी साँस्कृतिक भावना में व्यापक हुए क्योंकि वे मर्यादा पुरुषोत्तम राम के अनुचर थे। इन दोनों तथ्यों के प्रकाशन के आभाव में तुलनात्मक आलोचना न सूर और उनके काव्य के प्रति न्यायसंगत हो सकेगी और न तुलसी और उनके काव्य के प्रति ही। पर तुलनात्मक आलोचना प्रायः व्यक्तिवादी वा वर्गवादी ही लिखी जाती है। यह घातक बात है। हमारी हिंदी समालोचना के प्रारम्भिक इतिहास में देव और बिहारी विषयक वितंडावाद इसका ज्वलंत प्रमाण है। सही मार्ग यह है कि तुलनात्मक समालोचना में दो मानदण्ड हों वह बड़े सुलझे हुए और सर्व सम्मत रूप में हो तथा किन्हीं भी दो कवियों की तुलनायें उनके किसी एक कृतित्व एक पहलु या एक समय की सीमा को ध्यान में रखकर न की जाय। उनके काव्य धर्म (Poetic Religion) को पूर्ण रूप से पहले समझ लिया जाय, उनकी देशकालीन सीमाओं, उनके धर्म दर्शन विज्ञान व साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा उद्देश्य को भली भाँति चिंतन-मनन में ढाल लिया जाय, और तब लिखा जाय। ऐसी तुलनात्मक समालोचना सहृदय सामाजिकों में दो महान कवियों, उनकी क्षमताओं का रस लेने, प्रेरणा लेने एवं समुचित श्रद्धा देने में निश्चय ही सहायक होंगी। तुलनात्मक समालोचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"कालिदास की उपमायें इतनी व्यंजक, रसछलकाती और स्वतः स्फूर्त्त हैं कि पढ़ने वालों को ऐसा भान होता है मानों वे उनकी कल्पना से उत्पन्न होकर अनायास ही किसी अज्ञात लोक से आगई हैं और स्वतः उन्होंने काव्य-ग्रन्थों में अपना स्थान बना लिया है। शेक्सपीयर की उपमाओं में कालिदास की वह ताजगी, यथार्थता और नूतनता कहां—तथापि कहीं-कहीं उनके नाटकों में भाव-व्यंजना बहुत सुन्दर और अनूठी हुई है।"

(साहित्य दर्शन प्रथम, भाग पृष्ठ २५, शचीरानी गुर्टू)

संक्षेप में, तुलनात्मक आलोचना तभी उत्तम कोटि की और उपयोगी हो सकती है जबकि उसमें आलोच्य सामग्री के प्रति देशकाल, परिस्थिति और काव्य-मानों का भली प्रकार प्रतिपादन हो और यह भी कि समालोचक किसी के प्रति विशेष आकर्षण-विकर्षण के भाव का शिकार न हो।

आत्म प्रधान या प्रभावात्मक समालोचना
(Subjective or Impressionistic Criticism)

एक सच्चे समालोचक का कर्म कठिन होता है, धर्म महान होता है। वह सामान्य पाठक से अधिक योग्य, गम्भीर, अध्ययनशील, मननशील, विचारक सहृदय और सद्-निर्णायक जब तक न होगा तब तक सच्चा समालोचक नहीं हो

सकता। यदि वह सच्चा समालोचक है तो निश्चय ही उसके मत उसकी प्रभावाभिव्यक्ति और उसकी पहुँच महत्वपूर्ण होगी। प्रत्येक रचना का मूल्य दो प्रकार से आँका जाता है। एक तो सामान्य जन-समाज की दृष्टि से और एक विशिष्ट जन-समाज की दृष्टि से। कुछ रचनाएँ ऐसी होती हैं जिनका मूल्य दोनों दृष्टियों से महान होता है, वे कवि या लेखक भी महान होते हैं। कुछ रचनाएँ ऐसी भी होती हैं जिनका मूल्य केवल विशिष्ट समाज में ही विशेष होता है, वे कवि या लेखक भी महान होते हैं, किंतु लोकप्रिय नहीं। कुछ रचनाएँ ऐसी भी होती हैं जिनका मूल्य सामान्य जन-समाज में होता है, विशिष्ट समाज में नहीं। वे कवि या लेखक काल के लम्बे आघातों को सहने में प्रायः असमर्थ हो जाते हैं। इस कोटि के क्रम में पहली कोटि में तुलसी व शेक्सपीयर आ सकते हैं, दूसरी कोटि में मिल्टन व प्रसाद आ सकते हैं और तीसरी कोटि में बहुत से होते से हैं। फिल्मी गीत और रोमान्टिक उपन्यास भी बड़े जनप्रिय होते हैं किंतु उनकी जनप्रियता समाज के चरित्र-निर्माण में कुछ सहायक होती है, इससे कौन सहमत होगा ? अतः उन्हें हम 'साहित्य' की श्रेणी में नहीं ले सकते। कहने का तात्पर्य यह है कि सच्चे समालोचक के मन पर महान कवियों और उनकी कृतियों की प्रतिक्रिया विशेष रूप से होती है। उस प्रतिक्रिया के आवेश में वह श्रद्धा, विश्वास, प्रेम तथा आत्म-पीड़न के तत्वों से अभिभूत होता है और उसके मानस का कैलाश विगलित हो जाता है। महाकवि रवीन्द्र और उनकी गीतांजली के प्रति न जाने कितने बड़े-बड़े समालोचकों ने अपनी समालोचनाएँ लिखी हैं, मानस के कैलाश विगलित किये हैं। इस प्रकार की समालोचना भावसंगत, भाव विगलित और माधुर्य रस पूरित होती है। ठीक है, इस प्रकार की समालोचना में समालोचक अपने अंतस्थल को ही उड़ेलता है अपने भाव-भरित विचारों को ही व्यक्त करता है, अपनी सुरुचि को ही स्थापित करता है किन्तु उस सब में उसके मन का अधैर्य, मस्तिष्क का आवेश और अज्ञान का अँधेरा नहीं हुआ करता वरन उसमें उसकी प्रवृति (Intution) की लौ से आलोकित अखण्ड वृत्त होता है जिसके जो भी निकट जायगा, ज्योतिमान हो जायगा। एक दृष्टि से यह समालोचना भी निर्णयात्मक आथवा तुलनात्मक समालोचना की भाँति घातक हो सकती है। वह दृष्टि है अहमन्यता की, अनर्गलता की, अनुचितता की। उदाहरण के लिये यदि तुलसी की आत्मप्रधान समालोचना में कोई समालोचक यह लिखे कि **'तुलसी की राम-मर्यादा में कृष्ण कैदी बन गए, राधा सती हो गई, कबीर पुजारी बन गए और सूर की भावना सरयू बन कर बहने लगी आदि-आदि** तो यह निर्णयात्मक समालोचना अनर्गल, अनुचित, अनुपयोगी एवं अहितकर होगी। आत्मप्रधान समोलचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"पिया म्हारे नैणा आगे रहज्यो जी।
नैणा आगे रहज्यो जी, म्हाने भूल मत जाज्यो जी।"

विरह ही प्रेम का प्राण है। मिलन में प्रेम सो जाता है। विरह में जगा रहता है। विरह में सारी सृष्टि प्रेम पात्र की प्रतिमूर्ति बन जाती है सब कुछ उसी 'एक' का संदेश लानेवाला बन जाता है। मीरा का विरह अपने ढंग का अकेला ही है। अपने प्राण वल्लभ के लिये हृदय में अनुभव की हुई टीस को प्रेम लपेटे अटपटे छन्दों में गाकर अल्हड़ प्रेमसाधिका मीरा ने अपने करुणा-कलित हृदय को हलका किया है। मीरा का दुख एक आतुर भक्त का दुख है, एक प्रेमी का दुख है, कवि का दुख नहीं। इसी से पहले कह आया हूँ कि मीरा का दुख उधार लिया हुआ नहीं है। मीरा का दुख तो एक अकथ कहानी है, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व समर्पण का का एक दिव्य मनोहारी संगीत है। शब्दों से उस दुख को नापा नहीं जा सकता। वह तो केवल अनुभवै गम्य है, स्वसंवेद्य है। (मीरा की प्रेम साधना, पृष्ठ १८३-८४, लेखक हैं श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' एम० ए०)

ऐतिहासिक समालोचना
(Historical Criticism)

प्रायः किसी भी कवि-लेखक का कृतित्व देश-काल और तद्-विषयक परिस्थितियों के प्रभावों का परिणाम होता है। बहुत से कवि-लेखक देश-कालीन परिस्थितियों से ऊपर उठकर अपनी उद्भावनाएँ प्रस्तुत करते हैं, पर ऐसे उँगली पर गिने जाने वाले होते हैं और उनकी उन कृतियों में भी देश-कालीन परिस्थितियों की सूक्ष्म स्पंदना रहती ही है। जब देशकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कोई समालोचक अपनी समालोचना लिखता है तो उसका आधार ऐतिहासिक होता है और वह ऐतिहासिक आलोचना के नाम से अभिहित की जाती है। कवि-लेखक का जीवन वृत्त, उसका धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक दृष्टिकोण ऐतिहासिक वातावरण के अनुकूल ही सोचा-समझा जा सकता है और जाता भी है। मान लें कि तुलसी के मानस, सूर के सूरसागर, प्रेमचंद के गोदान, शेक्सपीयर के मैकबेथ की समालोचना प्रस्तुत हो और उसमें तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना हो तो क्या यह सम्भव होगा कि हम उसके और उसमें निहित कवि तथा कृतित्व के प्रति कोई ठोस दृष्टिकोण बना सकेंगे ? वैज्ञानिक युग की ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रकाश में हम मध्यकालीन साहित्य की सम्यक् समालोचना नहीं कर सकेंगे। प्रेमचंद के गोदान में जो समस्याएँ हैं वह तुलसी के मानस की समस्याओं से भिन्न है और वह भिन्नताएँ ऐतिहासिक रेखा से बिल्कुल अलग हैं। आशय यह है कि ऐतिहासिक आलोचना का महत्व यह है कि

उसे पढ़कर हम किसी भी कवि-लेखक और उसके कृतित्व पर सामयिक दृष्टिकोण बनाकर न्यायपूर्ण जानकारी प्राप्त करते हैं। बिना ऐतिहासिक समालोचना को पढ़े हम न विद्यापति की पदावली का स्थान और मूल्य जान सकते हैं और न गोर्की के मदर उपन्यास का। ऐतिहासिक समालोचना अतीत के गह्वर के हीरों को परखने-परखाने की सर्च लाइट है। वह वर्त्तमान के साहित्य को प्रोज्ज्वल बनाने की प्रेरणा है। प्रसाद की कामायनी, उनकी चन्द्रगुप्त एवं स्कंदगुप्त आदि कृतियों की ठीक-ठीक समालोचना तभी हो सकती है जब कि उन्हें ऐतिहासिक उजाले में देखा-परखा जायगा। सामयिक साहित्य के विवेचन में भी हमें ऐतिहासिक तथ्यों के आलोड़न-विलोड़न को ध्यान में रखना होगा तभी उसका सम्यक मूल्य निर्धारित होगा। भारतेन्दु युग का रीति-कालीन युग से अंतर, पतन या उत्थान सभी, कुछ ऐतिहासिक समालोचना की पृष्ठ-भूमि से ही जानना सम्भव होगा। संक्षेप में, ऐतिहासिक समालोचना साहित्य की सर्च लाइट है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

" 'गढ़ कुण्डार' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। घटना—समय की बुन्देलखंड की राजनीतिक परिस्थिति और उनकी लौट-लपट का इस उपन्यास में सुन्दर वर्णन है। साथ ही, इस लौट-पलट की कथा में लेखक का लक्ष्य परिणामदर्शी है। उस समय की पारस्परिक ईर्ष्या, जाति और कुल के मिथ्या अहंकार, विशृंखल और विपर्यस्त राज-शक्ति का असंयत दर्प और अनुचित प्रयोग आदि अनेक ऐसे तत्व हैं जो असंतोष की वृद्धि करने वाले हैं और जिनके भीतर षड्यंत्र तथा विप्लव का बीज छिपा रहता है, और षड्यंत्र वास्तव में होता है, विप्लव भी होता है—द्रुतता के साथ, संक्षेप के साथ, चुपचाप—ऐसा कि एक ही रात के भीतर कुण्डार राज्य अस्सी वर्ष से चली आती हुई एक शासन-प्रतिष्ठा को धूलिसात करके दूसरे शासन के हाथों में जा पड़ता है। 'गढ़ कुण्डार' की रंगस्थली में बुन्देलखण्ड का एक वृहदंश कुण्डार राज्य की सीमाओं में अभिनिविष्ट है।"

(शिलीमुख पृष्ठ ११५, लेखक पं० रामकृष्ण 'शिलीमुख' एम० ए०)

मनोविज्ञानिक समालोचना
(Psychological Criticism)

जग-जीवन के बहुत से विषय ऐसे होते हैं जो सामान्यतः हमारे मानसिक तन्तुओं से टकराकर अपनी इयत्ता विलीन कर देते हैं ? मनुष्य उन पर किसी विशेष गाम्भीर्य, चिंतन और विश्लेषण के अभाव में विचार कर सकने में समर्थ होता है, उनका समाधान भी खोज लेता है। यों प्रतिदिन में आने वाली अनेक समस्याएं मानव-मस्तिष्क की इसी प्रक्रिया से सुलझ जाती हैं। किन्तु कुछ समस्याएँ ऐसी भी हुआ करती

हैं कि उनका समाधान मनुष्य का सामान्य मन या मस्तिष्क नहीं खोज पाता और वे जटिल समस्याएँ उसके अंतर्मन में उलझती-उलझती गुत्थियों (Complexes) का रूप धारण कर लेती है। इत दोनों बातों को हम इस प्रकार उदाहरण से समझ सकते हैं—मान लें कि एक पुरुष दाम्पत्य जीवन में, अपनी परिपक्व अवस्था में, प्रवेश पा चुका है। अतः उसके लिए नारी की रति-भावना का रहस्य और उसका भोग, रस या उद्देश्य सामान्य मानसिक भाव के ऊपर आधारित होगा। किन्तु वह मनुष्य जिसकी काम भावना का परिपक्वावस्था में भी शयन न हुआ हो उसको नारी की रतिभावना का रहस्य अत्यंत उलझा हुआ, आकर्षणीय और विक्षिप्त रूप में होगा। दूसरी स्थिति का विषय—जो काम कुण्ठा युक्त है—मनोविज्ञानिक विश्लेषण का आधार है। इसी प्रकार के अनेक विषय और भी हैं जिनका सम्बन्ध मनोविज्ञान के साथ अटूट है। तो जिस समालोचनामें कवि और उसकी कृति को मनोवैज्ञानिक तथ्यों की सहायतासे परखा जाता है वह मनोविज्ञानिक समालोचना कहलाती है। इस समालोचना में समालोचक कवि के जीवन का वातावरण, उसका मानसिक विकास, उसका मूल स्वभाव, उसकी कामनाओं की दिशा, उसके विकसित होने के ढंग व उसकी दबी-कुचली साधों का सूक्ष्म विश्लेषण करता है। असल में इस प्रकार की समालोचना का आधार फ्रायड के अभावात्मक दर्शन पर ठहरा हुआ है। आधुनिक युग व्यक्ति प्रधान है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ हैं, मांगें हैं, भूख (Appetite) है। आज के कलाकार, कवि और लेखक का जीवन अनेकानेक आभावों का पुंज है। अनेकानेक, व्यक्तिगत प्रेम, घृणा दया, करुणा, अर्थ, वासना के थपेड़े खाते-खाते उसका स्वप्न-शिल्पी मानस जर्जरित हो चला है। फलतः, उसकी अभिव्यंजना में अन्तर्मन की भूख का स्वर प्रबल हो गया है। इसी 'भूख' की क्रिया-प्रतिक्रिया का विवेचन मनोविज्ञानिक समालोचना में लक्ष्य होता है। यह समालोचना अधिकांशतः शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं ऐतिहासिक मान्यताओं से परे हटकर किसी समालोचक की व्यक्तिगत् चिन्ताधारा को प्रकट करती है। इस समालोचना का मूल मानदण्ड फ्रायड का दर्शन है। इसके कुछ गुण भी हैं। अन्तर्मन की भावना या कुण्ठा को समझ लेना सामान्यतः सरल नहीं। इस समालोचना में समालोचक अपनी सीधी पहुंच कवि और उसकी कृति की तह में करता है और वहाँ की उलझी ग्रन्थियों को उधेड़ डालता है। कहना होगा कि कला के सूक्ष्मतत्व अन्तर्मन में ही निहित होते हैं। हमारे सभी स्वप्न अन्तर्मन के केमरे में खिचे साकार चित्र ही तो है! ये स्वप्न अश्लील भी होते हैं, ये स्वप्न 'रामराज्य' के निर्माण के भी होते हैं। कालरिज ने 'स्वप्निल महल' की कविता लिखकर संसारमें ख्याति पा ली। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि सभी कवि-लेखक प्रायः स्वप्नद्रष्टा होते हैं और उन स्व नों को वह कैसा बनाएँ, यह प्रश्न जटिल है। जिस पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जा सकता है। पर अन्तर्मन

के केमरे में खिंचे कवि कलाकार एवं लेखक के भले-बुरे स्वप्नों का भली प्रकार दिग्दर्शन कराती है मनोवैज्ञानिक समालोचना—बुरे स्वप्नों को वह चीर-फाड़ भी डालती है, भले स्वप्नों को और निखार भी देती है। इस प्रकार उसकी उपयोगिता ऊँची है। किन्तु प्रायः अन्तर्मन के भले स्वप्नों को निखारने वाली बात कम ही बन पाती है। यह बुरी बात है। होता यह है कि आज के मनोवैज्ञानिक समालोचक अपनी समालोचनाओं में काम-कुण्ठा एवं अभावों का विश्लेषण करने में ही उपसंहार की हद छू लेते हैं। संक्षेप में, मनोवैज्ञानिक आलोचना ऐसी हो जो कलाकार के मंगल स्वप्नों को समाज का सत्य रूप दे दे और ऐसी भी, जो कलाकार के अमंगल स्वप्नों को समाज में घृणित सिद्ध कर दे। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"शेखर एक जीवनी की भूमिका का पहला वाक्य है—'वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में हैं, वह दृष्टा हो सकता है।' यह ठीक है।' किन्तु यातना की वास्तविकता और उसकी भयभीत कल्पना में अन्तर है। शेखर, यातना में नहीं वरन् उसके 'विजन' से त्रस्त है। फाँसी की कठोर कल्पना उसकी आँखों में नाच रही है और इस काल्पनिक भय की भावना से व्याकुल होकर अपने जीवन की गतिविधि का खुलासा पाठक के सामने रखना चाहता है। अपने अतीत जीवन को दुबारा जीना चाहता है। स्वभावतः उसे फूलों की अपेक्षा अधखिली कलियाँ तोड़ना ही अच्छा लगता है। अपनी भावनाओं के इस आन्दोलन में वह हवा के झोंके में पड़े हुए सूखे पत्ते की भाँति इधर-उधर अटकता-उड़ता फिरता है। वह यह भी नहीं जानता है कि उसके जीवन की सत्यता क्या है? वायु में उड़ती हुई धूल पर खिंची रेखा और बस।"

(हिन्दी कथा साहित्य, पृष्ठ १६१, लेखक गंगाप्रसाद पाण्डे)

द्वंदात्मक भौतिकवादी या मार्क्सवादी समालोचना
(Diallctical Materialistic Criticism)

आधुनिक युग के हिंदी साहित्य में फ्रायड की मनोवैज्ञानिक एवं मार्क्स की द्वंदात्मक भौतिकवादी धारणाएं वेग से व्यक्त हुई है। मु० प्रेमचन्द के समय के इर्द-गिर्द ही इस प्रकार की साहित्य सृष्टि आरम्भ हो गई और कालान्तर में उसका सृजन विशाल होने लगा। आज इस प्रकार के साहित्य की अभिवृद्धि के साथ ही तद् विषयक समालोचना भी पनप उठी है। मनोवैज्ञानिक समालोचना के विषय में हम ऊपर विवेचन कर आये हैं। मार्क्सवादी समालोचना का मानदण्ड केवल मार्क्स की निम्न वर्गवादी मान्यताओं पर आधारित है। सर्वहारा या शोषितवर्ग का

प्रतिनिधित्व एवं सरमायेदार, शोषकवर्ग का विरोध—इन दो व्याख्याओं की अभिव्यक्ति मार्क्सदर्शन सम्बन्धी साहित्य की विशेषता है। मार्क्सवादी समालोचक सम्पूर्ण साहित्य की महत्ता आँकता है अर्थतन्त्र के आधार पर। उसका तर्क है कि मानव जीवन की समृद्धि, उसकी शांति और उसका सब प्रकार का विकास एकमात्र सुव्यवस्थित अर्थप्रणाली पर ही निर्भर है। जो कृति इस दृष्टि से सफल है, वही सफल है। किन्तु यह मान्यता साहित्य एवं जीवन के पूर्णत्व का विश्लेषण नहीं करती। केवल रोटी, कपड़ा व मकान की समस्या ही मानव जीवन को सुख-संतोष प्रदान नहीं कर सकती। सरमायेदार भी कई अज्ञात कष्टों के शिकार होते हैं। इसलिये यह कहना कि साहित्य की एक मात्र सफलता उसकी अर्थ-भित्ति पर ही टिकी है, गलत है। अर्थ या भौतिक-साधन भी जीवन के लिये आवश्यक हैं, किंतु उनसे ऊपर भी जीवन है। सुमित्रानन्दन पंत ने इस विषय पर अपने आधुनिक कवि की भूमिका में बड़ा तथ्यसंगत प्रकाश डाला है। उनका विचार है कि—

"मनुष्य क्षुधाकाम की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और जरा मरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है।

(आधुनिक कविपंत, पृष्ठ २२)

मार्क्सवादी समालोचना को साहित्यक शब्दों में प्रगतिवादी समालोचना भी कहा जाता है। समाजिक प्रगति किसी एक 'वाद' के दायरे में नहीं हो सकती। अतः हम जिसे प्रगतिवादी समालोचना कहते हैं उसके विवेचन-तत्वों को समाज की प्रत्येक स्थिति पर शुभ-प्रकाश डालना होगा। वह 'कम्यूनिज्म' की पोषक ही नहीं हो सकती। उसके मान होंगे 'सर्वोदय' के कार्य-व्यापार। केवल मशीन ही मनुष्य की सन्तुष्टि नहीं बन सकती। उसके लिये मनुष्य मनुष्य की प्रीति, सहयोग, आदर्श और सहकर्म की भावना भी अनिवार्य है। इन सब समाजिक पक्षों को लेकर जो समालोचना लिखी जायगी वह साहित्य की विकासशील स्थिति का साथ दे सकेगी। हमारे यहाँ के समालोचक मार्क्सवादी एकांगी दर्शन का आधार लेकर, गांधी, राम बुद्ध, मुहम्मद और गांधी की सामाजिक भावना से अनुप्रेरित हुए, साहित्य सृजन के प्रति न्याय नहीं कर सकते। समाजवादी समालोचना के नाम पर भारतीय रस, अलंकार, छंद, संगीत एवं अन्य कलात्मक सजीव-तत्वों पर आक्षेप ही नहीं, कुठाराघात भी किया जाता है, जो उपेक्षणीय है। संक्षेप में, प्रगतिवादी या समाजवादी समालोचना में समालोचक को अपने देश, काल, संस्कृति, इतिहास एवं दर्शन की मान्यताओं को ध्यान में रखना होगा, यही सुभ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"इस कार्य के लिए हमें अपनी आर्थिक-उत्पादन-शक्ति को हजारों गुना बढ़ा

लेना है, और यह काम तभी हो सकता है जब हमारे देश में प्रत्येक व्यक्ति अपने को सरकार पर आश्रित न समझ कर अपनी शक्ति उत्पादक, सृजनात्मक और रचनात्मक कार्यों में लगा दे। इस महान् यज्ञ में साहित्यकार ही प्रधान आहुति डाल सकते हैं और आशा है डालेंगे।

मैं इसी प्रकार के साहित्य को प्रगतिशील साहित्य मानता हूँ। आजकल कुछ लोग प्रगतिशील साहित्यका दर्जा ऐसे साहित्य को देते हैं जिसमें वर्तमान समाज के अन्तर में होने वाले श्रेणी-संघर्षों का वर्णन होता है और जो तथाकथित शोषित वर्गों को अन्य वर्गो से संघर्ष के लिए प्रेरित करता है। मेरा विचार है कि भारत ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में सामाजिक शोषण का अन्त करने की एक नई रीति का आविष्कार किया है ?"

(साहित्य, शिक्षा और संस्कृति पृ० ९६,
लेखक—डा० राजेन्द्र प्रसाद जी)

सौन्दर्यमूलक या छायावादी समालोचना
(Aesthetic Criticism)

जिस साहित्य में भावनाओं एवं अनुभूतियों का असयंमित और स्वच्छन्द अभिव्यंजन होता है वह सौन्दर्यमूलक या छायावादी साहित्य कहलाता है। सौन्दर्यमूलक साहित्य में मानव के अहम (इड) की अभिव्यंजना का महत्व अधिक एवं सामाजिक तत्वों की अवहेलना प्रमुख होती है। मानव की आदिम मूल प्रवृत्तियों का खुला प्रकाशन ही इस साहित्य का लक्ष होता है, उसके अंतरगत क्लासिक्स या शास्त्रीय पद्धति कुछ निरर्थक सी है। किन्तु ऐसी बात नहीं कि रोमांटिक प्रवृत्तियों एवं सामाजिक प्रवृत्तियों में सर्वथा विरोध ही हो। अपने उच्च धरातल पर दोनों एक दूसरे पक्ष की पूरक हैं। सत्य : शिव और सुन्दरमय साहित्य से अर्थ यही है कि जिसमें रोमांस और संयम का आदर्श एकरूपसे स्थापित हो गया हो। उदाहरणके लिए भक्तिकालीन कृष्ण एवं राम के प्रतीक पात्र समाज के सुन्दर संयमित आदर्श के प्रतीक हैं। फ्रायड़ ने यद्यपि इदम (Id) को मानव की मूल प्रेरणाओं एवं उद्गम का स्रोत माना है और यह भी कि उसकी एक मात्र मांग योन-सन्तुष्टि बतलाई है तथापि वह उससे आगे अंहकारादर्श (Ego ideal) को भी महत्व दिया है जिससे मनुष्य पशु न रहे, वह अपने महत्व और मर्यादा को समझे भी। यहीं फ्रायड़ का दर्शन उच्च व प्रेरणावादी कहा जायगा। दूसरी ओर भारतीय मनीषियों एवं दार्शनिकों ने भी सुन्दरम् को महत्व देते हुए भी सद्चिद की महत्ता स्थापित की है। 'सद्चिदानन्द' सूत्र इसका साक्षी है। 'आनन्द' का विधायक ही 'सुन्दर' है। जो वस्तु सुन्दरम् होगी

वह अपने उपयोग में आनन्ददायिनी अवश्य होगी, यह सत्य है। 'रसो वैसः काव्य।' सूत्रमें भी रस के सृष्टा 'रूप' की सत्ता मौजूद है। हमारे भारतीय वाङ्मय में सुन्दरम् से सम्बन्धित आदर्श रोमांसवादी साहित्य बड़ी मात्रा में है। कालिदास, सूर जायसी आदि कवियों की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। रोमांसवादी साहित्य के सृजन में सौन्दर्य की परख किस कसौटी पर की जाय जिससे वह उचित अनुचित ठहराया जा सके, यह समस्या जटिल रही है। वर्डसवर्थ, कीट्स, शैले आदि १८ वीं शती के पश्चात्य कवियों ने इस विषय पर यथेष्ट विचार व्यक्त किये हैं।

सार रूपमें इन्होंने सौन्दर्य को भाषा, भाव, कल्पना, बुद्धि, संवेग तथा आवेग आदि तत्वों के माध्यम से समझने की चेष्टा की है। सभी दृष्टि से यह स्वच्छन्द अनुभूति के प्रकाशन के पक्ष में रहे हैं। वर्डसवर्थ' ने प्रकृति और मानव की सौन्दर्य-चेतना को एक माना है। अपनी 'इममोर्टेलिटी ओड' की अंतिम पंक्तियों में उन्होंने ऐसी ही भावना प्रकट की हैं। हिन्दी में द्विवेदीकाल से ही इस प्रकार का विदेशी स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण कुछ सामाहित हो चला था। तत्पश्चात्य छायावाद के नाम से प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, वच्चन, अज्ञेय, इलाचन्द जोशी आदि ने इस प्रकार का साहित्य रचा। सौन्दर्यमूलक दृष्टिकोण के प्रतिपादन में भिन्नता होते हुए भी अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता कायम रही। रोमांटिक समलोचना का भी सूत्रपात हुआ। पंत, प्रसाद, महादेवी और निराला ने इस प्रकार की समालोचनाएँ अपनी काव्य कृतियों की भूमिकाओं तथा फुटकल लेखों में प्रस्तुत की हैं। उसके पश्चात् ज्यों-ज्यों सौन्दर्य और स्वच्छन्दतावादी अनुभूतियों का क्षेत्र बढ़ा, उनकी अभिव्यक्ति भी बढ़ी, तो समालोचना भी स्वच्छन्दतावादी समालोचना के मानदण्ड कला और भाव-पक्ष दोनों ही दृष्टि से ठोस हैं, किन्त, चूँकि सौन्दर्य क्या है, स्थूल या सूक्ष्म ? इस पर कोई सम्यक और सर्वसम्मत विचार नहीं बने। अतः अभी तक स्वच्छंदतावादी समालोचना ने शांत और सीधा प्रवाह धारण नहीं किया। कमसे कम भारतीय सौन्दर्यमूलक समालोचना के अभी ठोस सिद्धान्त नहीं बने। उनमें पाश्चात्य एवं भारतीय प्राचीन सिद्धान्तों की आड़ से ही मत प्रतिपादित किए जाते हैं। संक्षेप में, यदि रोमांसवादी समालोचना का मानदण्ड 'कला कला के लिए' ही न रहे और उसमें कला तथा जगजीवन का समन्वित मानदण्ड मान्य हो तो निश्चय ही ऐसी समालोचना साहित्य के सत्य, शिव और सुन्दर की सांगोपांग व्याख्या और विवेचन कर सकेगी। उदाहरण प्रस्तुत है—

"छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीनकाल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था, और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी।

छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जलकी एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महा-प्राण बन गई, अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है ?"

(संध्यागीत, पृ० ८, महादेवी जी)

भाषा-छंद लय एवं प्रतीक विधान आदि के क्षेत्र में भी निराला पंत आदि ने नए-नए ढंग से सौन्दर्यमूलक धारा की समालोचनाएँ लिखी हैं। असल में स्वच्छंदतावाद या सौन्दर्यवाद की अर्थ-सिद्धि यदि नई अभिव्यक्ति के पक्षमें ली जाय तो उसके लिए समालोचना के नए मानदण्ड निर्धारित किये जायँगे, उससे समालोचना की दिशा में प्रगति आएगी। कोरी सौंदर्यमूलक भावना या छायावादी भावना का विश्लेषण भर कर लेना ऐसी समालोचना को व्यापक न बना सकेगा और यही कारण है कि इस धारा के उच्च समालोचक उँगलियों पर गिने जाने वाले ही रहे और उनको भी आज की नई पीढ़ी दिलसे याद करने में ऊबती-सी लगती है।

विशेष—'हिंदी गद्य के सोपान' अध्याय में कालानुक्रम से समालोचना का विकास पढ़े ?

तीसरा अध्याय

महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी का जीवन वृत्त

हिन्दी नैराश्य जगतके गहन अंधकार को चीरता हुआ एक मार्तण्ड उदित हुआ जिसका नाम था महावीर प्रसाद द्विवेदी। प्रत्येक महापुरुष का जीवन संकट में बीतता है, और उसका जीवन अपने युग का इतिहास होता है। जिस प्रकार इतिहास का निर्माण वातावरण तथा परिस्थितियों से होता है, उसी प्रकार एक महापुरुष का निर्माण भी वातावरण तथा परिस्थितियाँ करती हैं। विचारणीय यह है कि महारथी द्विवेदीजी का निर्माण कैसे युग, कैसे कुल तथा कैसे वातावरण में हुआ ?

संवत् १९२१ का युग भारतीय इतिहास में क्रान्ति का युग था। उस समय न केवल सामाजिक चेतना ही अस्तव्यस्त थी, बल्कि राजनैतिक क्षेत्र भी असंगत तथा विपक्ष में था। हिन्दी साहित्य अपने शिशु रूप में था, खड़ीबोली हिंदी विच्छिन्न रूप में थी। उस समय तो ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी जिसमें साहस होता, व्यक्तित्व होता और जो उस समय की परिस्थितियों को कंधे पर उठाकर सफलता की मंजिल की ओर ले जाता। द्विवेदी जी ने हिंदी खड़ी बोली के लिए मार्ग निर्देशित किया और उस में उन्हें सफलता भी मिली।

द्विवेदी जी के पिता ब्राह्मण थे, जन्म-स्थान दौलतपुर था और दौलतपुर को मानो इनके जन्म से कृतार्थ होना था। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" वाली कहावत इन पर घटित होती है। सरस्वती का एक मंत्र इनकी जिह्वा पर अंकित किया गया, मानों सरस्वती ने अपने हाथों से इनकी जिह्वा पर लिख दिया था—साहित्य की परिवृद्धि का मन्त्र ! राजाराम इनके पिता थे, जो धार्मिक संस्कारों के व्यक्ति थे। बचपनमें ही द्विवेदी जी को संस्कृत के ग्रन्थों की शिक्षा दी गई थी। इन्होंने अमरकोष और दुर्गासप्तशतीके श्लोक कंठस्थ कर लिये थे। अमरकोष की प्रतिध्वनि इनके साहित्यमें अंत तक चलती रही। इससे सिद्ध होता है कि इनकी बुद्धि कुशाग्र थी। इनका जन्म परिस्थितियों के अनुकूल हुआ, जैसा कि महापुरुषों का होता है। ईश्वर की ओर

से वह ऐसा कार्य करने आये थे जिससे हिन्दी भाषा व साहित्य कृतज्ञ होता—मानो ईश्वर ने उनको इसी कार्य के लिए भेजा था।

इनके पिता ने इनकी शिक्षा के लिए अच्छा प्रबन्ध किया। धीरे-धीरे अंग्रेजी, हिन्दी, फ़ारसी इत्यादि सब विषयों के ये ज्ञाता हो गये। पढ़ने के पश्चात् बम्बईमें क्लर्की की नौकरी स्वीकार की। ग्रामीण क्षेत्र में अध्ययन करके शहरी क्षेत्र में क्लर्की की पोस्ट को स्वीकार करना मानो इनके विकसित जीवन की एक दिशा थी। काम करने के लिए आये थे, काम करके ही जाना था। इनके पाँव बम्बई में कब रुकने वाले थे ?—इनके पाँव तो युगों तक दौड़ने वाले थे। अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण तार का काम सीख लिया और मानो यह अवधि उनके जीवन की एक बड़ी परीक्षा थी। नौकरी भी की, अध्ययन भी किया। फल यह हुआ कि अधिकारी की निगाहों में चढ़ गये। उन्नति हुई—चीफ 'इन्सपेक्टर' बने, पर उन्हें यहाँ भी नहीं रुकना था। उन्होंने उस समय के काम की विषम स्थिति को देखा और वह देखना द्विवेदी जी जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए असहनीय था। अतः त्याग-पत्र दे दिया। इनके विकसित होते हुए क्रियान्वित जीवन का एक नया अध्याय जैसे इस इस्तीफे देने के बाद आरम्भ हुआ। परन्तु इसी बीच में उनके पारिवारिक जीवन में भी धैर्य के सागर का मंथन होता रहा। घटनाओं ने सोच लिया था कि हमें इस पर्वत जैसे विशाल व्यक्तित्व को पीस रखना है और द्विवेदी जी ने मानो यह निश्चय किया था कि मुझे इन परिस्थितियों की चोटी पर खड़े होकर सफलता का शंखनाद करना है।

आपका विवाह अल्पायु में हो गया था। पत्नी सुन्दर न थी—पर सुशील थी, विदुषी न थी—पर समझदार थी। द्विवेदी जी से उन्हें अपार प्रेम था, और द्विवेदी जी को उन पर अपार विश्वास और अपार प्रेम था। पर काल ने सरस्वती की इस प्रतिमूर्ति को तोड़ दिया। द्विवेदी मंदिर में अकेला रह गया। दूसरी ओर माता-पिता का आश्रय भी जाता रहा और इन संघातों ने इन्हें बिल्कुल अकेला कर दिया। सरस्वती की फाइल में और द्विवेदी जी के पत्रों में पत्नी की मृत्यु-घटना और माता-पिता की कारुणिक कहानी अंकित है। अस्तु,

द्विवेदी जी सुख से ऊब गये। उससे घृणा करने लगे। संघर्ष ही उन्हें प्रिय हो गया। अधिकारियों के पचास कहने पर भी १५० रुपये की नौकरी पर ठोकर मार दी और दौलतपुर लौट आये। जीवन के अंतिम १८ वर्ष तक वह इस गाँव में हिन्दी साहित्य की जड़ें सींचते रहे, भाषा का शृङ्गार करते रहे। और यहां तक की उनकी सम्पूर्ण जीवन की कहानी का सार यह है कि उन्होंने जीवन को खिलवाड़ नहीं समझा था। वह आर्थिक असम्पन्न कुल में पैदा हुए, किन्तु मृत्यु को जीवन की जयमाला पहना गये।

उनका व्यक्तित्व बहुत प्रौढ़, स्वस्थ, यों कि दिव्य ललाट, रोबीली मूँछें, वीरत्व से पूर्ण मुखारविंद, बलिष्ठ वक्ष और अवयव माँसल !

द्विवेदी जी स्वभाव के क्रोधी थे, किंतु उस क्रोध में पर्वत का उठान नहीं दूध का उफान था। गुप्त जी जैसे अपने प्रिय शिष्य से वे एक बार नाराज़ हुए थे। गुप्त जी अपने को तुलसी के जैसा समझने लगे तो द्विवेदी जी ने बात काट दी कि गुप्त ! तुलसी की कविता के साथ तुम्हारी कोई समता नहीं। और जब, दुख से आक्रांत होकर गुप्त जी ने द्विवेदी जी के पाँव पर सिर रक्खा तो द्विवेदी जी ने छाती से लगा लिया। पर क्रोधी तो वे थे ही। अनेकानेक पत्र इस बात के साक्षी हैं कि द्विवेदी जी से बहुत लोग नाखुश थे। उनमें आत्मश्लाघा, आत्म-प्रशंसा—परिमाण से ज्यादा थी। किसी ने उनकी जीवनी उनके पास भेजी, तो अपने ही प्रशंसा के वाक्य और बढ़ा दिये। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे उद्दण्ड थे। उनमें सौम्यता, गरिमा, स्नेह, विद्वता, विनोदप्रियता, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि के संस्कार भी प्रधान थे। उनकी दिनचर्या पल-पल की बँधी हुई थी। उनकी कार्य-क्षमता प्रायः अब तक के सभी लेखकों से अधिक कूती जा सकती है। नागरी प्रचारिणी के संरक्षण में उनकी फाईलें, उनके पत्र इस बात के साक्षी हैं कि द्विवेदी जी स्वभाव से व्यवस्थावादी थे। उनके हर पत्र के ऊपर (No Reply) पत्रोत्तर दिया और अन्य रिमार्क मौजूद हैं। ज्ञात होता है कि उनके छोटे से कक्ष में रक्खी हुई प्रत्येक वस्तु व्यवस्था में विद्युत् की नाईं चमकती थी। वे बच्चों से भी खेलते थे। बड़ों से गम्भीरता से बात करते थे, उन्हें फटकारते थे तो स्नेह भी करते थे। कुल मिलाकर उनका स्वभाव विलक्षणता में अनोखा था।

गुण

द्विवेदी जी अध्ययनशील व्यक्ति थे। अतः सम्भाषण देने की कला में वे वेजोड़ थे। विचारों की गम्भीरता, उक्ति का चुटीलापन अध्ययन के उद्धरण उनकी अनेकानेक व्याख्याओं में आज भी देखे जा सकते हैं। द्विवेदी जी क्रोधी थे, वे किसी की बात कम मानते थे। यद्यपि यह बात स्वभाव की दशा में प्रशंसनीय नहीं, परन्तु फिर भी द्विवेदी में अध्ययन का बल था, लेखनी का जौहर था, वाणी का विश्वास था। अतः वे किसी से दबे नहीं उनके विरोधियों ने उनके विषय में बहुत कुछ कहा—पर वे पर्वत की तरह अटल रहे। द्विवेदी जी हर विषय की परीक्षा के शौकीन थे। यद्यपि परीक्षा उनके मस्तिष्क की चेरी थी, फिर उन्होंने साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा का फार्म भरा था, सो भी तब, जबकि उनकी ख्याति हिन्दी के क्षेत्र में विराट हो गई थी। विशारद की परीक्षा और द्विवेदी जी की योग्यता, ये बातें कितनी दूर-दूर की थीं ? पर द्विवेदी जी भी खूब थे ! द्विवेदी जी दानवीर

थे। जीवन की गाढ़ी कमाई के ६४०० रु० साहित्य संस्था को दान कर दिये। द्विवेदी जी निःसंतान थे, परन्तु "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना उनमें प्रधान थी। उन्होंने निर्धनों की अनेक कन्याएँ सोहागिनें बना दीं। पैसे-पैसे के मुहताज नवयुवकों को पढ़ाकर विदेश भिजवा दिया। दानवीरता और उदारता के मध्य द्विवेदी जी का व्यक्तित्व मानो शंकर का तीसरा नेत्र था। तो निश्चय ही, जिसे कि हम ऊपर लिख आये हैं, द्विवेदी जी में स्वभाव की क्रूरता उनके कर्म की महानता में परिणत थी। पर वे निष्पक्षवादी थे इसी कारण उन्होंने कालिदास की त्रुटियाँ भी सामने रक्खीं और तत्कालीन उदीयमान और लेखकों की रचनाएँ भी सराहीं। द्विवेदी जी स्वाभिमानी व्यक्ति थे। एक बार द्वितीय श्रेणी में सफ़र करते हुए उन्होंने एक साहब की डंडे से ख़बर ली थी। इस प्रकार द्विवेदी जी का व्यक्तित्व मानों अपने युग की साहित्यिक शिथिल स्थितियों को एक शिक्षक की भाँति ठीक मार्ग पर लाने के लिए अवतरित हुआ था। उन्होंने जो कुछ भी किया उसमें भाषाहित, देश-हित और सर्वहित की भावना ही प्रधान रही। वे हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य-कारों के आदि गुरु हैं। उन्होंने यदि तत्कालीन लेखकों को डंडे लगाये तो उन्हें सुधार भी दिया। हिन्दी भाषा की स्थिति तब बिगड़ रही थी। वे भारतीयता के पुत्र थे। उन्होंने तीस वर्ष अनवरत अपने बल-पौरुष पर हिन्दी भाषा साहित्य को गर्वोन्नत करने का बीड़ा उठाया था। सन् १९०३ में उन्होंने सरस्वती का सम्पादन आरम्भ किया, उसी बीच अपने गाँव के ऑनरेरी मुन्सिफ़ और सरपंच रहकर उन्होंने अपने न्याय और अपनी सद्शिक्षा का महान् परिचय दिया था। द्विवेदी जी प्रकाण्ड विद्वान् थे, अतः काशी विश्वविद्यालय के एम० ए० के परीक्षक रहे। यद्यपि उनके पास कोई उपाधि न थी।

उपसंहार

उनके चरित-चरित्र पर उपर्युक्त प्रकाश डालते हुए हम उनके जीवन और चरित्र पर यह धारणाएँ बना सकते हैं।

१. द्विवेदी जी का जीवन शैशव से लेकर मरणान्त तक महापुरुषों की नाईं संघर्षरत रहा—पारिवारिक दुख, सरकारी नौकरी तथा शारीरिक आधि-व्याधि उनके जीवन को जर्जर बनाती रहीं पर वे लौह पुरुष बने रहे।

२. द्विवेदी जी स्वभाव से सरल, अध्यवसायी, अध्ययनशील, परोपकारी किन्तु क्रोधी और स्वाभिमानी थे। उनमें गुणों की मात्रा अधिक थी, अतः क्रोध और अभिमान होते हुए भी वे आदरास्पद थे।

३. द्विवेदी जी कुटुम्ब प्रेमी, समाज सेवी और साहित्य-परिष्कारक थे। उन्होंने कान्य-कुब्ज ब्राह्मण जाति के लिये अतिशय भला किया। समाज

सेवी के रूप में उन्होंने निर्धनों की सहायता की उन्हें विवाहित, शिक्षित और सम्पन्न बनाया। साहित्य परिष्कारकके रूपमें उनकी शिक्षा और कर्मठताका मुकाबला न केवल हिन्दी साहित्य में वरन् विदेशी साहित्य में भी मिलना कठिन है। उन्होंने हिन्दी खड़ी बोली भाषा को शृंगार दिया, व्यवस्था दी। नये लेखकों की आँखों से अंग्रेजी ऐनक उतार कर उनकी आँखों में भारतीयता की सलाई लगा दी। द्विवेदी जी अन्यत्र कैसे भी हों, किन्तु आधुनिक हिन्दी भाषा-साहित्य के द्रोणाचार्य हैं।

द्विवेदी जी का युग और व्यक्तित्व

भारतेन्दु ने माँ भारती की अनथक सेवा की। उनकी मित्र-मंडली ने प्रचारात्मक साहित्य, व्यापकता से लिखा। परन्तु उस समय के भाषा-साहित्य में कला का नैपुण्य इसलिए नहीं आ सका क्योंकि वह काल संक्रांति का था। अतः कला पीछे थी और युग-जीवन आगे। भाषा में व्यवस्था न आ पाई, क्योंकि वह नई थी। भावों और विचारों में गम्भीरता न आ पाई, क्योंकि वे विज्ञापन मात्र थे। संक्षेप में, उस युग-समाज की विषम अमावस्या के वातावरण में पूज्य भारतेन्दु ने साहित्य और सुधार का दीपक जलाया था। उस दीपक के धुँधले प्रकाश से कुछ अँधेरा घटा, कुछ पाप कटा, किंतु साहित्य की चमकीली सृष्टि-ऊषा और हिन्दी खड़ीबोली भाषा की प्रोज्ज्वल किरणें नहीं फूटी थीं, उस समय उदय हुये साहित्य के मार्तण्ड—महावीर प्रसाद द्विवेदी ! युग-अंधकार की निशा बीत चली, साहित्यिक उल्लूओं के होश ठिकाने आ गये और मुस्कुरा पड़ी हिन्दी की सहमी सकुची बाला ! द्विवेदी ने उसे आशीर्वाद दिया, और रचा गया उसका स्वयंम्बर, जिसमें प्रसाद पधारे, गुप्त पधारे, प्रेमचन्द पधारे आदि आदि —

× × ×

द्विवेदी जी का युग विभिन्न प्रकार की क्रांतियों का युग रहा है। मुख्यतः, जिस क्रांतिवादिता में द्विवेदी जी का व्यक्तित्व लग सका—वह समाजिक, साहित्यिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषागत विषयों से संयुक्त है। द्विवेदी जी से पूर्व, भारतेन्दु ने सर्वप्रथम साहित्य के माध्यम से अपने समय की समाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को झकझोरा था; नवीनता और प्राचीनता का सन्तुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करना उनके साहित्य-सृजन का लक्ष्य रहा। किंतु जो बात भारतेन्दु युग को द्विवेदी युग से पृथक् करती है वह है—भाषा और साहित्य विषयक क्रांति। दूसरे शब्दों में सुधार-परिष्कावादी क्रांति। भारतेन्दु ने समाज के व्यापक अर्थ को ग्रहण करके बड़ी जिंदादिली से उसे साहित्य में व्यक्त करने का प्रयत्न किया। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि उन्होंने सामयिक परिस्थितियों को साहित्य के माध्यम से व्यक्त

करना उपयुक्त और अनिवार्य समझा। यद्यपि साहित्य सृजन की भावना गौण रही और राष्ट्रीय उत्थान यानी समाज उत्थान की चिंताधारा प्रबल रही। फलतः उनके साहित्य में प्रचारवाद ही पनप सका, जिसको हम अंग्रेज़ी शब्दों में Propaganda का साहित्य भी कह सकते हैं। किन्तु द्विवेदी जी ने जो प्रबल और प्रथम महत्वपूर्ण पग उठाया, वह था—साहित्य की अभिवृद्धि का पग, भाषा की अभिवृद्धि का पग और विविध-व्यापक विषयों की अभिव्यंजना का पग। इसी कसौटी पर द्विवेदी जी के साहित्य को परखना सम्भाव्य है। किंतु इसका आशय यह नहीं है कि द्विवेदी जी ने अपने युग को प्रकट रूप में न समझा हो, उस पर प्रकाश न डाला हो। साधारणतः संक्रांति कालीन लेखक अपने युग, समाज और जीवन की मान्यताओं तथा उसके मूल्यों से न तो अनभिज्ञ रह सकता और न ही यह सम्भव है कि वह उसकी पृष्ठ-भूमि में रहकर कुछ न लिखे, जनता के सामने अपने दायित्व को प्रस्तुत न करे।

कहना होगा कि द्विवेदी जी भी जनता के प्रति अपने दायित्व को समझने वाले सच्चे अर्थों में एक साहित्य मनीषी थे। साहित्य के प्रत्येक पक्ष में उन्होंने अपने इस दायित्व को प्रकट किया है। उनका विचार था कि यदि कवि अपनी कविता को रसमय नहीं बना सकता तो उचित यही है कि वह इतिवृत्त और उपयोगिता प्रधान कविता लिखने की साधना करे। द्विवेदी जी ने कुमार सम्भव का सरस पद्यानुवाद करके और अनेकानेक कवियों की कविताओं की आलोचना करके रस-पक्ष को प्रश्रय दिया था। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो हमें साफ पता चलेगा कि द्विवेदी जी के यत्नस्वरूप एक ओर तो हिन्दी खड़ीबोली कविता की राष्ट्रीय-धारा प्रवर्तित हुई जिसमें माखनलाल चतुर्वेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं, और दूसरी ओर उन्हीं के सरस अनुवाद के काव्य प्रभाव स्वरूप स्वच्छन्द काव्य-धारा के रसानिष्ट कवि प्रसाद, पंत, महादेवी वर्मा, निराला, बच्चन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक खड़ीबोली कविता का वैविध्य—भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से—द्विवेदी जी के इस ओर सद्प्रयत्नों का ही परिणाम है, अर्थात् आधुनिक खड़ीबोली-काव्यगंगा के वह भागीरथ हैं। इधर द्विवेदी जी के समय से ही गद्य की विविध विधाएँ प्रकाश में आने लगी थीं। उपन्यास और कहानी जगत में, द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की छत्रछाया में ही, प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे श्रेष्ठ कथाकार उठे, बढ़े। विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द जोशी आदि—साहित्यकारों के भाषा-साहित्य में द्विवेदी जी का प्रयास, उनकी लगन और प्रेरणा आज भी प्रतिध्वनित है। सम्पादन के क्षेत्र में द्विवेदी जी के पश्चात् यद्यपि अनेकों पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई किंतु ऐसा कोई सम्पादक देखने को न मिला जो द्विवेदी जी जैसी कर्त्तव्य-निष्ठता, लगन और

मौलिकता का परिचय देता। उनकी सरस्वती के पन्ने-पन्ने में आज भी उनके साहित्यिक पांडित्य और कलात्मक सूझ का ज्वलन्त रूप देखने को मिलता है। साहित्य के हित के लिए उन्होंने जाने कितने छद्म-लेखकों को नष्ट कर दिया।

द्विवेदी जी ने साहित्य-समाज के उन्नतिप्रद पक्ष को कितनी सफलता के साथ निभाया है इसका प्रमाण और परिमाण हमें उनके कार्य-सम्पादन से भली भाँति प्रतीत हो सकता है। अस्तु:

उस युग में कौन-कौन सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं, जिनको द्विवेदी जी ने परख कर अपने साहित्य में व्यक्त किया, इस पर हम अपना मस्तिष्क दौड़ा सकते हैं।

द्विवेदी जी के समय में अंग्रेजी शासन की चहल-पहल थी। अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति से भारतीय शासन की व्यवस्था कुछ इस प्रकार से निर्मित की जिससे यहाँ के निवासियों को कुछ ऊपरी संतोष मिला। पहले उन्होंने हिन्दी के प्रचार में कुछ सहयोग की भावना भी प्रदर्शित की जिसका प्रमाण हमें उस समय की तथा-कथित संस्थाओं और अंग्रेजी के हिन्दी में कुछ हुए अनुवादों से प्रकट होता है। किन्तु उन्होंने अपने शासन-साहित्य और धर्म को फैलाने की भावना से ही ऐसा सब कुछ किया। जिसकी प्रितिक्रिया स्वरूप जब आगे उर्दू को अदालतों में घुसेड़ा गया, अंग्रेजी पढ़े-लिखों को पद-प्रदान किये गये तब यहाँ के समझदार भारतीयों की आँखें खुलीं।

इसके अतिरिक्त शोषण की प्रवृत्ति भी फल-फूल रही थी। सब धन विदेश जा रहा था। यह खेदजनक अभिव्यंजना भारतेन्दु के काल में ही प्रसूत हो चुकी थी। इन सब दुरुह कारणों से भारतीय जनता का जीवन-स्तर जर्जरित हो रहा था। द्विवेदी जी ने इन परिस्थितियों को अपने साहित्य में व्यक्त किया।

द्विवेदी जी के समय में समाजिक और धार्मिक परिस्थियाँ भी विषम थीं। कुछ समाज सुधारकों के उपदेश आरम्भ हो चले थे। द्विवेदी जी ने अपनी भारतीय संस्कृति के वाङ्मय का आधार लेकर अपने साहित्य में तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों की चिंताधारा व्यक्त की।

द्विवेदी जी के समय में हिन्दी भाषा-साहित्य की गति विधि बड़ी सोचनीय थी। भारतेन्दु ने, सद्-भावना से ही सही, एक वितण्डावादखड़ा कर दिया था कि पद्य की भाषा ब्रज और गद्य की भाषा खड़ी बोली रहे। यों भाषा के दो धरातलों पर बटकर साहित्य एकतानता प्राप्त नहीं कर रहा था। दूसरी ओर भारतेन्दु कालीन कविता रीतिकालीन परम्परा से भी प्रभावित थी। और जो नवीन चेतना उससे अभिव्यंजित हो रही थी, वह नक्कारखाने में तूती की जैसी आवाज थी। दूसरी ओर

नाटक के क्षेत्र में यद्यपि भारतेन्दु ने बड़ी ज़िन्दादिली से काम किया और वे उसमें सफल भी हुए। उन्होंने नाटक को रंगमंच और उद्देश्य की दृष्टि से पूर्ण बनाया। परन्तु वह उसमें न तो भाषा का स्वरूप व्यवस्थित कर सके और न रस-चमत्कार ही ला सके। द्विवेदी जी ने अपने प्रयासों से यथासाध्य इस ओर कार्य किया। आलोचना भारतेन्दु युग की नहीं के बराबर है कुछ है भी तो वह तथ्यात्मक नहीं कही जा सकती। और न ही उसमें आलोचना के सही मान मिलते हैं। किन्तु द्विवेदी जी ने निश्चित ही आलोचना के स्तर को अपनी उत्तरकालीन कृत्तियों द्वारा आदर्श बना दिया। भारतेन्दु और उनके साथी निबन्ध-लेखकों ने बड़ी निर्भीकता का परिचय दिया है। उनके लिखे सामायिक विषयों पर निबन्ध उनके ज्वलन्त व्यक्तित्व के साक्षी हैं, पर खेद है कि उनका विषय धार्मिक जातीय स्तर से साफ ऊपर न उठ सका। द्विवेदी जी ने निबन्धों को विषय-शैली का वैविध्य प्रदान किया। उनकी 'सरस्वती' पत्रिका में अनेक सामयिक और साहित्यिक विषयों पर लिखे निबन्ध मिलते हैं, जिनमें निबन्ध-कला की विशेषता भी अंकुरित दीखती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी ने अपने समय की वर्तमान समाजिक साहित्यिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों को जानकर अपने साहित्य-सृजन का उद्देय निर्धारित किया। भारतेन्दु युग की अपेक्षा द्विवेदी जी ने भाषा के सुधार का तो महान् कार्य-सम्पादन किया ही साथ ही साहित्य के विविध विषयों की अवतरणा करके उन्होंने भविष्य की दिशा भी निर्धारित की। भारतेन्दु युग में मूल विषय समाज और उसका रुख़ बना रहा। द्विवेदी युग में साहित्य और समाज का समन्वयात्मक विषय-रूप प्रतिष्ठित हुआ। उन्होंने साहित्य के स्थान पर साहित्य और समाज के स्थान पर समाज को देखकर उसके सन्तुलन को प्रकट किया। फलतः उनके साहित्यिक विषय समाज से दूर न हो सके, पर उनमें सद् और उपयोगी साहित्य के तत्व भी विद्यमान् हैं। दूसरे शब्दों में उनका साहित्य पूर्णता-वादी है। कला-पक्ष की पूर्ति वे इसलिए न कर सके क्योंकि कला उनकी दृष्टि से सृजन की अनुवर्तिनी थी और वे उसे शृंगार के युग-पतन के वातावरण में प्रतिष्ठित करना अपने कर्तव्य की अवहेलना करना समझते थे। भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने खड़ीबोली भाषा को पद्य और गद्य दोनों ही के लिए उचित ठहराया, इसका कारण उनकी बुद्धि में था। वे जानते थे कि न तो किसी भी देश के साहित्य की भाषा एक ही काल में गद्य-पद्य में भिन्न हो सकती है और न भविष्य में खड़ीबोली के समक्षब्रज भाषा ठहर ही सकती है। इस तथ्य का कुछ प्रकाशन उन्होंने भाषा और व्याकरण शीर्षक लेख में किया है।

किन्तु, ध्यान रहे कि द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य सम्बन्धी इस कार्य का सम्पादन एक दिन में हीं नहीं कर लिया था। उनके साहित्यिक जीवन का लगभग आधा समय युग को पहचानने, परखने और तदनुकूल अपने भाषा और साहित्य का आदर्श स्थापित करने में बीत चुका था। उनकी पूर्वकालीन र नाओं में इस तथ्य का प्रमाण मिलता है। उन्होंने उत्तरकाल में जितनी प्रगति की, सम्भवतः इतनी प्रगति तत्कालीन, सभी लेखकों ने मिलकर नहीं की। द्विवेदी जी ने सर्व-प्रथम अपनी युग-चेतना की आँखें दो प्रकार से खोलीं।"

१. **वर्तमान की कटु आलोचना द्वारा**

२. **अतीत की सांस्कृतिक चिन्ता धारा।**

इन दोनों पक्षों पर लिखा उनका साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब है। द्विवेदी जी के सम्पूर्ण साहित्य को पढ़कर हम उनके युग की साहित्यिक, राजनैतिक और अन्यान्य समस्याओं से परिचित हो सकते हैं। द्विवेदी जी ने भारतेन्दु की भाँति भाषा-साहित्य सम्बन्धी प्रचारात्मक कार्य-क्रिया पर इन दोनों महर्षियों के कार्य-रूप में अन्तर भी रहा। भारतेन्दु ने वैयक्तिक प्रचार को अत्यन्त महत्ता दी। द्विवेदी जी ने पत्र-पत्रिकाओं और लेखनी के ठोस सृजन द्वारा इस कार्य को प्रौढ़ता प्रदान की। उन्होंने लगभग डेढ़ युग तक, सरस्वती के सम्पादन द्वारा, भाषा साहित्य के प्रचार का ही तो कार्य किया और उसके माध्यम से लेखक और साहित्य-समाज का जो हित हुआ सो आज छिपा नहीं है। यह द्विवेदी जी के ही प्रचार-कार्य का परिणाम कहा जा सकता है कि उनके भाषा साहित्य की स्थापित परम्परा में प्रसाद, प्रेमचन्द, पंत, निराला, अज्ञेय, गुप्त, उपाध्याय, आदि महान् कवि, उपन्यासकार और समालोचक अवतीर्ण हुये। द्विवेदी जी ने काव्य को उपयोगितावादी अथवा इतिवृतात्मक—वर्णनात्मक—रूप में लिखे जाने की भावना प्रगट की। अपने कविता सम्बन्धी लेखों में उन्होंने यह तथ्य उद्-घाटित किया कि कविता में लौकिक शृंगार कदापि नहीं आना चाहिये। इसके लिये उन्होंने प्रसाद जैसे कलाकार की कृति "आँसू" तक को हेय ठहराया। फल यह निकला कि काव्य की रसात्मकता विद्रोह करने लगी और जिसकी प्रतिध्वनि आगे चलकर छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद और अन्यान्य वादों में गूँजी। इसकी पृष्ठभूमि द्विवेदी जी की काव्य-दृष्टि ही रही है।

आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी की देन महत्वपूर्ण है। उन्होंने आलोचना को गम्भीरता का विषय माना और निष्पक्ष होकर तत्कालीन लेखकों और उनकी कृतियों पर प्रकाश डाला। उनकी लिखा हुई आलोचना उनके पांडित्य की पूर्ण छाप है। वास्तव में द्विवेदी जी का महत्व उनकी समालोचना पर सदा जीवित रहेगा। कुछ उनके विरोधी भी हुए पर उन्होंने निर्भीक होकर अपनी समालोचनायें कीं। विविध

रूपों में और विविध विषयों पर की गई उनकी समालोचनाएं आगामी समालोचनाओं की विविध दिशाएँ निर्धारित करती थीं। शुक्ल जी की सैद्धांतिक आलोचना द्विवेदी जी की समालोचना परम्परा का एक महान् स्तम्भ है तो आज 'अज्ञेय' जी की व्यक्तिवादी, कलात्मक आलोचना भी उसका दूसरा स्तम्भ कहा जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि विषय-शैली की दृष्टि से समालोचना का जो उत्तरोत्तर विकास हुआ आज हम देखते हैं उसके केन्द्र विन्दु द्विवेदी जी ही हैं।

निबन्ध के क्षेत्र में भी द्विवेदी जी का विषय-वैविध्य आज के विभिन्न विषयक निबन्धों का आदि रूप कहा जा सकता है।

उपन्यास और कहानी का समुचित स्वरूप द्विवेदी जी के समय में निर्धारित नहीं हो सकता था। और स्पष्ट कहें तो आधुनिक आख्यान-साहित्य का स्वरूप निर्धारण वास्तव में प्रेमचंद व प्रसाद के काल में ही हुआ। परन्तु क्या यह कहा जा सकता हैं कि प्रेमचन्द और प्रसाद द्विवेदी जी के काल से बाहर की उपज है? यदि वे उन्हीं के काल की उपज के अंग हैं तो निश्चित ही प्रेमचन्द के औपन्यासिक तत्वों में द्विवेदी जी का उपयोगित वादी दृष्टिकोण निहित है और प्रसाद की कहानियों में जो सांस्कृतिक-कलात्मक भावना है, वह भी दिवेदी जी के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक भावना का मौलिक संस्करण मात्र है। कुछ भी हो, द्विवेदी जी ही इस समय के ऐसे ज्वलन्त प्रतिभाशाली महापुरुष थे जिन्होंने अपने युग को प्रभावित एवं मुखरित किया। उनका व्यक्तित्व अपने युग की श्रेष्ठतम विभूति थी। उन्होंने भाषा सुधार के महान् तथ्य को सामने रखकर जितना कठिन परिश्रम किया—यह उनकी उत्कृष्ट कर्तव्य-निष्ठा का प्रमाण है। वे नियमित रूप से आठ-नौ घण्टे लिखते-पढ़ते थे। प्रत्येक नये लेखक को बड़ी उदारता से लिखने की दिशा देते थे। वे कठोर भी थे, पर उद्दण्ड न थे। उनकी कठोरता निष्पक्षप्रियता की सहेली है। उन्होंने अपने लोगों तक की निर्भिकता से समालोचना की है। द्विवेदी जी ने दानवीर हृदय पाया था। अनेक कन्याओं के हाथ पीले कराये, अनेक छात्रों को शिक्षा के लिए सहायता दी और अन्त में दानवीरता का सबसे पुष्ट-प्रमाण यह कि उन्होंने अपनी सिद्धांत विरोधी संस्था तक को ६,४०० रुपये अनुदान में प्रदान कर दिये।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में भारतीयता का विशेष रूप परिलक्षित होता है। उन्होंने अंग्रेजों के आधीन सरकारी सेवाएँ भी अर्पित कीं, अंग्रेजी का भी गम्भीर अध्ययन किया। परन्तु वे कभी भारतीयता से विमुख न हुये। स्वाभिमान के साथ उन्होंने अपने समय की (५०) रु० मासिक की सरकारी नौकरी पर लातमार दी थी। उस समय के डेढ़ सौ रुपये शायद आजकल के ५००) रु० के मूल्य के होंगे। द्विवेदी जी ने अपने व्यक्तित्व का प्रोज्ज्वल स्वरूप वहाँ प्रदर्शित किया जब उन्होंने निर्भिक होकर

नागरी प्रचारिणी सभा की गतिविधियों की कठोर आलोचना की। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व व्यवस्था का घोर पक्षपाती था। व्यवस्था ही उनके सम्पूर्ण कृतित्व की जान है। पढ़ने में व्यवस्था, लिखने में व्यवस्था, सोने में व्यवस्था, खाने में व्यवस्था और पूर्ण व्यवस्था की अपनी मृत्यु से पूर्व अपनी पूँजी की। वे अपने साहित्य की इतनी व्यवस्था कर सके कि उनका आज भी साहित्य सम्बन्धी एक-एक पत्र तक तिथि-क्रम में उपलब्ध हो सकता है। उनकी विभाजित पूँजी का प्रत्येक ब्यौरा आदर्श की प्रतिष्ठा करता है। द्विवेदी जी वात्सल्य और मनो-विनोद के प्रेमी भी थे। उनके पत्रों और उनके लेखों से उनके स्वभाव व चरित्र की झाँकी मिलती है। द्विवेदी जी की व्यक्तित्व की झांकी को पूर्णतः चित्रित नहीं किया जा सकता—क्योंकि वह साधारण स्तर से बहुत ऊँची उठी हुई है। उनके व्यक्तित्व ने निर्माण के परमाणु ही प्रदान किये हैं, इस बात का साक्षी उनके काल से लेकर आज तक का साहित्यिक वर्ग है। इस पर थोड़ा-सा विचार करना होगा:—

यह कहना दुराग्रह मात्र होगा कि द्विवेदी जी महान् साहित्यकार हैं पर यह कहना समीचीन होगा कि वे साहित्यकार निर्माता हैं, शिल्पी हैं। द्विवेदी जी ने जितना कुछ लिखा है उसका उद्देश्य हिन्दी-खड़ी बोली भाषा की उन्नति, अपने प्राचीन वाङ्मय की मधुर स्मृति और अपने समाज की विषम अवनति को प्रस्तुत करना मात्र है। यदि यह उद्देश्य साहित्य सृजन के लिये सहायक हो सकता है तो भले ही उस सृजन में कला न मिले परन्तु युग-जीवन का कल्याण अवश्यंभावी है। द्विवेदी जी ने अपने साहित्य से इसी कल्याण को प्रतिष्ठित करना चाहा और यह निर्विवाद है कि वह उसमें असफल नहीं रहे। द्विवेदी जी की समालोचना और निबन्धों में उन तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है जो आदर्श साहित्य, आदर्श समाज, आदर्श संस्कृति और आदर्श जीवन का निर्माण कर सकते हैं। आगे चल कर रामचन्द्र शुक्ल, गुलाब राय व हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि श्रेष्ट निबन्धकारों और समालोचकों ने द्विवेदी जी की इस परम्परा को सराहनीय रूप में आगे बढ़ाया है। द्विवेदी जी ने, जैसा कि हमारे साहित्य में कहा-लिखा जाता है, केवल कविता का सृजन इतिवृत्तात्मक अथवा उपयोगितावादी ही उचित ठहराया है, पर नहीं, उन्होंने कालिदास, भारवि, जगन्नाथ आदि जैसे संस्कृत के रस रीति निष्ठ कवियों की सुललित रचनाओं का सरस-पद्यानुवाद ही कर इस बात का सूक्ष्मरूप में स्वतः निराकरणकिया था कि वे कविता में इतिवृत्त अथवा उपदेशात्मकताके समर्थक हैं। हमारे कहने का आशय यह है कि द्विवेदी जी कविता को उपयोगितावादकी कसौटी ही नहीं बनाना चाहते थे,उसको रसकी खानभी मानते थे। किन्तु एक कर्तव्यनिष्ठ और उत्तरदायी व्यक्तित्वधारण करने के कारण(सम्पादक थे न!)उन्होंने रीतिकालीन उस कविता का विरोध अवश्य किया जिसकी अभिव्यंजना में रस का नहीं

चमत्कार का अस्तित्व था, गुण का नहीं रूप का अस्तित्व था, आत्मकृति का नहीं स्थूल यष्टि का चित्रण था। दूसरे शब्दों में उन्होंने उस कविता का विरोध किया जिसका आधार केवल नारी का नख-शिख वर्णन था, अलंकार का थोथा शब्द-जाल था। इस प्रकार द्विवेदी जी ने सर्व प्रथम अपने समय की कवि चेतना को चेताया और अपने समयके नकली साहित्यिकों को सम्पूर्ण बल से यह ललकार दे दी। यों सही अर्थों में जिससे हिन्दी भाषा-साहित्य का भविष्य पंकिल न हुआ। इसके साथी ही उन्होंने नवीन प्रतिभाओं की खोज-पहचान कर साहित्य साधना की ओर उन्हें प्रेरित किया और सरस्वती के द्वारा उनका साहित्य प्रकाशित भी किया। वास्तवमें द्विवेदीजी का सारा जीवन एक यज्ञ-कुण्ड बना रहा, जिसमें उन्होंने अपनी सेवा की हवि चढ़ाई और माँ-भारती के पावन मन्दिर को अनेक भक्तों की भीड़ से परिपूर्ण करके हिन्दी साहित्य को महान् बनाने का संकल्प पूरा किया। हमें उनकी इन सेवाओं के प्रति चिर नत-मस्तक रहने में ही सुख मिलना चाहिये।

द्विवेदी जी के संस्मरण : उनकी रचनाएँ

द्विवेदी जी बड़े कर्त्तव्य निष्ठ और अध्ययनशील व्यक्ति थे। वह उन महान् लोगों में से थे जो कर्त्तव्य के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन बलिदान कर देते हैं। द्विवेदी जी की अध्ययनशीलता का यह एक बड़ा ज्वलंत प्रमाण है कि उन्होंने बाल-साहित्य से लेकर गम्भीर सत्साहित्य तक लिखा है। उन्होंने जहाँ एक ओर अंग्रेजी की गम्भीर पुस्तकों का हिन्दी गद्य में अनुवाद किया है वहाँ दूसरी ओर संस्कृत के महान् कवियों की कृतियों का भी समर्थ अनुवाद किया है। उदाहरण स्वरूप इधर वेकन एवं स्टूअर्ट मिल के लेखों के अनुवाद रखे जा सकते हैं और उधर उनके संस्कृत के महान् कवि कालिदास, भारवि आदि के किए काव्यानुवाद भी रखे जा सकते हैं। महान् पुरुषों का जीवन, उसकी प्रत्येक घटना तथा एक-एक कार्य उनके व्यक्तित्व की एक बड़ी गहरी छाप छोड़ जाता है। और जब वे नहीं रहते तो उनके श्रद्धालु व उनके सम्पर्कित जो कुछ उनके विषय में लिखते हैं—वही संस्मरण होते हैं। द्विवेदी जी भी एक महान् पुरुष थे। आज जब वे हमारे बीच स्थूल रुप में नहीं हैं, उनके सद्-संस्मरण ही मानो उन्हें चिर सजीव किये हुए हैं। संक्षेप में, द्विवेदी जी के संस्मरणों में उनकी ये तीन विशेषताएँ प्रमुखता से मिलती हैं—

१. स्वाभाव की निर्भीकता

२. लेखनी की स्पष्टता

३, हृदय की विशालता एवं उदारता।

१. स्वभाव की निर्भीकता—इसके सम्बन्ध में उनका वह संस्मरण लिया जा सकता है जबकि उन्होंने तत्कालीन समर्थ लेखक बालमुकन्द जी गुप्त की एक अशुद्ध रचना के प्रति अपने 'भाषा और व्याकरण" लेख में दोष गिनाए थे।

२. **लेखनी की स्पष्टता**—द्विवेदी जी ने १७-१८ वर्षीय सरस्वती पत्रिका के सम्पादन काल में अपनी लेखनी की स्पष्टता न छोड़ी। न अपनों के लिये—न परायों के लिये। उनके जीवन का यह स्पष्टतापूर्ण दृष्टिकोण था कि जिस सरस्वती पत्रिका के वे सम्पादक थे उसी के संचालनमें नागरी प्रचारिणी सभा का भी प्रमुख हाथ था।

और इतना होते हुए भी सन् १९०४ में द्विवेदी जी ने उसके कार्य एवं नीति-रीति की एक रिपोर्ट में कटु आलोचना की थी। इस नुक्ताचीनी से संस्था बिगड़ उठी पर द्विवेदी जी ने इसकी कोई चिन्ता न की और सरस्वती का निरंतर संम्पादन सफलता के साथ किया।

३. हृदय की विशालता—द्विवेदी जी के संस्मरणों से यह भी प्रतीत होता है कि उन्होंने हृदय की ऐसी विराटता पाई थी जिसमें मित्र का ही नहीं. शत्रु का भी प्यार बरसता था। नागरी-प्रचारिणी सभा ने उनकी कटु आलोचना की और उन्हें लांछित भी किया, पर उनकी उदारता देखिए कि उन्होंने उसी को अन्तकाल में अपने जीवन की गाढ़ी कमाई के ६४००) रुपये अनुदान में दे दिये और साथ ही अपना सम्पूर्ण साहित्य-कोष भी।

इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी की वह संस्मरणात्मक सामग्री, जो कि नागरी प्रचारिणी के संरक्षण में आज भी सुरक्षित है, इस बात की साक्षी है कि उन्होंने जीवन में सदैव सरलता एवं सत्यता का मार्ग अपनाया था। बाबू श्यामसुन्दरदास जी के प्रयास से उन्हें काशी विश्वविद्यालय द्वारा डाक्टरी की उच्च उपाधि मिल रही थी पर स्व० श्री मालवीय जी से मतभेद होने के कारण द्विवेदी जी ने उसे ठुकरा दिया। सरस्वती के सर्वेसर्वा चिंतामणिजी घोष से द्विवेदी जी ने जिस आत्मीयता के साथ व्यवहार रक्खा, वह सच्चे प्रेम सम्बंध का एक महान् आदर्श कहा जायगा। द्विवेदी जी के संस्मरणोंसे यद्यपि यह भी प्रतीत होता है कि वे स्वभाव से क्रोधी अब्बल दर्जे के थे, पर वे होश खोकर कभी क्रोध नहीं करते थे। लेखनी के बल पर उन्होंने अपने समय के तथाकथित क्रूर अधकचरे लेखकों के छक्के छुड़ाये थे। उन की अप्रकाशित रचना 'सुहाग रात' के प्रति मालवीय जी ने जो अनुचित बातें विरोध में कही-सुनी थीं उसके जवाब स्वरूप स्वयं उन्हें अन्त में उनसे दुखी होकर क्षमा मांगनी पड़ी थी। यह था द्विवेदी जी का पाडित्यपूर्ण ज्वलंत व्यक्तित्व! उन्हें अनेक बार हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व पद को ग्रहण करने का अवसर-आग्रह मिला था। परन्तु उन्होंने कभी भी उसके प्रति आकर्षण न दिखाया। वे स्वभाव से बड़े सरल जीव थे। बस, कर्म करना ही उनका ध्येय था—"कर्मण्येवाधिकारस्ते!"

इस प्रकार द्विवेदी जी के संस्मरणों से हमें मां सरस्वती के उस महान् पुजारी की स्मृति हो आती है जो नित प्रति देवता का पथ बुहारता है, चरणों में पुष्प समर्पित करता है, दुराचार की क्षमा मांगता है और सभी को भक्ति और सेवा का प्रसाद बाँटता है।

द्विवेदी जी की रचनाएँ

द्विवेदी जी आधुनिक खड़ीबोली साहित्य के गुरुवर हैं—लेखकों के। उन्होंने विविध विषयक छोटी-बड़ी अनेक रचनाएँ लिखी हैं। उनकी कृतियों का ब्योरा लम्बा है। वैसे उन्होंने अनूदित और मौलिक—दोनों ही प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं। किसी निश्चित शोध-संख्या के अभाव में लगभग पचास से ऊपर उनकी अनूदित तथा मौलिक पुस्तकें हैं डा० उदयभानु सिंह जी ने अपने शोध-ग्रंथ में इस ओर कोई निश्चित संख्या नहीं दी। श्री प्रेम नरायण जी कृत द्विवेदी मीमांसा पुस्तक के अनुसार द्विवेदी जी ने लगभग ७० के कृतियाँ लिखीं। उनकी मुख्य अनूदित पुस्तकें हैं—

१. बेकन विचार निबन्धावली
२. कुमार संभव
३. स्नेहमाला
४. गंगालहरी
५. ऋतुतरंगिणी
६. बिहारबाटिका
७. श्री महिम्नस्तोत्र
८. विनय-विनोद !
९. मेघदूत
१०. किरातार्जुनीय आदि

मौलिक—

१. सोहागरात (अप्रकाशित)
२. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति
३. कौटिल्य कुठार (अप्रकाशित)
४. रसज्ञ रंजन
५. बनिता विलास
६. नाट्यशास्त्र
७. सम्पत्तिशास्त्र
८. तरुणोपदेश (अप्रकाशित)
९. रसज्ञ रंजन
१०. महिलामोद आदि

उनकी ये कुछ ही पुस्तकों के नाम स्थानाभाव के कारण दिये गये हैं। इनमें गद्य-पद्य, लेख कविता सभी कुछ सम्मिलित हैं। द्विवेदी जी की कृतियों के प्रति हम एक बात और कहना चाहेंगे कि यद्यपि उनके अनुवादों में सुथरापन नहीं है, और उनकी कृतियों में कान्तासम्मत बात भी कम है तथापि उनमें प्रभावशाली ओज और आग्रह अवश्य है। द्विवेदी जी ने जितना कुछ लिखा या अनुवाद किया उसमें उनके पाण्डित्य की पक्की छाप है, उनके व्यक्तित्व की निर्भीकता है, तथा उनके उत्साह की प्रतिध्वनि है। और यदि कहीं उनमें कमी है तो यही समझना चाहिये हिन्दी का वह युग ही इसके लिये उत्तरदाई है, विचारे द्विवेदी जी कितना करते ?

द्विवेदी जी की भाषा विषयक गतिविधियां

विशेषतः द्विवेदीजी लिखित हिन्दी साहित्य इसलिये अधिक सम्माननीय है क्योंकि

यही अकेले एक महापुरुष हुए जिन्होंने आरम्भ में ही हिन्दी खड़ीबोली के परिष्कार और उद्धार की ओर अपनी लगन जाग्रत की और दूसरों को भी उसके प्रति सजग एवं उत्तरदायी बनाया। यही कारण है कि भाषा सुधारक के रूप में द्विवेदीजी का अपना लौह-व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में अकेला है।

द्विवेदीजी ने सरस्वती पत्रिका के सम्पादन के माध्यम से भाषा सुधार एवं परिष्कार का कार्य सम्पादित किया। उनके इस कार्य को सुविधा से समझने के लिये दो कालों में विभाजित किया जा सकता है—

१—पूर्वकाल

२—उत्तरकाल

यह कहना न्याय के विरुद्ध न होगा कि स्वयं द्विवेदीजी की पूर्वकालिक भाषा भी उसी भाँति अव्यवस्थित रही जैसे कि उस काल के लेखकों की थी। उन के अनेक लेखों, जैसे 'बेकन विचार रत्नावली', 'हिन्दी शिक्षावली तृतीया भाग की समालोचना', आदि में देखने को मिलती है। 'उसके स्थान पर 'उसके' 'पड़ेगा' के स्थान पर 'पढ़ेगा' और 'हमें' के स्थान पर 'हमैं" आदि त्रुटियाँ खूब देखने को मिलती हैं। पर ऐसी त्रुटियाँ समान्यतः तत्कालीन लेखकों की प्रकृति में शरीक हो चुकी थीं। दूसरी ओर द्विवेदी संस्कृत के अतिरिक्त मराठी, गुजराती और बंगला आदि प्रांतीय भाषाओं के भी ज्ञाता थे। और सबसे बड़ा कारण यह भी कि वे 'पुरबिया' थे। अतः पूर्वी 'डायलेक्ट' का प्रभाव भी उनकी भाषा में सिर उठाता रहा। इन समस्त कारणों से उनकी भाषा में एक अड़ियल-सी अव्यवस्था आ गई है जो उनके युग की समान्य भाषागत विवशता कही जायगी, विचारे द्विवेदी जी करते ही क्या ?

संक्षेप में यहाँ द्विवेदी जी की भाषा-सूक्ष्मता पर विचार करना प्रसंगानुकूल होगा।—

द्विवेदीजी ने प्रायः स्वरों का प्रयोग गलत किया है। जैसे 'अ' के स्थान पर 'ऊ' का और आ के स्थान पर 'व' का। 'हुआ' के स्थान पर 'हुवा' आदि का प्रयोग भी इसी भाँति के समझना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने स्वरों का अशुद्ध प्रयोग किया।

द्विवेदीजी की भाषा विषयक त्रुटियों में ऐसा भी सम्भव है कि प्रूफ की त्रुयियाँ भी शामिल हों किन्तु क्या ऐसा सर्वत्र हुआ होगा ?

इसी प्रकार व्यंजनों के प्रयोग-स्थानों पर भी उन्होंने गड़बड़ की है; जैसे— 'प्रकट' के स्थान पर 'प्रगट' और 'बारम्बार' के स्थान पर 'बारम्वार' आदि।

द्विवेदी जी ने संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण आदि व्याकरण विषयक त्रुटियां भी खूब की हैं। यद्यपि जैसा हम पहले लिख चुके हैं कि यह विवशता तो उनके

युग की थी। फिर भी द्विवेदी जी ने अपने साहित्य-सम्पादन के उत्तरकाल में सँभलकर इन भाषागत त्रुटियों और अशुद्धियों के मार्जन करने की भरसक चेष्टा की और अन्ततः भाषा के क्षेत्र में वह अपना आदर्श स्थापित कर सके, अपना व्यक्तित्व बना सके। संज्ञाओं के प्रयोग रूप में उन्होंने प्रत्ययों के जोड़ने में गलती की है। जैसे 'तारुण्य' के स्थान पर 'तारुण्यता' आदि।

इस प्रकार अन्य अशुद्धियाँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। सर्वनाम के प्रतोग रूप में भी इन्होंने 'जिसने' 'किसने' के स्थान पर 'जिन्होंने' 'किन्होंने' जैसे गवारू ढंग के प्रयोग किए हैं जो कारक विधान पर चोट करते हैं। उनके सर्वनामों की त्रुटि प्रायः इसलिए घटी क्योंकि वे संस्कृत, अंग्रेजी एवं अन्य प्रांतीय भाषाओं से प्रभावित थे। डा० उदयभानुसिंह जी के द्विवेदी सम्बन्धी शोध-ग्रंथ पृष्ठ, १९५ का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"कही कहीं अंग्रेजी और संस्कृत से प्रभावित होने के कारण भी उन्होंने हिन्दी सर्वनामो के प्रयोग में गलती की है। 'उसको उसके पिता के मरने का समाचार मिला।' यह वाक्य अंग्रेजी के 'He recived the news of his father's death' **का गलत अनुवाद है।"**

द्विवेदीजी के वाक्य-विन्यासों की ऐसी शिथिलता इसी बात का परिणाम है कि वे प्रारम्भ में हिन्दी खड़ीबोली भाषा के गद्य का कोई रूप निर्धारित करने की फिक्र में जुटे थे जिसे उन्होंने अपने उत्तरकालीन साहित्य सम्पादन द्वारा बहुत कुछ सफल कर दिखाया।

इसी प्रकार 'किस' के स्थान पर "कौन" का प्रयोग गलत किया है; जैसे 'कौन कौन' शोभा का मैं उल्लेख करूं। इसी प्रकार क्रिया और लिंग विषयक दोष भी देखने में आते हैं; जैसे, 'खुशामद करना पड़ता है।' यहाँ 'पड़ती है' क्रिया-लिंग प्रयोग अपेक्षित था। पर यह विचारणीय है कि द्विवेदीजी इन दोषों के इस लिए शिकार हुए क्योंकि उनके समय में हिन्दी खड़ीबोली का कोई व्यवहृत रूप नहीं था, न कभी उसका पूर्वरूप ही गद्य के सांचे में ढला था। यों काव्यमें तो उसका प्रयोग कबीर, खुसरों आदि कवियों ने बड़ा सुधरा हुआ सा किया था। द्विवेदीजी ने अपने साहित्य सम्पादन के उत्तरकाल में अपने भाषागत दोषों का बहुत कुछ मार्जन भी कर दिखाया यह हम पहले ही कह आये हैं। पूर्वकालिक भाषागत अशुद्धियों की दृष्टि से तो द्विवेदी जी का कहीं-कहीं वाक्य का वाक्य एवं पैरा का पैरा अशुद्ध हो गया है। इस सम्बन्ध में डा० उदयभानुसिंह जी के द्विवेदी शोध-ग्रंथ के २०३ पृष्ठ का उदाहरण देना ठीक होगा —

"जब हमें श्रीमान् से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब श्रीमान् ने

कहा था कि यदि हम हर साल एक अच्छे अँग्रेजी ग्रंथ का अनुवाद करें तो आप हमें पाँच सौ रुपया उसके परिश्रम का बदला देंगे । आप ने कहा था कि आप वादा तो नहीं करते पर इतना दे देने का यत्न जरूर आप करेंगे ।"

स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण पैरा के वाक्य में शैथिल्य एवं सर्वनामादि व्याकरण विषयक अशुद्धियाँ पाँव फैला रहीं हैं ।

अपने भाषा-प्रयोग के पूर्वकाल में द्विवेदी जी ने विराम चिन्हादि का भी उचित उपयोग नहीं किया है । उनकी भाषा में मुहावरों का भी असंगत रूप-प्रयोग देखने को मिलता है । ग्रामीणत्व और पण्डिताऊपन भी उनकी भाषा से चिमटा हुआ है, जैसे वह फूला अंग न समाया । यहाँ मुहावरे में 'अंग' व्यर्थ लगाया गया है । 'सेवने योग्य', प्रवेश करती भई, आदि कथनों में स्पष्टतः ग्रामीण दोष चिमटा हुआ है । बेकन निबन्ध रत्नावली एवं भामिनी विलास रचना में द्विवेदीजी की ऐसी, एवं सम्पूर्ण भाषा अशुद्धि प्रयोग विषयक बातें सरलता से पाई जा सकती हैं ।

किन्तु अपने उत्तरकाल में द्विवेदी जी ने मानो अपनी भाषा का कायाकल्प करने का यत्न किया । उन्होंने आदर्श बनाया कि वे शब्द-शब्द को शुद्धता की तराजू पर तथा प्रयोग की कसौटी पर कसेंगे और तब प्रयुक्त करेंगे । उन्होंने वाक्य विन्यास को अर्थपूर्ण भाषा से पुष्ट करने का व्रत लिया, उन्होंने अपनी इस भाषा सुधार-परिष्कार विषयक धारणा को 'हिंदी कालिदास की समालोचना' लेख में प्रकाशित किया । 'हिंदी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' लेख में उन्होंने भाषा दोष पर एक स्वतंत्र एवं विस्तृत भाषा-व्याकरण सम्मत गूढ़ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । वह त्रुटियाँ जो उनके पूर्वकालीन भाषा-प्रयोग-रूप में देखने को मिलती थीं अब उनके हाथों ही रिश्वत के धन की तरह गायब होने लगीं । उनका 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख उनके भाषा परिष्कारक के व्यक्तित्व के विकास का एक ज्वलंत रूप प्रस्तुत करता है । उन्होंने भाषा सुधार का कार्य सरस्वती के सम्पादक के रूप में किया । आज नागरी प्रचारिणी के पास सुरक्षित उनकी सरस्वती की फाइलों से अनगनित संख्या में ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनको देख कर द्विवेद्वी जी के भाषा-सुधार विषयक महान कार्य का पता चलता है । उन्होंने तत्कालीन लेखकों के शब्द-शब्द को शुद्ध करके सरस्वती के पृष्ठों पर छापा था । मुहावरों, विरामादि चिन्हों, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, लिंग, अव्ययों आदि की शुद्धि सम्बधी उनकी लिखी टिप्पणियाँ आज भी उनकी तीक्ष्ण कार्यक्षमता का परिचय देती हैं । सरस्वती के पास जो भी पुस्तक समालोचनार्थ आती थी, द्विवेदी जी उसके शब्द-शब्द की आलोचना करते थे । इसके साथ ही उन्होंने अपने सम्भाषणों, व्याख्यानों एवं पत्र-व्यवहारादि में अनेक ऐसे तथ्य उद्घाटित किये

हैं जिससे भाषा की गतिविधि को पूर्ण-प्रौढ़ता मिली। द्विवेदी जी ने व्याकरण के कई विषयों पर खूब नवीनता से प्रकाश भी डाला है। उनका 'भाषा और व्याकरण' सम्बन्धी लेख इसी प्रकार का है जिससे खड़ीबोली भाषा की रूप व्यवस्था को बल मिला एवं लेखकों में सजगता आई।

उक्त समस्त तथ्यों को ध्यान में रखकर हमें यह नहीं सोचना है कि द्विवेदी जी स्वयं भाषागत अशुद्धियों के शिकार रहें, वरन् यह कि उन्होंने भाषा-विषयक इतना कष्टसाध्य एवं महान् कार्य किया है जिसके फलस्वरूप हिंदी भाषा साहित्य का आज एक व्यवहृत एवं साहित्यगत स्वरूप देखने को मिलता है। द्विवेदी जी ने भाषा को रूढ़ बना देने वाला पक्ष कभी भी न लिया। वे व्यवहारिक भाषा के समर्थक थे। उनके लेखों में स्थल-स्थल पर अँग्रेजी के, उर्दू के एवं संस्कृत के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। पर उस प्रयोग को हम हिंदी खड़ीबोली भाषा के रूप से अलग खड़ा करके नहीं देख सकते। किन्तु वैसे कुछ ममतावश उनका झुकाव-खिचाव संस्कृत-भाषा-शैली की ओर अधिक था। द्विवेदी जी ने अपनी शैली को भी भाषा के अनुरूप विकसित किया। उन्होंने वर्णनात्मक, भावात्मक, व्यंग्यात्मक आदि सभी प्रकार की शैलियों को अपने गद्य-साहित्य में स्थान दिया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी ने हिन्दी खड़ीबोली भाषा को पूर्ण रूपेण समृद्ध बनाने के लिए स्वयं विकास की मंजिलें पार की थीं और इसके फलस्रूप वे अपने समय के लेखकों को भी अपने अनुभव, अपने ज्ञान और अपने प्रौढ़ व्यक्तित्व से प्रभावित करने में सफल हुए। यह ठीक है कि वे आगे के प्रकांड गद्यकारों, सर्वश्री प्रेमचन्द, अज्ञेय, नगेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा महादेवी आदि की भाँति अपनी भाषा का विशुद्ध एवं प्रांजल रूप स्थापित न कर सके और न वे अपनी कविताओं को पंत महादेवी, बच्चन और प्रसाद की भाषा की भाँति सजा-सँवार सके, तथापि हमें यह नहीं भूलना है कि उन्होंने निःस्वार्थ भाव से अपने जीवन का अमूल्य त्याग करके हिन्दी खड़ीबोली भाषा और उसके साहित्य को उस समय सुधारने-सँवारने का व्रत लिया था जब कि हिन्दी भाषा-भाषी शब्द तक अपमान सूचक थे। और तब अकेले द्विवेदी अपने कार्य क्षेत्र में तूफान में अचल जलते हुए दीपक की भाँति खड़े हुए अपने युग-वातावरण का तमस छाँट रहे थे। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके स्मरण से श्रद्धानत हों।

द्विवेदी जी का साहित्य

कविता

कविता साहित्य का एक प्रमुख अंग है और इस प्रमुख अंग की पूर्ति करने के लिए आचार्य द्विवेदी जी ने भी कविता के नाम पर बहुत कुछ लिखा है, इसलिये द्विवेदी जी का कविरूप भी अध्ययन का विषय है। इतना होते हुये भी द्विवेदीजी का दृष्टिकोण बड़ा भिन्न था। उन्होंने एक स्थान पर यह स्पष्ट कहा है कि उन्हें कविता करना दुसाध्य जान पड़ता है। वास्तव में बात ऐसी ही है। क्योंकि द्विवेदी जी अध्ययनशील थे, विचारों के धनी थे। कविता का सृजन स्वाभाविक होता है ज्ञानज नहीं। पर ज्ञानज कविता भी लिखी जाती है। क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रंथ—'कंठाभरण' में इस प्रकार की बात का समर्थन किया है कि योग से भी कवि बना जा सकता है। और साफ बात है कि द्विवेदी जी प्रयत्नसाध्य कवि थे। वैसे इतस्ततः उनकी भावना ने भी अपनी रूपछटा दिखाई है, क्योंकि उनके पास दिल तो था ही। अस्तु:

द्विवेदी जी जिस काल में हुये थे वह हिन्दी भाषा-साहित्य की दृष्टि से संक्रांति और सुधार का काल था। संक्रांति थी भावों और विचारों की और सुधार था भाषा का। ऐसे वातावरण में द्विवेदी जी ऐसा व्यक्तित्व लेकर आये जिसके हाथ में भाषा के रथ की लगाम थी। ऐसी स्थिति में वे कविता को सौंदर्यमूलक किस भाँति बना सकते थे, पर उनकी रचित कविताओं में जीवन और समाज के वह तत्व अवश्य आ गये हैं जिनसे आदर्श स्थापित होते हैं, जिनसे कुरीतियां काँपती हैं। दूसरे शब्दों में जिनसे सद्लक्ष के चिन्ह झलकते हैं। द्विवेदी जी की कविता का प्रियतत्व अथवा सुन्दरम् उनकी निर्मोह-वृत्ति है, उनकी कल्याणकारी चिन्तना है। द्विवेदी जी का काव्य उनके सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामयिक हृदयोद्-गारों से निर्मित हैं। दूसरे शब्दों में उनका काव्याग्रह केवल कला पर आधारित नहीं सोद्देश्य की चट्टान पर आधारित है। ऐसी स्थिति में भले ही विशुद्ध काव्य के पाठकों को उनके काव्य में इत्तिवृतात्मकता, नीरसता और उपदेशात्मकता

प्रधान लगे किन्तु यदि कविता जीवन की व्याख्या है तो निश्चित ही द्विवेदी जी के काव्य का महत्व है, मूल्य है।

द्विवेदी जी ने कविता के विषय में किसी मौलिक ढंग से विचार नहीं किया। वे संस्कृत के रस-सिद्ध आचार्यों से प्रभावित थे, जैसे—अभिनव गुप्त, आनन्दवर्द्धन और जगन्नाथ आदि। कालिदास से उनका ममत्व था। अतः उन्होंने अपने एतद्विषयक कविता सम्बन्धी लेखों में प्रकाश डाला है। उनकी कृतियों में विशेषतया शृंगार और शान्त रस ही प्रधान रहा है। इसके लिये उदाहरणार्थ उनकी 'विनय' विनोदन, कृति में शांत रस पाया जा सकता है। और तथा 'सुहाग रात' 'स्नेह माला' आदि कृतियों में शृंगार रस का भी प्रवर्त्तन हुआ है। एक उदाहरण है—

"ज़रा देर के लिए समझिये आप षोडषी क्वाँरी हैं,
मान लीजिये नयन आपके कानों तक आये हैं,
पीन पयोधर देख के कुंजर-कुम्भ लजाये हैं।"

इन पक्तियों में शृंगार की झांकी है। अब कारुण्य के रूप को भी देखिये जो मर्मस्पर्शी है—

"लोचन चले गये भीतर कहँ, केदक सम कच छाए
कर में खप्पर लिये अनेकन-जीरण परलपटाएँ।"

रसः—इन पंक्तियों में विपन्नता का मांस-हीन-ढाँचा खड़ा है। कुछ भी हो, द्विवेदीजी को रस-निष्पत्ति में अनिवार्य सफलता नहीं मिली।

अलंकारः—अलंकारिक दृष्टि से द्विवेदीजी ने अपनी कविता में अलंकार भी दिये हैं, परन्तु उनमें चेष्टा प्रगट होती है। उनकी "ऋतुरंगिणी" इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

एक बात विशेष यह रही कि द्विवेदी जी के कथन में वक्रोक्ति का पैनापन रहा है। अतः उनकी कविता में इतस्ततः समाज व्यापी प्रभाव प्रबल रहा है। वास्तव में भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय और समाजिक चेतना के विकसित उद्गार द्विवेदी जी के काव्य में वक्रोक्ति के माध्यम से ही मुखारित हुए हैं। एक उदाहरण देखिये—

"नित्य असत्य बोलने में जो तनिक नहीं सकुचाते हैं।
सींग क्यों नहीं उनके सिर पर बड़े बड़े उग आते हैं।"

कविता के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का दृष्टिकोण उतना सबल व सराहनीय नहीं बन पाया जितना कि उनका आलोचना का। वास्तव में वे एक आलोचक थे, कविता तो उनके लिये एक आनुसंगिक बात थी। भाषा की दृष्टि से द्विवेदी जी ने

हिन्दी खड़ीबोली की कविता के लिये आरम्भ में एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'श्रीधर पाठक" के दृष्टिकोण को बल देते हुये उन्होंने पूरी शक्ति के साथ यह कहा कि व्रजभाषा में ही नहीं खड़ीबोली में भी कविता हो सकती है। खड़ीबोली में उन्होंने उस समय अच्छे छंद भी रचे।

"हे देश, सप्रण विदेशज वस्तु छोड़ो,
सम्बन्ध सर्व उनसे शीघ्र तुम तोड़ो।"

द्विवेदी जी ने व्रज और खड़ीबोली, दोनों में ही रचनाएँ लिखीं। प्रारम्भ में व्रजभाषा में इन्होंने लिखीं, जिनमें अनुवाद ही प्रमुख है। "ऋतुरंगिणी" "गंगा-लहरी" आदि कृतियों में अनुवाद ही है। मध्यकाल में उन्होंने खड़ीबोली को अपनाया और फिर अन्त तक उसकी श्रीवृद्धि के लिए लिखते रहे। द्विवेदी जी ने संस्कृत में भी काव्य लिखा है, जिसमें सरसता भी मिलती है।

भाषा की दृष्टि से द्विवेदी जी ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि उन्होंने खड़ीबोली में उर्दू के भी शब्दों का प्रयोग किया और संस्कृत तत्सम् शब्दों का भी। उन्होंने स्वयं खड़ीबोली में प्रांजल लिखने की साधना की, भले ही वे पूरी तरह सफल न हो सके हों, परन्तु उन्होंने "हरिऔध" और "गुप्त" जैसे समर्थ खड़ी-बोली के कवियों को अनुप्रेरित किया, उन्हें काव्य सृजन की दिशा दी।

द्विवेदी जी ने संस्कृत के वर्ण-वृत्त छन्दों को ही अधिक ग्रहण किया है। शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवंज्रा, मालिनी, मन्दाक्रांता व शिखरणी आदि छन्दों में किये गये उनके संस्कृत अनुवाद सुन्दर बन पड़े हैं। इसके साथ ही उन्होंने कुछ गद्यात्मक छन्दों का भी प्रयोग किया है, जिसका नमूना हम 'हरिऔध' की प्रसिद्ध रचना "प्रिय प्रवास" में देखते हैं। कुछ भी हो, द्विवेदी जी की काव्य-भाषा अनेक दोषों से भी मिश्रित है। उनकी खड़ीबोली की कविताओं में गंवारूपन है, उनकी व्रज-भाषा की कविताओं में लालित्य की कमी है। किन्तु उन्होंने इस सब कमी का मार्जन संस्कृत भाषा में के प्रयोग द्वारा किया है। उनकी संस्कृत भाषा लालित्यमय है।

द्विवेदी जी ने गद्य का परिष्कार तो भरसक किया किन्तु उनकी कविता में क्लिष्टत्व दोष, अश्लीलत्व दोष, न्यूनत्व दोष व मात्रा दोष आदि भी खूब मिलते हैं। दूसरी ओर अलंकारों का प्रयोग भी स्वाभाविक न होकर बलात् लगता है। उन्होंने प्रायः संस्कृत की कविताओं में अलंकारिक भाषा का प्रयोग अच्छा किया है खड़ीबोली और व्रज भाषा की कविताओं में नहीं। इस प्रकार भले ही उनकी काव्य की भाषा व्यवस्थित न रही हो, काव्य में इत्तिवृतात्मकता प्रधान रही हो, किन्तु यह दोष पूर्णतया द्विवेदी जी के सिर ही नहीं मढ़ा जा सकता। द्विवेदी जी का देश, द्विवेदी जी का काल और द्विवेदी जी का काव्याग्रह इसका उत्तरदायी है। उनकी कविताओं

में कला-पक्ष की हीनता युगजन्य विवशता है। काश, वे आज होते।

समान्यतया द्विवेदी जी की कविताओं का शैलीगत वर्णन अथवा वर्गीकरण यों किया जा सकता है—

१. प्रबन्ध २. मुक्तक ३. गीत ४. गद्य काव्य।

प्रबन्धः—

द्विवेदी जी ने वर्णनात्मक ढंग से कुछ प्रबन्ध काव्य अथवा कुछ लम्बी कविताएं लिखीं हैं, जैसे "भाषा दुर्भिक्ष" "गंदर्भ काव्य", "कुमुद सुन्दरी" आदि। इन रचनाओं में भाषा की अप्रौढ़ता, वर्णन की प्रधानता और भावना की न्यूनता है। वास्तव में बात यह है कि द्विवेदी जी के प्रबन्धात्मक अनुवाद ही कुछ अच्छे कहे जा सकते हैं।

मुक्तकः—

द्विवेदीजी के मुक्तक जोरदार हैं। उनमें उक्ति-प्रभाव और वक्रोक्ति का पैनापन है। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

शुद्धा-शुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार ।

द्विवेदी जी के मुक्तकों में दोहे भी सम्मिलित हैं। द्विवेदी जी एक सफल सम्पादक थे। और सम्पादक का एक सबसे बड़ा गुण विचारणीय यही होता है कि उसकी चयन और कथन वृत्ति कितनी पैनी है ? द्विवेदी जी के दोहों में इन दोनों वृत्तियों का समन्वित विचार कड़का है। फबतियां कसने में द्विवेदी जी के मुक्तक और दोहे वधिक के तीर रहे हैं।

द्विवेदी जी ने कुछ गीत भी लिखे। यद्यपि गीत की विशेषता–एकतानता (Unity) वहाँ नहीं रह सकी है, फिर भी उनमें गीत की चलती लय बनी रह सकी है, उनकी वन्दे मातरम्, भारतवर्ष आदि रचनाएँ गीति काव्य की आरम्भिक कोटि में रक्खी जा सकती हैं। इन गीतों में उर्दू शैली का प्रभाव भी आ गया है।

कुछ समालोचकों का मत है कि द्विवेदी जी ने कुछ गद्य-काव्य के ढंग का भी लिखा है। वे "प्लेग राजाव" "समाचार पत्रों का विराट रूप" आदि रचनाएँ इसी कोटि में लेते हैं। पर हमारे विचार से यह मान्यता भ्रामक है। द्विवेदी जी की इन रचनाओं में गद्य-काव्य का कोई सामान्य तथ्य भी परिलक्षित नहीं होता। ऐसी स्थिति में हम उनको खड़ीबोली के पहले गद्य-काव्य लेखक कहें, यह भावुकता कही जायेगी।

अन्त में द्विवेदी जी के काव्य-विषयों पर भी तथ्य रूप में कुछ जान लेना उपयुक्त रहेगा। द्विवेदी जी ने अपने काव्य का मूल विषय तत्कालीन समाज तथा धर्म से सम्बन्धित रक्खा। उन्होंने समाज को धर्म और धर्म को समाज से मिला-जुला अनिवार्य रूपमें सोचा व समझा। फलतः उनके काव्य में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों पर गहरा प्रहार है। बाल विधवा दहेज प्रथा, छूआ-छूत, अन्ध-विश्वास तथा गोरक्षा आदि विषयों पर उन्होंने खूब कविताएँ लिखीं। दूसरी ओर वे हिन्दू संस्कृति और धर्म पर भी पूर्णतया आस्थावान थे। अतः उनके काव्य में इसका इतिवृतात्मक अभिव्यंजन हुआ है। पहले वह अंग्रेजी राज्य के कुछ पक्ष में भी रहे, परन्तु कालान्तर में उनका काव्य-स्वर प्रतिक्रियावादी हो गया। उदाहरण देखिए—

क्या है तुझे पर बेदेशज देश भाये ?
क्यों है तदर्थ फिरता मुँह नित्य बाये ?
तूने किया न मन में कुछ भी विचार,
धिक्कार भारत तुझे शत कोटि बार !'

द्विवेदी जी की कविता का एक दृष्टिकोण धर्म और शृङ्गार की भावना का प्रकाशन भी रहा। धर्म के विषय में उन्होंने भारतीय संस्कृति के सनातन दृष्टिकोण को अपनाया—"गंगा स्तवन" जैसी रचनाओं में इसी धार्मिक भावना का प्रतिफलन दिखाई देता है और शृंगार के क्षेत्र में उन्होंने रसमय कवियों और शास्त्रियों का अवलम्बन लिया है। उनका शृंगार सम्बन्धी एक उदाहरण पीछे हम लिख आये हैं।

इन विषयों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कुछ प्रकृति विषयक कविताएं भी लिखी हैं। किन्तु उनमें प्रकृतिक का आलम्बन रूप ही प्रधान रहा है। यों कहीं-कहीं उदाहरण के लिए उद्दीपन रूप भी खोजा देखा जा सकता है। उनकी शृङ्गार-मूलक कविताओं में भी नीति, व्यंग तथा वक्रोक्ति आ डटे हैं। अतः प्रकृति की वह उत्फुल्ल, उद्भिन्न, रूपरस की छटा देखने को नही मिलती जैसे कि कालिदास, जगन्नाथ आदि संस्कृत के रस सिद्ध कवियों में देखने को मिलती है, गो कि द्विवेदी जी के आदर्श यही कवि रहे हैं।

इस प्रकार द्विवेदी जी के काव्य पर उक्त मीमांसा करके हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि उन्होंने काव्य के नाम पर जो कुछ भी लिखा है उसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. उनकी कविताओं में हिन्दी के प्रति ममत्व झलकता है।
२. उनकी कविता में देशकाल और जीवन की सद्-संगत अभिव्यक्ति है।
३, उनके काव्य में प्रथम खड़ीबोली का प्रथम काव्यात्मक स्वर है।
४. उनकी कविता में संस्कृत की काव्य-परम्परा की आस्था झलकती है।

५. उनकी कविता में रीतिकालीन ब्रजभाषा का मोह भी अभिव्यंजित है ।

६. उनकी कविता में रससिद्ध भावना का भी यथास्थान प्रकाशन हुआ है ।

७. उनकी कविता में समाज और देश-प्रेम, जाति-गौरव एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भी गुंजायमान होता है ।

८. उनकी कविता जीवन की व्याख्या है—Criticism of life !

उनके काव्य की निर्बलताएँ

१. इतिवृतात्मक वर्णन-प्रधान नीरस कविताएँ ।

२. अलंकारों की अस्वाभाविक छटा ।

३. भाषा में सधुक्कड़ीपन ।

४. रससिद्धि का अभाव, संस्कृत काव्य की अंधानुकरणप्रियता ।

५. नवीन चिन्ताधारा का अभाव ।

६. सुन्दरम-पक्ष का अभाव और शिवम् की शास्त्रोक्त पद्धति का अभिव्यक्तिकरण ।

७. कुल मिलाकर काव्य का अमांसल रूप व ढाँचा ।

आलोचना

संस्कृत की 'लुच' धातु से 'आलोचना' या 'आलोचन' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ है जिसका मान्य अर्थ है, किसी रचना का भली प्रकार से अवलोकन, या विवेचन । प्रवृत्यात्मक दृष्टिकोण से मनुष्य में आलोचना की भावना विद्यमान रहती है । किसी वस्तु का गुण, दोष, सौन्दर्य व असौन्दर्य मनुष्य देखना-परखना चाहता है । और चूँकि साहित्य मानव जाति के अनंत उन्मेषों, आवेशों, आदर्शों एवं अपकर्षों का सजीव इतिहास है, अतः उसके प्रति आलोचना का होना अनिवार्य तत्व ही कहा जायगा । अस्तु ।

हिंदी साहित्य की समालोचना का सूत्रपात द्विवेदी जी से पूर्व तथाकथित ऐसी कुछ उक्तियों में प्रकट हुआ जैसे 'सूर-सूर तुलसी ससि उडगन केशवदास' आदि । किंतु संस्कृत साहित्य की परम्परा में लक्षण और सैद्धान्तिक समालोचना का उत्कृष्टतम् स्थान रहा है । भामह, दण्डी, कुन्तक, अभिनवगुप्त, भरतमुनि, आनंदवर्धनाचार्य तथा गजन्नाथादि प्रकांड आचार्यों ने साहित्य के एक-एक अंग पर जिन मतों का प्रतिपादन किया है उन्हें देखते ही बनता है । रस, अलंकार, उद्देश्य, दर्शन तथा धर्म, प्रायः इन सभी विषयों पर इन आचार्यों ने साहित्य के अनुरूप गम्भीर पक्षों पर विचार किया

है, फिर सिद्धांत गढ़े हैं। भरतमुनि का रस-सिद्धांत, जगन्नाथ का काव्य-चमत्कार भामह एवं दण्डी का अलंकार-समर्थन, अभिनवगुप्त का ध्वनि-विवेचन, कुन्तक का वक्रोति-कौशल सैद्धान्तिक समालोचन का वह आदर्श रूप है जो संसार के साहित्य-विवेचन में उच्चकोटि का कहा जायगा। और बस, हिंदी समालोचना के दिग्गज महारथी आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने इन्हीं संस्कृत आचार्यों के समालोचनादर्श को पढ़ा, समझा, अपनाया और फिर सुलझाकर अपनी पैनी लेखनी द्वारा स्थापित किया। संक्षेप में, द्विवेदी जी की समालोचना उनकी बुद्धि की प्रतिच्छाया है।

समालोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी ने उस समय हिंदी में पदार्पण किया जब कि हिंदी आलोचना की कोई आदर्श परम्परा नहीं थी। उनसे पूर्व हिंदी में यथेष्ठ साहित्य भी रचा जा चुका था और साथ ही उनके युग में कुछ इस प्रकार की सामाजिक तथा साहित्यिक स्थिति थी कि जिसकी आलोचना होनी नितांत आवश्यक थी। द्विवेदी जी ने साहित्यिक और सामाजिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं को लिखा। साहित्यिक आलोचना में उनके सामान्यतः तीन दृष्टिकोण विशेष रहे।

अ०—

देववाणी अर्थात् संस्कृत के साहित्य की आलोचना—

इस प्रकार की आलोचना में उन्होंने सटिप्पण व्यख्यात्मक आलोचना का ही रूप अपनाया है। उन्होंने संस्कृत के काव्य-ग्रंथों का भली भाँति अध्ययन किया फिर उनके अनुवाद भी किये। अतः उनके पास तद्विषयक आलोचन की पृष्ठभूमि यथेष्ट उर्वरा थी। उन्होंने कालिदास के 'कुमार सम्भव' की भाषा पर और मेघदूत व रघुवंश काव्य सम्बन्धी गम्भीर तत्वों पर आलोचना प्रस्तुत की।

ब०—

द्विवेदी जी ने स्वतन्त्र रूप से भी अनेक विषयों पर टीका-टिप्पणी और समालोचनाएँ की हैं, जिसका परिमाण बहुत है।

संक्षेप में, उन्होंने इन पद्धतियों पर अपनी आलोचनाएँ लिखी हैं —

१. अचार्य पद्धति

२. शास्त्रीय पद्धति

३. खंण्डन-मंण्डन पद्धति

१. आचार्य पद्धति—

आचार्य पद्धति की दृष्टि से उन्होंने कोई मौलिक बात नहीं कही। वे संस्कृत के आचार्यों से प्रभावित रहे और उनके मतों-विचारों को अपने ढंग से प्रतिपादित किया। उदाहरण स्वरूप— रसज्ञ रंजन तथा नाट्यशास्त्र आदि विषयक आलो-

चनाएँ। इस ओर उनके गहन अध्ययन की छाप है। उदाहरण भी उन्होंने सुलझे हुए दिये हैं और भाषा भी उनकी प्रौढ़ तथा विषयानुरूप विचार-गम्भीर्य लिए है।

२. शास्त्रार्थ-पद्धति –

इस प्रकार की आलोचनाओं में द्विवेदी जी ने धार्मिक एवं सांस्कृतिक विषयों को छुआ है। उन्होंने इस प्रकार की आलोचनाएँ लिखी हैं जिनमें अनेक अकाट्य तर्क समाहित हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष विषयों पर भी उन्होंने इस प्रकार की आलोचनाएँ लिखी हैं जो काफी महत्वपूर्ण एवं दिशाबोधक हैं। उनकी 'भाषा और व्याकरण', 'भद्दी कविता' तथा 'कालिदास की 'निरंकुशता पर विद्वानों की सम्मतियां' आदि आलोचनाएँ शास्त्रीय-पद्धति पर लिखी गई आलोचनाएँ हैं। उनकी ये आलोचनाएँ एक अच्छे आलोचक की त्वरित स्मृति, गम्भीर मनन एवं गहन अध्ययन की साखी हैं।

३. खंण्डन-मंण्डन पद्धति—

द्विवेदी जी की खंण्डन-मंण्डन पद्धति पर लिखी गई आलोचनाएँ वास्तव में बड़ी महत्वपूर्ण कही जायेंगी, क्योंकि इस दिशा में उनका दृष्टिकोण भाषा-साहित्य के प्रति सुधारवादी एवं उन्नायकवादी ही प्रमुखतः रहा है। उन्होंने किसी भी रचना को लिया और उस पर समर्थ रूप में अपना आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रतिपादित किया। ऐसी आलोचनाओं में उन्होंने वास्तव में हिंदी-साहित्य को स्वस्थ्य एवं पुष्ठ करने के 'इन्जेक्शन्स' दिये हैं। द्विवेदी जी ने पक्षपात रहित होकर खंण्डन-मंण्डन-पद्धति को अपनाया है। उनके काल एवं कलाकारों का यह मानो आग्रह था कि वे तीखे होते ताकि उस समय के फैले हुए भाषागत्, और साहित्य-विषयगत् झाड़-झंखाड़ को उखाड़ कर उसमें खाद्यान्न उगाते। उन्होंने इस कार्य के लिए भरसक प्रयत्न किया। यदा-कदा प्रहार भी सहे पर वे अटल रहे। उन्होंने अपनी इस शैली में लिखी आलोचनाओं में व्यंग्य-चित्र खींचे और तत्कालीन अधकचरे अँग्रेजी के पिठ्ठूओं और हिंदी के लेखक बनने और कहलाने वालों के कान मल कर होश ठिकाने लगा दिये। 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने हिंदी खड़ीबोली भाषा का जो उद्धार, परिष्कार और सुधार किया, उस सबका महत्व उनकी खंण्डन-मंण्डन पद्धति पर लिखी आलोचना-राशि के ही कारण कहा जा सकता है।

द्विवेदी जी ने विशेषतया गद्य की भाषा खड़ीबोली निर्धारित की और विश्वासपूर्वक कहा कि ब्रजभाषा में ही नहीं खड़ीबोली में भी लालित्यपूर्ण ढंग से कविता की जा सकती है। उनसे पूर्व भारतेन्दु जी ने इस ओर कुछ प्रयास अवश्य किया था पर एक सुधारक के रूप में शायद कम और सृजेता के रूप में ही अधिक।

द्विवेदी जी ने अपनी आलोचनाओं के द्वारा भाषा-विषयक सुधार कार्य को बड़ी प्रगति प्रदान की। व्यवस्थित भाषा प्रयोग का नारा उन्होंने ही आज से बहुत पूर्व बुलंद कर दिया था एवं तदर्थ अपने मूल्यवान सुझाव दिये। उनकी सरस्वती की फाइलों से यह साफ प्रकट होता है कि उन्होंने कितने महान परिश्रम के साथ लेखकों की पंक्ति-पंक्ति को सुधार कर रखा था, शब्द-शब्द को परिष्कृत किया था। यह काम कोई बच्चों का खेल नहीं है, इसमें उस श्रमी साधक की शारीरिक क्षमता, आत्मिक लगन और परिश्रम की पराकाष्ठा रसी-बसी है। उन्होंने प्रत्येक स्थल पर अपनी आलोचना का ध्येय खंण्डन का नहीं रखा वरन् अनगिनत प्रकार से मंण्डन भी किया है, सुधार भी और परिमार्जन भी। पर वे इस तथ्य से उदीयमान लेखकों को अनभिज्ञ रखना नहीं चाहते थे अतः किसी न किसी भाँति वह अपनी आलोचनाओं एवं टिप्पणियों में इस तथ्य का उद्घाटन किये बिना न चूकते थे। यदि वे कोरा खण्डन ही करते तो सम्भवतः हिन्दी के उपन्यास सम्राट प्रेमचंद पैदा न होते, नाटक सम्राट प्रसाद पैदा न होते, प्रकाण्ड समालोचक रामचंद्र शुक्ल भी नहीं। उन्होंने अपनी आलोचनाओं को 'शिव' की भावना से लिखा है। पर जहाँ उन्होंने असंगत, अश्लील भावों-विचारों को पनपता पाया है वहीं निर्ममता से जड़ें काटी हैं। ऐसे साहित्यिक और उसकी कृति को उन्होंने साहित्य के महान मंदिर में प्रवेश होने से रोका जिसके द्वारा हिंदी भाषा-साहित्य, संस्कृति एवं समाज के अहित होने की सम्भावना हो सकती थी। जितनी हो सकी उन्होंने इस ओर उदारता भी दिखलाई और स्वयं अपनी कलम एवं बुद्धि से लेखकों को लिखने की सद्-दिशा भी दिखाई। और निश्चय ही वे इस ओर सफल भी रहे। यह सब कुछ कार्य करने का श्रेय उनकी विविध विषयों पर विविध ढंग से लिखी समालोचनाओं को ही है।

इतना होते हुए द्विवेदी जी समर्थ आलोचकों की पंक्ति में नहीं रक्खे जा सकते। क्योंकि उनकी रुचि एक सच्चे शिक्षक की थी, महान लेखक बनने की नहीं। एक सफल शिक्षक होना और महान लेखक होना दो भिन्न पहलू हैं। एक सफल शिक्षक या गुरू श्रम से हो सकता है पर साहित्यक पूर्णतः श्रम से नहीं बन सकता। उसके पास एक जन्मजात भाव, कल्पना और बुद्धि की गत्यात्मक (Dynamic) शक्ति होती है। उसके लिए श्रम केवल सहायक बन कर आता है। द्विवेदीजी साहित्यिक विद्यालय के एक महान गुरुवर थे और इस रूप में उन्होंने तत्कालीन नये साहित्य लेखकों की भाषा को सुधारा। उनकी बुद्धि-रुचि को परिष्कृत किया और आगे के लिये आधुनिक खड़ीबोली भाषा का भाग्य-पथ प्रशस्त किया। इसका अर्थ यह नहीं कि द्विवेदी जी की आलोचनाओं में केवल शिक्षा-शास्त्र है या शिक्षा-प्रसार का प्राजेक्ट है। नहीं, उनमें उनके गम्भीर अध्ययन, प्रौढ़ व्यक्तित्व और

सद्-दृष्टिकोण का भी तेज विद्यमान हैं। 'आलोचना समुच्चय', 'विचार विमर्श' एवं 'रसज्ञरंजन' आदि पुस्तकों की समालोचनाओं में उनके आलोचक का रूप, जैसा कि उस समय में अच्छा से अच्छा होना चाहिये था, निखरा है। उन्होंने अपनी समालोचनाओं के द्वारा कवियों को नये-नये विषयों पर लेखनी चलाने को अनुप्रेरित एवं प्रोत्साहित किया। उनकी 'उर्मिला विषयक उदासीनता' समालोचना श्री मैथलीशरण जी गुप्त को एक नवीन राम काव्य प्रणयन के लिये शायद अनुप्रेरत कर सकी और तब उन्होंने लिखा—साकेत महाकाव्य !

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं—

१. द्विवेदी जी ने अपनी समालोचना का आदर्श युग और भारतीय संस्कृति एवं वाड-मय की परम्परा के अनुकूल स्थापित किया।

२. द्विवेदी जी की आलोचना में गवेषणा अध्ययन एवं एक ईमानदार आलोचक का व्यक्तित्व प्रधान है।

३. द्विवेदी जी की आलोचनाओं में तत्कालीन साहित्य की भाषा और उसके उद्देश्य की सुधार, उद्धार एवं परिष्कार की महती भावना उमड़ती है।

४. द्विवेदी जी का आलोचन-उद्देश्य महान रहा पर वे महान आलोचक न बन सके, इसका कारण उनका पिछड़ा हुआ आधुनिक खड़ीबोली भाषा साहित्य का युग भी है। पर मुख्यतः वे अपनी साहित्यिक शिक्षक वृत्ति की मर्यादा में रहे, साहित्यिक रुचि की स्वच्छन्दता के संगी नहीं। अतः उनकी आलोचनाओं में कथन की कलात्मकता एवं लचक न आ पाई जिससे वह रूढ़ अधिक बन पाई।

५. कुछ भी हो, हिंदी आलोचना जगत के द्विवेदी जी प्रथम प्रभात हैं—चाहे धुँधले चाहे उजले !

निबन्धकार द्विवेदी जी

यदि पद्य की कसौटी गद्य है, तो गद्य की कसौटी निबन्ध है—(एक विचारक) अंग्रेजी के 'ऐसे' शब्द का जो आशय है, अर्थात श्रम साध्य साहित्यिक गद्य-कृति, वही आशय हिन्दी के निबन्ध शब्द का है। निबन्ध रचना का अर्थ है वह रचना जिसमें लेखक भाषा की कसावट से विचारों को स्वच्छंदता से व्यक्त करता चले एक सीमित आकार में, गम्भीर प्रकार से और व्यक्तित्व की छाप से। अस्तु।

द्विवेदी जी से पूर्व भारतेन्दु युग में निबन्ध लिखे गये परन्तु वे निबन्ध भाषा, विषय और शैली की दृष्टि से सफल सिद्ध न हुये। उनमें केवल प्रचार-प्रभाव का दृष्टिकोण ही प्रधान रहा। दूसरे शब्दों में भारतेन्दु और उनके समकालीन निबन्धकार बाल कृष्ण भट्ट व प्रताप नारायण मिश्र आदि ने जिन निबन्धों को लिखा उनमें भाषा की व्यवस्था और विषय की गम्भीरता निबन्धात्मक कोटि की नहीं है। द्विवेदी जी

संस्कृत साहित्य के पंडित थे। अतः जगन्नाथ तथा अन्य आचार्यों की नैबंन्धिक परम्परा से वह परिचित थे और यों उनके निबन्ध सृजन की गम्भीरता पाकर निर्मित हुए। भारतेन्दु के समय से ही सामायिक पत्र-पत्रिकाओं की धूम मच गई थी और उनमें राजनैतिक, धार्मिक तथा जातीय विषयों पर समान्य कोटि के निबन्ध छपने लगे थे।

द्विवेदी जी के समय तक युग की परिस्थितियां बहुत से अर्थों में बदल चुकी थी। द्विवेदी जी ने सजग होकर अपने समय का पृष्ट पढ़ा और भारतीय सनातन संस्कृति का वाङ्मय भी पढ़ा। इन दोनों दृष्टि-कोण को स्पर्श करता हुआ द्विवेदी जी का निबन्ध निर्झर बहा। उनके निबन्धों की पृष्ठभूमि एक ओर तो भाषा-साहित्य को परिष्कृत, प्रबल और समर्थ बनाने के लिये महत्वपूर्ण है और दूसरी ओर अपनी सामाजिक समस्याओं के सुधार और सुझाव में परिपुष्ट होती रही। संक्षेप में हम उनके निबंधों के विषय, भाषा, शैली और उद्देश्य पर नीचे विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

विषय—द्विवेदी जी के निबन्ध विविन्ध विषयों पर हैं जिनकी सहज में गणना सम्भव नहीं। स्थूल रूप में हम उनके विषयों का वर्गीकरण यों कर सकते हैं :—

१. साहित्य विषयक निबन्ध।

२. समाज-संस्कृति विषयक निबन्ध।

३. विविध निबन्ध।

द्विवेदी जी के साहित्यक निबन्ध प्रायः संस्कृत और हिन्दी भाषा विषयक हैं। उदाहरण स्वरूप 'भवभूति साहित्य की महत्ता' 'सभ्यता एवं साहित्य' आदि निबन्ध पढ़े जा सकते हैं। इन निबन्धों में उनके पांडित्य एवं व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। इनमें उनकी चिन्तात्मक प्रतिभा का विकसित रूप देखने को मिलता है। इतस्ततः संगत और उचित उदाहरणों का ललित प्रयोग तथा अपने मत समर्थन का चातुर्य उचित बन पड़ा है। उनके यह निबंध एक प्रकार से आकार-प्रकार में आलोचना की कोटि में रखे जाने ठीक न होंगे। स्पष्ट बात यह है कि आलोचना और निबन्ध का मूल अन्तर कुछ न होकर केवल स्थूल अन्तर यह है कि निबन्ध में अनुभव प्रधान होता है आलोचनामें अध्ययन, निबन्धमें व्यक्तित्व प्रधान और आलोचना में विषय-तत्व। तो इस दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध और आलोचना का रूप भिन्न नहीं हैं, वरन् उनकी आलोचना में निबन्ध सम्मिलित है और निबन्धों में आलोचना। उनके लिखे हुए साहित्यिक ढंग के निबंध हिंदी खड़ीबोली के भाषा-साहित्य को नवीन दिशा, नवीन मूल्य और नवीन जाग्रति देते हैं तो प्राचीन वाङ्मय विभूति से विभूषित भी करते हैं। उनकी यह देन बड़ी सराहनीय है।

समाज-संस्कृति विषयक निबन्ध

द्विवेदी जी ने अपने समय की सामाजिक विडम्बनाओं और सांस्कृतिक पतन को बड़ी सजग दृष्टि से देखा। सरस्वती की निबन्ध विषय सूचि से यह साफ प्रगट होता है कि उन्होंने विविध प्रकारेण समाज की विडम्बना और सांस्कृतिक पतन पर लेखनी चलाई है। उन्होंने आर्यों की जन्म-भूमि तथा भारतवर्ष के पुराने खण्डहर जैसे निबंध लिखकर तत्कालीन समाज की तंद्रा को तोड़ा और अपने अतीत का मोह जगाया। उनके इस विषय में सम्भाषण और विशेष टिप्पणियाँ इस कथन की पुष्टि करती हैं। इन निबंधों में उनकी भाषा व्यंग-विनोदपूर्ण रही। उनकी शैली में समाज का चित्र सजीव होकर खड़ा हो गया है।

विविध निबन्ध

द्विवेदी जी ने अठारह वर्ष सरस्वती का सम्पादन किया है। अकेले वे ही हिन्दी के ऐसे निबन्धकार और समालोचक हैं जिन्होंने सदा सर्व-विषयक निबंध लिखे। उनके विविध निबंध उनकी लोकव्यापी दृष्टि के परिचायक हैं। इस विषय के अन्तर्गत उन्होंने जीवन चरित्र लिखे जैसे—प्राचीन पंडित और कवि, हरबर्ट स्पेंसर, आदि वैज्ञानिक निबंधों में उनके मंगल ग्रह तक तार, रंगीन छाया चित्र, कुछ आधुनिक आविष्कार आदि निबंध विशेष हैं। ऐतिहासिक निबंधों में उनके "प्राचीन भारत में जहाज," "भारतीय शिल्प शास्त्र" आदि निबंध रक्खे जा सकते हैं। उनके अध्यात्मिक विषयक निबंध ज्ञान आत्मा, आदि बड़ी गम्भीर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अन्य छोटे-मोटे विषयों पर भी उनके निबंध उनकी अनवरत साधना का परिचय देते हैं। कुल मिलाकर द्विवेदी जी के निबंधों का विषय व्यापक रहा जिसमें युग का स्वर ही प्रधान है।

विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध बड़े प्रभावशाली हैं अतः महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि उनमें निबंध कला का पूर्ण विकास देखने को नहीं मिलता।

शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—

१. **विचार प्रधान निबन्ध।**

२. **वर्णन प्रधान निबन्ध।**

विचार प्रधान निबध—द्विवेदी जी के विचारात्मक निबंध ही विशेष महत्व पूर्ण है। इन निबंधों में उन्होंने साहित्य के विविध रूपों पर बड़ा ठोस प्रकाश डाला है। वास्तव में उन्हीं निबंधों को लिखकर द्विवेदी जी ने मानो हिन्दी भाषा-साहित्य के लचर अंग को परिपुष्ठ बनाया है। उनके 'कवि और कविता', 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता', 'साहित्य की महत्ता' प्रतिभा आदि निबंध अत्यन्त उपयोगी और दिशाबोधक सिद्ध हुये। इन निबंधों में उन्होंने तर्क, उदाहरण, लक्षण, सिद्धान्त गवेषणा

सभी का सार निचोड़ कर रख दिया है। उनके गवेषणात्मक निबन्धों में 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति' एक महत्वपूर्ण निबन्ध है।

वर्णन प्रधान निबन्ध—उनके वर्णन प्रधान निबन्ध में वस्तु वर्णन और व्यक्तित्व वर्णन—दोनों का ही समावेश है। उदाहरणार्थ—उनके वस्तु वर्णन प्रधान निबन्ध 'कवि और कविता', अथवा 'साची के पुराने स्तूप', आदि व्यक्तित्व वर्णन प्रधान निबन्धों में चरित्र चर्चा प्राचीन पंडित और कवि आदि निबन्ध आते हैं। उनकी वर्णनात्मक शैली में उनके अनुभव की चित्रावली एवं कहीं पर उसमें भावुकता भी दृष्टि-गोचर होती है।

शैली की दृष्टि से यों द्विवेदी जी पहले ऐसे निबन्धकार हैं जिन्होंने हिन्दी निबन्ध रचना को सींचा। पाश्चात्य नैबन्धिक शैली की एक विशेषता है उसके व्यक्तित्व प्रधान होने में। द्विवेदी जी के निबंधों में समाजिक प्रधानता रही है, किंतु उनके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा उनमें अपने आप इस प्रकार समाहित हो गई है जैसे सागर में नीलिमा।

द्विवेदी जी हिन्दी खड़ीबोली भाषा के निर्माता हैं। उनके जीवन की सबसे बड़ी साध और महत्ता इसी तथ्य में समायी हुई है कि उन्होंने भोली-भाली, किशोरी हिन्दी खड़ीबोली भाषा को प्रचलन और व्यवहार के अनुकूल बनाया। भारतेन्दु जी निर्विवाद रूप में हिन्दी खड़ीबोली भाषा की व्यस्था न बाँध सके और यों भाषा के निर्बल कंधों पर भावों और विचारों की सृष्टि भला सम्भव होती ? और द्विवेदी जी ने सर्वप्रथम व्याकरण का कोड़ा हिन्दी खड़ीबोली भाषा को विकृत करने वाले लेखकों और कवियों पर घुमा दिया। वाक्य विन्यास, क्रिया पद, धातु और शब्दों के सही प्रयोगों पर उन्होंने गंभीर प्रकाश डाला। वे उन लोगों में से रहे जो यति और विराम की भूल तक को नहीं सह सकते थे। ऐसी दशा में उनका विरोध होना स्वाभाविक था। उन्होंने ईंट का जवाब पत्थर से दिया पर भाषा के सुधार पर दृढ़ बने रहे। यह सोचना तो अधिक समीचीन न होगा कि इतना सब कुछ करने पर भी वे हिन्दी खड़ीबोली भाषा का कोई आदर्श रूप स्थापित कर सके हों। क्योंकि भाषा का व्यवहृत रूप परिवर्तनशील होता है और द्विवेदी जी ही क्या, कोई भी महापण्डित लेखक भाषा को स्थिर रूप नहीं दे सकता। द्विवेदी जी की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने खड़ीबोली भाषा के किशोर रूप को यथासाध्य और यथासम्भव परिमार्जित किया, सुथरा बनाया, जिससे भविष्य का पथ प्रशस्त हुआ।

अन्त में द्विवेदी जी के निबन्ध लिखने के उद्देश्य को जानना भी अनिवार्य है। वास्तव में द्विवेदी जी का सम्पूर्ण साहित्य ही निबन्ध की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वे कला कला के लिए सिद्धांत को नहीं मानते थे। ऐसा न मानने से यद्यपि उनके निबन्ध केवल

प्रचारात्मक ही बने रहे तकनीक की दृष्टि से उनमें प्रौढ़ता न आई। उनके निबन्धों में सामयिक भुस तो खूब ठुस गया पर साहित्यिक रस थोड़ा ही आ सका। परन्तु क्या कहें ? यह दोष द्विवेदी जी का नहीं देश, काल और परिस्थितियों का है। द्विवेदी जी के निबन्धों में यदि कलाप्रियता और सौन्दर्य प्रियता का कुछ आभास मिलता है तो उनके विशुद्ध साहित्यिक निबन्धों में। पर यह निर्विवाद है कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक निबंधों में "भारत भारती" के मंत्र उच्चारित होते हैं। और इस दृष्टि से उनका महत्व अकथनीय है।

सरस्वती सम्पादन और सेवाकार्य

महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के गुरुत्व की संगिनि सरस्वती पत्रिका कही जायगी। सरस्वती पत्रिका हिंदी साहित्य जगत की वह पहली पत्रिका है जिसके माध्यम से लेखकों और सम्पादकों का आदर्श मार्ग स्थापित हुआ और हिंदी खड़ीबोली भाषा का गौरव बढ़ा। सरस्वती से पूर्व, भारतेन्दु युग में अनेकानेक सामयिक पत्रों की बाढ़ सी आ गई थी, पर उस बाढ़ में न तो किसी रचना को तट मिल सका और न कोई लेखक उसकी रौ में अपना अस्तित्व भली-भाँति स्थापित कर सका और न ही किसी विशेष युग, समाज एवं साहित्य के उद्देश्य की संतोषजनक पूर्त्ति हुई। सरस्वती का प्रकाशन १९०१ में हुआ था और उसके सम्पादक नियुक्त हुए डा० श्यामसुन्दर दास। किंतु किन्ही कारणों से बजाय इसके कि वह सम्पादन के कार्य में लगे रहते, उन्होंने उससे मुक्ति चाही और उसके लिए स्वयं उन्होंने सम्पादक सुझाये और चुने—महावीर प्रसाद जी द्विवेदी। यों सन् १९०३ से सरस्वती का सम्पादन भार अटल व्यक्तित्वधारी द्विवेदी जी के वृषभ कंधों पर आ पड़ा। पर द्विवेदी जी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया और लगभग १७-१८ वर्ष तक सफलतापूर्वक उसे सहर्ष वहन किया। सर्वप्रथम यह कह देना ठीक होगा कि द्विवेदी जी के साहित्यिक-सामाजिक जीवन का सबसे उत्कृष्ट अध्याय सरस्वती के कार्य और काल द्वारा ही बना और जुड़ा। दूसरे शब्दों में सरस्वती को पाकर द्विवेदी जी अमर यशः कीर्ति को प्राप्त हुए और सरस्वती ने द्विवेदी जी को पाकर अपने को धन्य समझा।

द्विवेदी जी वास्तव में एक महान् सम्पादक कहलाने के अधिकारी हैं। जिस आदर्श-उद्देश्य को लेकर सरस्वती का संचालन हुआ कि 'जिसके नव-जीवन धारण करने का केवल यही उद्देश्य रहा कि हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ ही साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंग पुष्टि, वृद्धि और यथातथ्य पूर्ति हो तथा भाषा सुलेखकों की ललित लेखनी उत्साहित और उत्तेजित होकर विविध भाव भरित ग्रन्थ राशि को प्रसव करे। इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवन-चरित, पत्र, हास्य-परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कला-कौशल आदि

साहित्य के यावतीय विषयों का यथावकाश समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की यथोचित समालोचना की जायगी'—यह था आदर्श-उद्देश्य जो सरस्वती के भाग १ की आरम्भिक भूमिका में छपा था और जिसके निमित्त सरस्वती का सम्पादन-संचालन शुरू किया गया था। द्विवेदी जी से पूर्व सरस्वती इस आदर्श-उद्देश्य की पूर्ति न कर सकी थी। इधर अन्य कु॰ पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकगण ढुलमुल और कर्त्तव्य विमुख से हो चले थे। सम्पादकीय आदर्श का गला घोंटकर ही वे लोग सम्पादक बने हुए थे। झूठे-सच्चे विज्ञापन, मिथ्या प्रशंसात्मक अथवा अपमानजनक लेखों का प्रकाशन ये लोग धड़ल्ले से करते थे। द्विवेदी जी ने अपने सम्पादन कार्य को साहित्यहित, जन-कल्याण और आदर्श रूप में अपनाकर सम्पन्न किया। फलतः सरस्वती का उत्तरोत्तर विकास खिलती हुई कली के समान हुआ। उसके सौरभ से साहित्य-कानन महमहा उठा। पर द्विवेदी जी ऐसे कठोर माली थे कि उस कली की ओर किसी व्यभिचारी की आँख भी न उठने देते थे। हमारा आशय यह है कि द्विवेदीजी ने सरस्वती में उन्हीं लेखों और लेखकों को स्थान दिया जो सच्चे साधक थे। उन्होंने सरस्वती की श्रीशोभा का वर्द्धन कई प्रकार एवं साधनों द्वारा किया। द्विवेदी जी ने किसी भी लोभ के वशीभूत होकर सरस्वती में एक शब्द भी न छापा यद्यपि उन्हें गिन्नी की थैलियों के बहुत से लालच लोगों ने दिये भी थे। उनकी इस निस्वार्थ भावना और कर्त्तव्यनिष्ठा ने सरस्वती की आत्मा को सुरसरि की भाँति निर्मल ही बना रहने दिया और उसी निर्मलता का यह परिणाम हुआ कि द्विवेदी जी का व्यक्तित्व तथा उनका जीवन युग-युग के आदर्श का प्रतीक है। वह इतने ईमानदार थे कि सरस्वती में स्थानाभाव के कारण अपने लम्बे लेखों और निबन्धों तक का प्रकाशन न करते थे ताकि दूसरों की सुन्दर रचनाओं को छपने का अवसर मिल सकता। सरस्वती की फाइलों से यह प्रकट होता है कि द्विवेदी जी ने उसके कलेवर को सजाने-सँवारने और पुष्ट बनाने में दिन-रात एक कर दिये थे। सरस्वती में उन्होंने कोई भी ऐसी रचना न छापी जो उनके संशोधन से रहित कही जा सके। सरस्वती में उन्होंने कोई ऐसा विज्ञापन न छापा जो उसके लिये कलंक सिद्ध होता। उन्होंने उसमें किसी भी ऐसे बुरे लेखक को स्थान नहीं दिया जो दस्यु था, दुराग्रही था या दुश्चरित्र था। इसके लिए उन्हें स्वयं शरीर की अस्वस्थ्यता सिर ओढ़कर काम करना पड़ा पर उन्होंने सरस्वती के कोमार्यत्व पर दाग़ न लगने दिया; यद्यपि इसके लिए लोगों ने भी कम दुःस्साहस न दिखाया था किंतु द्विवेदी जी बस पर्वत की तरह "बून्द आघात सहें गिरि ऐसे : खल के वचन संत सह जैसे" सिद्धान्त को चरितार्थ करते रहे। उन्होंने कल्पित नामों से स्वय लिख लिखकर सरस्वती में रचनाएँ छापीं। उनकी अनेक रचनाएं बाद में उनके नाम की दुहाई देती हुई उपलब्ध हुई हैं। उन्होंने सरस्वती को सजाव-शृङ्गार भी कम न दिया—कन्या दान जो करना था! जिसके हित साहित्यके महान् वर प्रसाद तत्पर थे, प्रेमचन्द तत्पर थे। द्विवेदी जी

ही एक ऐसे सबसे पहले सम्पादक कहे जा सकते हैं जिन्होंने सरस्वती को विभिन्न कलात्मक रंगीन चित्रों से सुसज्जित किया। इसके लिए वे चित्रकार पर ही आधारित नहीं रहे वरन् वे चित्रकार को ही सरस्वती के अनुकूल चित्र बनाने का निर्देश करते थे।

तात्पर्य यह है कि द्विवेदी जी ने सरस्वती के कलेवर को हर प्रकार हर रूप से सजाया-सँवारा। इसके साथ ही उन्होंने उसके लेखकों का भी निर्माण किया। योग्य लेखकों की प्रतिभा पहचानने में द्विवेदी जी बड़े प्रवीण थे। उन्होंने मैथिलीशरण जी गुप्त, हरिऔध जी, बख्शी जी, शुक्ल जी आदि लेखकों को अपनाया और उनका साथ लिया-दिया। इधर विदेशों में निवास करने वाले भारतीय लेखकों से भी सम्बन्ध जोड़ा ताकि वे वहाँ से वहाँ की रचनाएँ भेजे—अनुकूल विषय सामग्री, ताकि यहाँ के लोगों को विदेशी वैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक प्रगति के विषय में यथोचित लाभदायक बातें मालूम हों। किंतु ऐसी बात नहीं कि उन्होंने योग्य लेखक समझ-समझकर उनकी रचनाओं को अंधाधुन्ध तौर पर छापा हो। नहीं, उन्होंने संशोधन की वृत्ति को सम्पादन के लिए अनिवार्य समझा और यहाँ तक कि अपने परमप्रिय शिष्य 'गुप्त जी' की एक रचना को छापने से उन्होंने साफ इन्कार भी कर दिया था। द्विवेदी जी का यह वह कठोर पक्ष है जिसके भीतर हिंदी भाषा-साहित्य के सुधार-उत्थान की मंगल कामना का निवास है। उनकी सहृदयता नये लेखकों को सदा प्रोत्साहित करने के प्रति बड़ी जागरूक रही। तत्कालीन प्रत्येक लेखक को उन्होंने अपने दिशाबोधक एवं निर्देशक पत्रों द्वारा माँभारती की सद् सेवा करने का सही मार्ग सुझाया। उनकी रचनाओं की कमियों एवं त्रुटियों को इंगित किया और भी बहुत सी सृजनात्मक बातों से वे उन्हें गाइड करते रहे। सरस्वती को निरंतर उपयोगी एवं सुन्दर बनाने में द्विवेदी जी ने टिप्पणियों, व्यंग-चित्रों सुभाषितों-संभाषणों, चुटकुलों, लोकोक्तियों आदि का यथास्थल बड़ा प्रभावशाली प्रयोग किया है। वे इस सिद्धान्त को मानने वाले थे कि एक सम्पादक को पूर्णतः कर्त्तव्यनिष्ठ, स्पष्टवादी और निर्भीक होना चाहिए। उन्होंने सरस्वती की रचनात्मक विषय-सूची के सुधार द्वारा पत्रिका जगत को एक अभिनव दृष्टि एवं दिशा दी थी। उन्होंने अपनी सरस्वती पत्रिका द्वारा तत्कालीन बहुत सी पत्रिकाओं को प्रभावित किया था और उन्होंने यथासम्भव सरस्वती के आदर्शों का ग्रहण किया और पालन भी। इसके साथ ही "मार्डन रिव्यू" जैसे पत्रों से उन्होंने अनेकानेक सम्पादकीय तकनिकल तत्वों को ग्रहण भी किया और सरस्वती को अधिक से अधिक सुन्दर और हितकर बनाया। हम कई बार लिख आए हैं कि द्विवेदी जी एक महान् कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुष थे। उन्होंने सरस्वती के मुद्रण और प्रकाशन विभाग की व्यवस्था को अपने तन के श्रम और मन की लगन द्वारा मुट्ठी में रक्खा। जहाँ एक ओर उन्होंने लेखकों की रचनाओं में संशोधन-परिवर्तन आदि करने में अपना दिन-रात

का सुख विश्राम कुछ न जाना वहाँ दूसरी ओर उन्होंने सरस्वती के सुन्दर मुद्रण एवं प्रकाशन की देखरेख में अपनी एकटक एवं पैनी दृष्टि को स्थिर रक्खा। आश्चर्य की बात तो यह है कि आज भी जब अच्छी-अच्छी पुस्तक-पत्रिकाओं में अनेक मुद्रण (Composing) की त्रुटियाँ सहज देखने में आती है वहाँ द्विवेदी जी की सरस्वती की प्रकाशित रचनाओं में बमुश्किल एक-दो प्रतिशत छापे की त्रुटियां मिलेंगी। यह बात, और वह भी द्विवेदी जी के समय में हुई, जबकि हिंदी भाषा की कोई मुद्रण प्रकाशन एवं लेखन व्यवस्था संतोषजनक न थी, बड़ी सराहनीय और श्रम सिद्ध कही जायगी। अस्तु।

उपरोक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने सरस्वती की तनमन-धन से नहीं—आत्मा से सेवा की थी। सरस्वती को नियमित निकालने के प्रति द्विवेदी जी ने जो महान् सेवाव्रत का पालन किया वह इस बात से पुष्ट होता है कि उन्होंने दुष्ट अवसर एवं परिस्थिति के अड़ जाने पर भी अपने हाथों लिखकर सरस्वती पत्रिका अपने ग्राहकों के हाथों तक पहुँचाई थी। सेवा का इससे अधिक और कौन-सा उदाहरण हो सकता है ? पत्रिका जगत में सरस्वती पत्रिका का महत्व द्विवेदी जी की इन्हीं महान् सेवाओं का परिणाम है। पत्रिकाओं के इतिहास में आज भी सरस्वती के विषय, उद्देश्य और रूपाकार को कोई अन्य पत्रिका आदर्शतः नहीं पा सकी। उसकी प्रत्येक प्रति नहीं वरन् प्रत्येक रचना पत्रिका-जगत और साहित्य-जगत की वह चमचमाती हुई मणि है जिसके संरक्षक आज भी द्विवेदी जी आभासित होते हैं .....भले ही स्थूल नहीं, सूक्ष्म !

सचमुच, द्विवेदी जी एक श्रमी साधक एवं चिरस्मरणीय आदर्श सम्पादक थे।

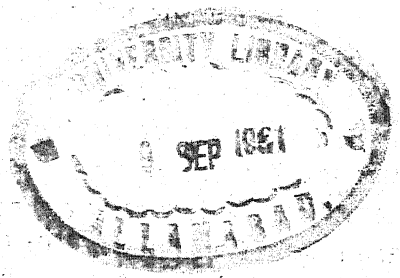

परिशिष्ठ

खड़ी बोली हिन्दी गद्य साहित्य के उल्लेखनीय लेखक जिनमें से अधिकांश का प्रस्तुत ग्रंथ में यथास्थल उल्लेख हुआ है। नाम किसी प्रयोजन से आगे-पीछे नहीं रक्खे गए हैं।

आलोचक और निबन्धकार

१. राजा शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' २. राजा लक्ष्मणसिंह ३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ४. बालकृष्ण भट्ट ५. प्रताप नारायण मिश्र ६. बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' ७. महावीरप्रसाद द्विवेदी ८. सरदार पूर्णसिंह ९. श्यामसुन्दरदास १०. रामचन्द शुक्ल ११. पद्मसिंह शर्मा १२. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी १३. बाबू गुलाबराय १४. पद्म लाल पुन्नालाल बख्शी १५. मिश्रबंधु १६. हजारी प्रसाद द्विवेदी १७. रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख १८. शिवपूजन सहाय १९. महाराज कुमार रघुवीरसिंह २०. शान्तिप्रिय द्विवेदी २१. जैनेन्द्र २२. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' २३. डा० सत्येन्द्र २४. प्रकाशचन्द्र गुप्त २५. नन्ददुलारे वाजपेई २६. शिवदानसिंह चौहान २७. डा० इन्द्रनाथ मदान २८. डा० रामविलास शर्मा २९. पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल ३०. नलिन विलोचन शर्मा ३१. डा० रांगेयराघव ३२. प्रभाकर माचवे ३३. डा० जगन्नाथ प्रसाद ३४. विशम्भर 'मानव' ३५. यशपाल ३६. डा० देवराज ३७. राहुल सकृत्यायन ३८. इलाचन्द्र जोशी ३९. अज्ञेय ४०. रामधारीसिंह 'दिनकर' ४१. शचीरानी गुर्टू ४२. गोपालकृष्ण कोल अंत में लेखक।

दाटककार और एकांकीकार

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र २ जयशंकर प्रसाद ३. हरिकृष्ण प्रेमी ४. गोविंद वल्लब पंत ५. लक्ष्मीनारायण मिश्र ६ उदयशंकर भट्ट ७. रामकुमार वर्मा ८. जगदीश चन्द्र माथुर ९. सेठ गोविन्ददास १०. उपेन्द्रनाथ अश्क ११. वृन्दावनलाल वर्मा १२. विष्णु प्रभाकर १३. सत्येन्द्र १४. प्रेमनारायण टंण्डन १५. डा० रांगेयराघव १६. चिरंजीत १७. भारतभूषण अग्रवाल १८. राजेन्द्रकुमार आदि।

कहानीकार तथा उपन्यासकार

१. श्रीनिवास दास २. देवकीनंदन खत्री ३. बालकृष्ण भट्ट ४. किशोरीलाल गोस्वामी ५. गोपालराम गहमरी ६. जयशंकर प्रसाद ७. प्रेमचन्द ८. विशम्भरनाथ कौशिक ९. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी १० चतुरसेन शास्त्री ११. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' १२. सुदर्शन १३. चण्डीप्रसाद हृदयेश १४. ऋषभचरण जैन १५. रायकृष्णदास १६. जैनेन्द्र कुमार १७. अज्ञेय १८. इलाचंद जोशी १९. राहुल संकृत्यायन २०. धर्मवीर भारती २१. वृन्दावनलाल वर्मा २२. भगवतीचरण वर्मा २३. प्रतापनारायण

श्रीवास्तव २४. उपेन्द्रनाथ अश्क १५. यशपाल २६. राधिकारमण प्रसाद सिंह २७. अमृतलाल नागर २८. नागार्जुन २९. मार्कण्डेय ३०. भगवती प्रसाद वाजपेई ३१. पहाड़ी ३२. निराला ३३. उदयशंकर भट्ट ३४. अंचल ३५. अमृतरात ३६. देवेन्द्र सत्यार्थी ३७. मोहनसिंह सेगंर ३८. सत्येन्द्र शरत ३९. रावी ४०. आनंदप्रकाश जैन ४१. अभयकुमार यौधेय ४२. जनार्दन मुक्तिदूत ४३. शिवप्रसाद 'रुद्र' ४४. शिवसागर मिश्र ४५. रजनी पनिकर ४६. उषादेवी मिश्रा ४७. चन्द्रकिरण सौनरिक्सा ४८. गुरुदत्त ४९. यज्ञदत्त ५०. शैलेश मटियानी ५१. ब्रह्मदेव ५२. आचार्य जगदीदश चंद्र ५३. कृष्णचन्द्र ५४. लाड़ली मोहन ५५. योगेश गुप्त ५६. सन्तोष कुमार जैन ५७. श्यामसुन्दर त्रिपाठी ५८. राजेन्द्र यादव ५९. मन्मथनाथ गुप्त ६० कंचनलता सब्बरवाल ६१. भैरव प्रसाद गुप्त आदि अंत में लेखक।

गद्य-गीतकार

१. रायकृष्णदास २. चतुरसैन शास्त्री ३. वियोगी हरि ४. सियारामशरण गुप्त ५. दिनेशनंदिनी ६. अज्ञेय ७. रामप्रसाद विद्यार्थी ८. रावी ९. ठाकुरदत्त शर्मा 'पथिक' १०. रामप्रसाद ११. माखनलाल चतुर्वेदी १२. शिवचंद्र नागर १३. ब्रह्मदेव १४. राजनारायण महरोत्रा आदि।

जीवनीकार

१. रामनरेश त्रिपाठी २, बनारसीदास चतुर्वेदी ३. सुमन ४, राहुल संक्रत्यायन ५. रामनरेश त्रिपाठी ६. रामवृक्ष बैनीपुरी ७. सत्यदेव विद्यालकार ८. सीताराम चतुर्वेदी ९. राजेन्द्र यादव १०. कमलेश आदि।

आत्म-कथाकार

१. महात्मा गांधी २. डा० राजेन्द्रप्रसाद ३. श्याम सुन्दरदास ४. जवाहरलाल नेहरू ५. हरिभाऊ उपाध्याय ६. इन्द्रविद्यावाचस्पति ७. मूलचंद अग्रवाल ८. स्वामी भवानीदयाल सन्यासी ९. वियोगीहरि १०. बाबू गुलाबराम आदि।

संस्मरणकार

१. पद्मसिंह शर्मा २. बनारसीदास चतुर्वेदी ३. रामवृक्ष बेनीपुरी ४. कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभाकर' ५. आचार्य शिवपूजन सहाय ६. महादेवी वर्मा आदि।

ऊपर जिन लेखकों का हमने नामोल्लेख किया है और जिस विधा के अन्तर्गत किया है उसका आशय यह न समझा जाय कि उन्होंने बस उसी विधा की सीमा में ही लिखा है या उनके अतिरिक्त अन्य गद्य लेखकों ने कोई सराहनीय काम नहीं किया है या कर गए हैं। खड़ीबोली गद्य साहित्य के निर्माण में अनेक प्रतिभाओं का योगदान रहा है। पर उन सभी का महत्वांकन परिशिष्ठ में कर देना असम्भव है। अगले संस्करण में शायद यह काम व्यवस्थित ढंग से किया जा सकेगा। ग्रंथ के लिखने में लेखक की व्यक्तिगत उलझनें भी रही हैं, इसलिये जो एक बार लिख दिया वही आगे प्रस्तुत किया जा सका है।